परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैन महापुराण : कलापरक अध्ययन

लेखक
डॉक्टर कुमुदगिरि

प्रकाशक
पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

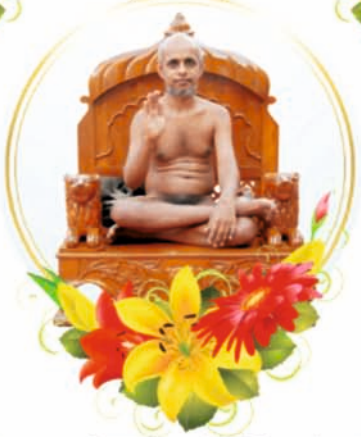

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला ७४

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

2789

जैन महापुराण

कलापरक अध्ययन

सव्वे लोगम्मि सारभूयं

डॉ० कुमुद गिरि

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५
PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṆASĪ-5

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला ७४

सम्पादक–डॉ० सागरमल जैन

जैन महापुराण : कलापरक अध्ययन

लेखिका

डॉ० कुमुद गिरि

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

वाराणसी–२२१००५

१९९५

भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली से प्राप्त आर्थिक सहयोग से प्रकाशित इस ग्रन्थ में व्यक्त विचार, निष्कर्ष एवं तथ्य पूरी तरह से लेखिका के हैं। इनके लिये भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली का कोई दायित्व नहीं है।

प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई० टी० आई० रोड, करौंदी
वाराणसी–२२१००५
दूरभाष ३११४६२

प्रथम संस्करण : १९९५

मूल्य–एक सौ पचास रुपये

© डॉ० (श्रीमती) कुमुद गिरि

JAINA MAHĀPURĀNA : KALĀPARAKA ADHYAYANA
Dr. (Smt.) Kumud Giri
Pārśvanātha Vidyāpitha, Varanasi–221005
Phone : 311462
First Edition 1995
Rs. 150/-

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर, वाराणसी

प्रकाशकीय

यद्यपि जैनधर्म निवृत्तिपरक धर्म है फिर भी जैन आचार्यों ने कला के विकास के क्षेत्र में, विशेष रूप से मंदिर और मूर्ति निर्माण की कला एवं चित्रकला के क्षेत्र में, जो विशिष्ट अवदान दिया है उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। भारतीय कला के क्षेत्र में जैनों का अवदान न केवल परिमाण की अपेक्षा से अपितु अपनी कलाकृतियों की श्रेष्ठता की अपेक्षा से भी अद्वितीय है। मथुरा, देवगढ़, आबू, राणकपुर और जैसलमेर की जैन कला का न केवल भारत में अपितु विश्व में भी कोई शानी नहीं है। जैनधर्मानुयायियों ने न केवल इन महत्त्वपूर्ण कलाकृतियों को साकार रूप प्रदान किया है अपितु कला के सिद्धान्त पक्ष को लेकर भी बहुत कुछ लिखा है। जैनकला के सिद्धान्त पक्ष को लेकर उत्तर-मध्यकाल में अनेक स्वतन्त्र ग्रंथ लिखे गये जैसे—वर्धमानसूरिकृत 'आचारदिनकर', पादलिप्तसूरिकृत 'निर्वाणकलिका', नेमिचंद्रकृत 'प्रतिष्ठातिलक', वसुनन्दिकृत 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' एवं आशाधरकृत 'प्रतिष्ठासारोद्धार' आदि। इन स्वतन्त्र ग्रंथों को रचना के पूर्व भी जैनाचार्यों ने प्रसंगानुसार मंदिर और मूर्तिकला के संदर्भ में पर्याप्त रूप से अपनी लेखनी चलायी। जैन आगमों में स्थानांग और राजप्रश्नीय में 'जिन' मंदिरों की रचना के संदर्भ में विस्तृत उल्लेख पाये जाते हैं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण में जैन-कला के संदर्भ में अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला है। डॉ० (श्रीमती) कुमुद गिरि का जैनकला सम्बन्धी शोधकार्य इसी ग्रंथ पर आधारित है। इस शोधकार्य पर उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पीएच० डी० की उपाधि भी प्राप्त हुई। उन्होंने अपना यह शोध-प्रबन्ध हमारे संस्थान को प्रकाशनार्थ दिया एतदर्थ हम उनके विशेष आभारी हैं।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली की ओर से १२००० रुपये का अनुदान हमें प्राप्त हुआ है जिसके लिये हम परिषद् के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन, प्रूफरीडिंग आदि कार्यों में हमें डॉ० (श्रीमती) कमल गिरि एवं डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी जी से विशेष सहायता

मिली है, एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। इसके प्रूफ संशोधन का तो पूरा कार्य डॉ० कमल गिरि ने ही किया है।

इस ग्रंथ के लिये चित्र हमें 'अमेरिकन इंस्टीट्यूट आफ इंडियन स्टडीज' एवं डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी से प्राप्त हुए हैं जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

संस्थान के निदेशक प्रोफेसर सागरमल जैन, शोधाधिकारी डॉ० अशोककुमार सिंह एवं डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने इसकी प्रकाशन सम्बन्धी समस्त व्यवस्थाओं को पूर्ण किया एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

भवदीय

चैत्रशुक्ला त्रयोदशी सं० २०५२

भूपेन्द्रनाथ जैन

मंत्री

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

उपोद्घात

विगत कुछ वर्षों में जैन धर्म और कला के विविध पक्षों पर विस्तार से कार्य हुए हैं जो विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों के रूप में उपलब्ध हैं। ऐसे कार्यों में कई खण्डों में प्रकाशित जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, जैन रूपमण्डन (यू० पी० शाह) और भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली द्वारा तीन खण्डों में प्रकाशित जैन कला व स्थापत्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ विद्वानों ने जैन ग्रन्थों के आधार पर सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। जैन ग्रन्थों में पुराणों का विशेष महत्त्व है। ब्राह्मण परम्परा के समान ही जैन परम्परा में भी विपुल संख्या में पुराणों की रचना की गयी। श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें चरित या चरित्र ग्रन्थ कहा जाता है। ईसा की लगभग चौथी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य अनेक जैन पुराणों या चरित ग्रन्थों की रचना की गयी, जो ब्राह्मण पुराणों के समान ही भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं। जैन पुराणों में कथाओं के माध्यम से पूर्व परम्परा और समकालीन धार्मिक जीवन के विविध पक्षों को उजागर करने के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और कलापरक विषयों की भी सविस्तर चर्चा की गयी है। ये कथायें और इनमें अभिव्यक्त विवरण समकालीन जीवन और संस्कृति के विविध आयामों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर प्रस्तुत करती हैं जिनकी प्रासंगिकता और विश्वसनीयता इतिहास-सिद्ध है। इतिहासकार और शोधप्रज्ञ को केवल पूर्वपरम्परा एवं समकालीन व्यवहार की शृंखलाओं को समझना और कालक्रमानुसार आबद्ध करना होता है।

पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, महापुराण एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र जैसे जैन ग्रन्थों पर सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हुए हैं, किन्तु उनमें वर्णित कलापरक सामग्री का अध्ययन अपेक्षित विस्तार और समीक्षा की दृष्टि से अभी तक नहीं प्रस्तुत हुआ है। ये पुराण विभिन्न कथाओं के माध्यम से अपने समय की देवमूर्तियों एवं प्रसंगवश उनके लक्षणों, स्थापत्य के विविध रूपों, लोककलाओं के विविध आयामों तथा नृत्य, संगीत, वाद्य आदि से सम्बन्धित

आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अतः व्यवस्थित और समग्र दृष्टि से पुराणों के अध्ययन-विवेचन द्वारा अध्येता कला के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों की यथार्थपरक समीक्षा कर सकता है। साथ ही अन्य साक्ष्यों से उपलब्ध कलाविषयक सामग्री के तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में न केवल जैन वरन् अन्य धर्मों के साथ भी कला के स्तर पर होने वाले सम्पर्क-सामंजस्य को रेखांकित कर सकता है। डॉ० (श्रीमती) कुमुद गिरि की "जैन महापुराण : कलापरक अध्ययन" शीर्षक प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में गम्भीर और सार्थक प्रयास है।

जैनपुराणों में महापुराण निःसन्देह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विस्तृत है जो आदिपुराण एवं उत्तरपुराण इन दो खण्डों में विभाजित है। आदि-पुराण की रचना जिनसेन ने लगभग नवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में और उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र ने नवीं शती ई० के अन्त या १०वीं शती ई० के प्रारम्भ में की थी। दोनों पुराणों को संयुक्त रूप से महापुराण कहा जाता है जिनमें चौबीस तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण सहित कुल ६३ शलाकापुरुषों (श्रेष्ठजनों) के जीवनचरित का विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ है। साथ ही विभिन्न प्रसंगों में यक्षियों, विद्यादेवियों, देवताओं के चार वर्गों, लक्ष्मी, सरस्वती, गंगा, यमुना, इन्द्र, कामदेव एवं लोकपरम्परा वाले देवी-देवताओं के नामोल्लेख तथा कभी-कभी महत्त्वपूर्ण लाक्षणिक विशेष-ताओं की भी चर्चा मिलती है। महापुराण में जैनधर्म एवं परम्परा के मौलिक तत्वों के प्रति रचनाकारों की पूरी आस्था और प्रतिबद्धता के साथ ही उनके उदार एवं व्यापक चिन्तन की दृष्टि भी देखी जा सकती है। यह बात वैदिक और जैन परम्परा के अन्तःसम्बन्धों एवं पारस्परिक समन्वय के रूप में अभिव्यक्त हुई है। ऋषभनाथ के स्तवन तथा अन्य तीर्थंकरों के विशेषणों के सन्दर्भ में अनेकशः शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, इन्द्र और यहाँ तक कि बौद्ध देवों (बुद्ध, सिद्धार्थ, स्वयंबुद्धतथा अक्षोभ्य) के नामों का उल्लेख किया गया है। इनमें सर्वाधिक नाम शिव से सम्बन्धित हैं जिनमें यदा-कदा शिव के लक्षणपरक संकेत भी निहित हैं। इन नामों में शंकर, शिव, महेश्वर, महादेव, विश्वमूर्ति, मृत्युञ्जय, भूत-नाथ, अष्टमूर्ति, हर, वामदेव, सद्योजात, अघोर, ईशान, त्रिनेत्र, त्रिपुरारि, त्रिलोचन, जितमन्मथ, कामारि और अर्द्धनारीश्वर मुख्य हैं। ये नाम न

केवल ऋषभदेव एवं शिव की पौराणिक और आधारभूत एकात्मकता का संकेत देते हैं, वरन् ब्राह्मण परम्परा के साथ पूर्वमध्यकाल में जैनधर्म के सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों को भी उजागर करते हैं।

महापुराण की रचना राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम एवं कृष्ण द्वितीय के शासन काल एवं क्षेत्र में हुई। अतः महापुराण की कलापरक सामग्री का स्पष्टतः समकालीन राष्ट्रकूट कलाकेन्द्र एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र) की जैन गुफाओं (गुफा संख्या ३० से ३४) की मूर्तियों से तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। विदुषी लेखिका ने एलोरा की जैन गुफाओं एवं महापुराण की कलापरक सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन का यथेष्ट प्रयास किया है जिससे प्रस्तुत पुस्तक के महत्त्व एवं प्रासंगिकता में वृद्धि हुई है। एलोरा में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और गहनसाधना के प्रतीक ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली की सर्वाधिक मूर्तियाँ उकेरी हैं जिनके निरूपण में स्पष्टतः महापुराण के विवरणों का प्रभाव परिलक्षित है। प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से चर्चा की गयी है। मुझे प्रसन्नता है कि लेखिका मेरी शोधछात्रा रही हैं। इस महत्त्वपूर्ण गवेषणापरक पुस्तक के लिए मैं उन्हें आशीर्वाद एवं बधाई देता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक सम्बन्धित क्षेत्र में अध्ययन की नूतन सम्भावनाओं की दृष्टि से एक शोधपरक ऐतिहासिक पुस्तक के रूप में उपयोगी सिद्ध होगी।

रामनवमी,
९ अप्रैल १९९५

डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी
रीडर
कला-इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

आभार

प्रस्तुत पुस्तक गुरुजनों, शुभचिन्तकों, मित्रों तथा विभिन्न संस्थाओं की प्रेरणा एवं सहयोग से ही पूर्ण हो सकी है, अतः यहां उन सबके प्रति आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ।

पुस्तक को पूर्णता में कार्य प्रारम्भ से समाप्ति तक सतत उत्साह-वर्धन, परामर्श, संशोधन-परिमार्जन एवं मार्ग दर्शन के लिये मैं गुरुवर डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी, रीडर, कला-इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की चिरऋणी रहूँगी। एलोरा की जैन गुफाओं की मूर्तियों के तुलनात्मक अध्ययन-विवेचन में डॉ० तिवारी की सहायता विशेषतः उल्लेखनीय है। पुस्तक का उपोद्घात लिखकर उन्होंने विशेष कृपा की है जो मेरे लिए उनका आशीर्वाद है।

मैं उन सभी आचार्यों एवं लेखकों की भी आभारी हूँ जिनकी कृतियों से मुझे प्रस्तुत पुस्तक को पूरा करने में सहायता मिली है, इस सन्दर्भ में कला-इतिहास विभाग के सभी गुरुजनों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी प्रेरणा एवं परामर्श मेरे कार्य को निरन्तर गति देते रहे हैं।

ग्रन्थ के प्रकाशन के निमित्त वित्तीय सहयोग के लिये मैं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली की आभारी हूँ। ग्रन्थ प्रकाशनार्थ पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वर्तमान नाम पार्श्वनाथ विद्यापीठ को धन्यवाद देती हूँ। संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन की तत्परता से पुस्तक के प्रकाशन को विशेष गति मिली है, एतदर्थ मैं उनके प्रति आभार प्रकट करती हूँ। वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी भी धन्यवाद का पात्र है जिसने पाठ और चित्रों का मुद्रण कार्य सुरुचिपूर्ण ढंग से सम्पन्न किया। चित्रों की व्यवस्था के लिये मैं अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज, वाराणसी तथा गुरुवर डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी, रीडर, कला-इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विशेष रूप से आभारी हूँ।

यह पुस्तक मुख्यतः जैन कला और इतिहास के जिज्ञासु पाठकों के लिये तैयार की गई है किन्तु विश्वास है कि शोध की दृष्टि से भी पुस्तक का उपयोग होगा। विश्वास है कि सुधी पाठक पुस्तक की त्रुटियों को ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने को कृपा करेंगे, जिससे भविष्य में पुस्तक में समुचित संशोधन और परिमार्जन में सहयोग मिलेगा।

'दमाधाम', सूर्यकुण्ड, वाराणसी — कुमुद गिरि

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रकाशकीय	iii
उपोद्घात	v
आभार	viii
संकेत–सूची	xii

प्रथम अध्याय : पूर्वपीठिका १–३३

महापुराण की विषय वस्तु ९, महापुराण के रचनाकार एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–गुरु परम्परा १८, स्थान विचार १९, काल विचार १९, जिनसेन एवं गुणभद्र की रचनायें २१, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–राजनीतिक २२, धार्मिक २४, सामाजिक २६।

द्वितीय अध्याय : जैन देवकुल ३४–५७

प्रारम्भिक काल ३४, शलाकापुरुष ३५, कृष्ण–बलराम ३७, लक्ष्मी ३७, सरस्वती ३७, इन्द्र ३८, नैगमेषी ३८, यक्ष ३९, विद्यादेवियाँ ३९, लोकपाल ४१, अन्य देवता ४१, परवर्ती काल ४२, यक्ष-यक्षी ४३, विद्यादेवियाँ ४४, राम और कृष्ण ४५, भरत व बाहुबली ४६, जिनों के माता-पिता ४६, दिक्पाल ४७, नवग्रह ४७, क्षेत्रपाल ४८, ६४ योगिनियाँ ४८, गणेश ४८, ब्रह्मशान्ति यक्ष ४८, कपर्दी यक्ष ४९।

तृतीय अध्याय : तीर्थंकर (जिन) ५८–११८

तीर्थंकर-चैत्यवृक्ष ६१, ऋषभनाथ (या आदिनाथ) ६५, अजितनाथ ७२, सम्भवनाथ ७५, अभिनन्दन ७६, सुमतिनाथ ७७, पद्मप्रभ ७८, सुपार्श्वनाथ ७९ चन्द्रप्रभस्वामी ८०, सुविधिनाथ (या पुष्पदन्त) ८१, शीतलनाथ ८२, श्रेयांसनाथ ८३, वासुपूज्य ८४, विमलनाथ ८५, अनन्तनाथ ८६, धर्मनाथ ८६, शान्तिनाथ ८७, कुन्थुनाथ ८९, अरनाथ ९०,

मल्लिनाथ ९१, मुनिसुव्रत ९२, नमिनाथ ९३, नेमिनाथ (या अरिष्टनेमि) ९४, पार्श्वनाथ ९६, महावीर १०२, पूर्वकालीन (अतीत) तीर्थंकरों की सूची १०७, पश्चात्कालीन (भविष्य के) उत्सर्पिणी युग के २४ तीर्थंकर १०८।

चतुर्थ अध्याय : शलाकापुरुष ११९–१४६

चक्रवर्ती ११९, भरत चक्रवर्ती ११९, सगर चक्रवर्ती १२२, मघवा चक्रवर्ती १२३, सनत्कुमार चक्रवर्ती १२३, सुभौम चक्रवर्ती १२४, पद्म चक्रवर्ती १२४, हरिषेण चक्रवर्ती १२५, जयसेन चक्रवर्ती १२५, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती १२६, बलभद्र या बलदेव १२६, नारायण या वासुदेव १२७, प्रतिनारायण या प्रतिवासुदेव १२७, विजय, त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव १२८, अचल, द्विपृष्ठ और तारक १२९, धर्म, स्वयम्भू और मधु १३०, सुप्रभ, पुरुषोत्तम एवं मधुसूदन १३०, सुदर्शन, पुरुषसिंह व मधुक्रीड १३१, नन्दिषेण, पुण्डरीक और निशुम्भ १३१, नन्दिमित्र, दत्त और बलीन्द्र १३२, राम (पद्म), लक्ष्मण (नारायण) और रावण १३२, पद्म (या बलराम), कृष्ण और जरासन्ध १३७।

पंचम अध्याय : यक्ष-यक्षी एवं विद्या देवी १४७–१६४

२४ यक्ष १५०, २४ यक्षियाँ १५०, गुजरात-राजस्थान १५२, उत्तर प्रदेश-मध्य प्रदेश १५२, बिहार-उड़ीसा-बंगाल १५३, चक्रेश्वरी १५३, अम्बिका १५४, पद्मावती १५५, कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष १५६, विद्यादेवियाँ १५७।

षष्ठ अध्याय : अन्य देवी-देवता १६५–१८९

भवनवासी देव १६५, भवनवासी देव दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार १६६, व्यन्तर देव १६६, ज्योतिष्क देव १६८, वैमानिक देव १६८, लोक एवं ब्राह्मण परंपरा के देवी-देवता १६८, इन्द्र १६९, रुद्र १७१, शिव १७१, नारद १७२,

कुबेर १७३, कामदेव १७४, वामनदेव १७५, लक्ष्मी १७६, सरस्वती १७७, ह्रद देवियाँ १७७, गंगा व सिन्धु देवी १७८, दिक्कुमारी १७८, नागपूजा १७९, गोम्मटेश्वर बाहुबली १७९।

सप्तम अध्याय : स्थापत्य : मन्दिर, समवसरण, राजप्रासाद एवं सामान्य भवन १९०–२१०

जैन मन्दिर १९१, समवसरण १९७, भवनों के प्रमुख अंग २०३, भवन के प्रकार और स्वरूप २०४।

अष्टम अध्याय : सांस्कृतिक जीवन २११–२५३

आभूषण २१२, आभूषण निर्माण के उपादान २१३, आभूषणों के प्रकार २१४, शिरोभूषण २१४, कर्णाभूषण २१५, कण्ठाभूषण २१६, कराभूषण २२०, कटिआभूषण २२१, पादाभूषण २२२, वस्त्र २२३, वस्त्र के विभिन्न प्रकार एवं स्वरूप २२४, केशसज्जा २२८, प्रसाधन २३०, संगीत २३३, नृत्य २३७, दैनिक उपयोग के पात्र आदि २४०।

उपसंहार २५४

परिशिष्ट—जैन महापुराण पोथीचित्र २६७

सन्दर्भ-सूची २७०

चित्र-सूची २८२

शब्दानुक्रमणिका २८६

शुद्धिपत्र २९४

संकेत-सूची

आ० स० इ० ऐ० रि०	: आर्किअलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया-एनुअल रिपोर्ट
एपि० इण्डि०	: इपिग्राफिया इण्डिका
का० इ० इं०	: कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम
ज० इं० सो० आ० ओ०	: जर्नल ऑव दि इण्डियन सोसाइटी ऑव ओरियण्टल आर्ट (कलकत्ता)
ज० ओ० इं०	: जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टिच्यूट ऑव बड़ौदा
ज० यू० बां०	: जर्नल ऑव दि यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे
जै० क० स्था०	: जैन कला एवं स्थापत्य (३ खण्ड, सं० अमलानंद घोष, भारतीय ज्ञानपीठ)
दि०	: दिगम्बर
पा० टि०	: पाद-टिप्पणी
पू० नि०	: पूर्व निर्दिष्ट
पु० मु०	: पुनर्मुद्रित
म० जै० वि० गो० जु० वा०	: महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम, बंबई (भाग १, सं० ए० एन० उपाध्ये आदि)
श्वे०	: श्वेताम्बर
सं० पु० प०	: संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका, लखनऊ।

●

प्रथम अध्याय

पूर्वपीठिका

२४ तीर्थंकरों या जिनों की कल्पना जैनधर्म की धुरी है जिन्हें देवाधिदेव भी कहा गया है। वीतरागी जिनों को गहन साधना और त्याग की प्रतिमूर्ति माना गया है। जैन मान्यता के अनुसार कालचक्र के प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी युगों में २४ जिन हुए जिनके उपदेशों (धर्मदेशना) को जिनवाणी कहा गया है। जिनवाणी और तद्नुरूप जैन साहित्य के भी कथा, गणित, दर्शन और चारित्र्य सम्बन्धी साहित्य के रूप में चार विभाग किये गये हैं। इन विभागों में कथा साहित्य को सर्वाधिक महत्व दिया गया है क्योंकि विभिन्न कथाओं के माध्यम से सामान्य जनता में धर्म को सरलता से और विस्तृत पैमाने पर स्वीकृत और लोकप्रिय बनाया जा सकता था। यह सर्वथा निर्विवाद है कि कथा किसी भी बात को रोचक बनाने और सरलता से लोकमानस को स्वीकृत पाने का सामर्थ्य रखती है। जैनपुराण साहित्य वस्तुतः कथा साहित्य या कथानुयोग का एक प्रमुख अंग है।[1] आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन ने आदिपुराण में स्पष्ट उल्लेख किया है कि जो प्राचीन था वही पुराण है 'पुरातनं पुराणं स्यात्'।

पुराणों की रचना ब्राह्मण एवं जैन दोनों धर्मों में प्रचुर संख्या में की गयी। ये पुराण वस्तुतः भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं जिनमें विभिन्न कथाओं के माध्यम से धार्मिक जीवन के विविध पक्षों के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलापरक विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा मिलती है। श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे ग्रन्थों को चरित या चरित्र तथा दिगम्बर परम्परा में पुराण कहा गया है। लगभग पाँचवीं शती ई० से १०वीं शती ई० के मध्य विभिन्न प्रारम्भिक जैन-पुराणों की रचना की गयी जिनमें प्राकृत पउमचरिय (विमलसूरिकृत–४७३ ई०), पद्मपुराण (रविषेणकृत–६७८ ई०), हरिवंशपुराण (जिन-सेनकृत–७८३ ई०), संस्कृत महापुराण (जिनसेन एवं गुणभद्रकृत–९वीं-१०वीं शती ई०) तथा अपभ्रंश महापुराण (पुष्पदन्तकृत–ल० ९६० ई०) विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

प्रारम्भिक जैनपुराणों में लोकमानस में प्रतिष्ठित राम और कृष्ण से सम्बन्धित रामायण और महाभारत जैसे ब्राह्मण महाकाव्यों के अनु-

करण पर पउमचरिय एवं पद्मपुराण (रामचरित) तथा हरिवंशपुराण (कृष्णचरित) की रचना की गयी। इन पुराणों के बाद २४ जिनों एवं अन्य शलाकापुरुषों से सम्बन्धित महापुराणों या चरितग्रन्थों की रचना हुई। जैन पुराणों में महापुराण सर्वाधिक लोकप्रिय और विशद् था। महापुराण आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो भागों में विभक्त है। आदिपुराण की रचना जिनसेन ने लगभग नवीं शती ई० के मध्य और उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र ने ९वीं शती ई० के अन्त या १०वीं शती ई० के प्रारम्भ में की।[२] महापुराण में जैन देवकुल के २४ तीर्थंकरों तथा १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण सहित कुल तिरसठ शलाकापुरुषों (श्रेष्ठजनों) के जीवन चरित को विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।[३] सामान्य धारणा के अनुसार जिस ग्रन्थ में किसी एक शलाकापुरुष का वर्णन होगा वह पुराण और जिसमें अनेक शलाकापुरुषों का उल्लेख होगा वह महापुराण कहा जाएगा।

विद्वानों द्वारा किसी विशेष जैन पुराण या पुराणों के आधार पर सांस्कृतिक अध्ययन से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये हैं किन्तु अभी तक किसी चरित या पुराण साहित्य के आधार पर कलापरक अध्ययन का कोई समुचित प्रयास नहीं किया गया है। जैन ग्रन्थों में सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों के साथ ही कलापरक सामग्री भी प्रभूत परिमाण में मिलती है जिनका जैन मूर्तिकला एवं स्थापत्य के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है, क्योंकि इन ग्रन्थों के आधार पर ही तीर्थंकरों एवं जैन देवकुल के अन्य देवों का मूल स्वरूप निर्धारित हुआ और उन्हें मूर्त अभिव्यक्ति मिली। कलापरक अध्ययन की दृष्टि से आदिपुराण एवं उत्तरपुराण अर्थात् महापुराण (दिगम्बर परम्परा) की सामग्री का विशेष महत्त्व है क्योंकि उनका रचनाकाल (९वीं-१०वीं शती ई०) तीर्थंकरों सहित अन्य शलाकापुरुषों तथा जैन देवों के स्वरूप या लक्षण निर्धारण का काल था। इन ग्रन्थों की रचना के बाद ही श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में निर्वाणकलिका (पादलिप्तसूरिकृत–ल० १०वीं-११वीं शती ई०), मन्त्राधिराजकल्प (सागरचन्द्रसूरिकृत–१२वीं-१३वीं शती ई०), प्रतिष्ठासारसंग्रह (वसुनन्दिकृत–ल० १२वीं शती ई०), प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधरकृत–१२२८ ई०), आचारदिनकर (वर्धमानसूरिकृत–१४१२ ई०) एवं प्रतिष्ठातिलकम् (नेमिचन्द्रकृत–१५४३ ई०) जैसे शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें जैन आराध्यदेवों के प्रतिमालक्षण का विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ।

महापुराण में २४ तीर्थंकरों के जीवन चरित के विस्तृत उल्लेख के सन्दर्भ में नेमिनाथ द्वारा विवाह पूर्व दीक्षा लेने तथा पार्श्वनाथ एवं महावीर की तपश्चर्या के समय उपस्थित किये गये उपसर्गों का विस्तृत उल्लेख हुआ है जिनके आधार पर विभिन्न स्थलों पर इन कथा प्रसंगों का विस्तृत अंकन किया गया। ऋषभनाथ के पुत्र भरत और बाहुबली के मध्य हुए द्वन्द्व-युद्ध तथा युद्ध में विजयी होने के बाद बाहुबली द्वारा दीक्षा लेने और कठिन साधना और तपश्चर्या द्वारा केवल-ज्ञान प्राप्त करने तथा कठिन साधना के कारण ही तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उल्लेख और उनके आधार पर मथुरा, देवगढ़, खजुराहो एवं एलोरा में बाहुबली की विपुल मूर्तियों का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। इन मूर्तियों में बाहुबली के शरीर से लिपटी लता-वल्लरि के अतिरिक्त वृश्चिक, छिपकली, सर्प एवं मृग जैसे जीव-जन्तु भी शरीर पर दिखाये गये हैं और तीर्थंकर मूर्तियों के समान उनके अष्ट-प्रातिहार्यों एवं कुछ उदाहरणों (देवगढ़, खजुराहो) में शासन-देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षी युगल का भी उत्कीर्णन हुआ है।

महापुराण में आये विद्यादेवी के उल्लेख भी कालान्तर में उनके शिल्पांकन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। रामकथा एवं नेमिनाथ के साथ चचेरे भ्राताओं के रूप में बलराम और कृष्ण के उल्लेख ने खजुराहो (पार्श्वनाथ मन्दिर), देवगढ़ (मन्दिर २ एवं मन्दिर १२ की चहारदीवारी) तथा मथुरा में राम एवं नेमिनाथ के साथ बलराम-कृष्ण के निरूपण का आधार प्रस्तुत किया। जिनों के जन्म के पूर्व उनकी माताओं ने १६ मांगलिक स्वप्नों का दर्शन किया था जिनका खजुराहो एवं देवगढ़ के दिगम्बर मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर पारम्परिक क्रम में अंकन हुआ है।

महापुराण में सरस्वती एवं लक्ष्मी के अतिरिक्त लोक परम्परा में मान्य श्री, धृति, बुद्धि, कीर्ति जैसी देवियों के उल्लेख भी महत्वपूर्ण हैं। साथ ही ब्राह्मण परम्परा के कई अन्य देवों की चर्चा, विशेषतः तीर्थंकर ऋषभनाथ के १००८ नामों से स्तवन के सन्दर्भ में शिव, ब्रह्मा एवं विष्णु के अनेक नामों के उल्लेख धार्मिक सामंजस्य की दृष्टि से अतीव महत्त्व के हैं। इन नामों में स्वयंभू, शम्भू, शंकर, जगन्नाथ, सद्योजात, लक्ष्मीपति, त्रिनेत्र, जितमन्मथ, त्रिपुरारि, त्रिलोचन, धाता, ब्रह्मा, शिव, ईशान, हिरण्यगर्भ, विश्वमूर्ति, भूतनाथ, विधाता, मृत्युंजय, पितामह, महेश्वर,

महादेव, कामारि एवं चतुरानन मुख्य हैं।[४] साथ ही इन्द्र (महेन्द्र, सहस्राक्ष), सूर्य (आदित्य), कुबेर, वामन देव, राम, कृष्ण, इन्द्राणी एवं विन्ध्यवासिनी देवी के नामोल्लेख भी उल्लेखनीय हैं।[५] बौद्ध देवकुल से सम्बन्धित बुद्ध, सिद्धार्थ, स्वयंबुद्ध तथा अक्षोभ्य जैसे नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। भगीरथ और गंगा तथा शिव के स्थान पर इन्द्र के ताण्डव नृत्य के सन्दर्भ भी ब्राह्मण परम्परा के अनुकरण की दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इसी प्रकार सोलह संस्कारों तथा वर्णों की चर्चा सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में महापुराण की सामग्री के अवगाहन और अध्ययन के आधार पर उसमें उपलब्ध कलापरक सामग्री का विस्तृत उल्लेख हुआ है। साथ ही पूर्ववर्ती (पउमचरिय, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण) एवं समकालीन तथा परवर्ती दिगम्बर ग्रन्थों की सामग्री से उसकी तुलना करने का भी प्रयास किया गया है जिससे महापुराण की कलापरक सामग्री का महत्त्व पूरी तरह स्पष्ट हो सके। आवश्यकतानुसार तिरसठ शलाकापुरुषों से सम्बन्धित श्वेताम्बर परम्परा के चरित ग्रन्थों (त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र—हेमचन्द्रकृत—१२वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध) से भी महापुराण की कलापरक सामग्री की तुलना की गयी है जिससे दोनों परम्पराओं में विभिन्न सन्दर्भों में मिलने वाली समानता और अन्तर स्पष्ट हो सकें। इस तुलना से ही यह स्पष्ट हुआ कि दिगम्बर परम्परा में मल्लिनाथ को नारी तीर्थंकर नहीं बताया गया है और बाहुबली कैवल्य प्राप्ति के पूर्व उनके समीप उनकी बहनों—ब्राह्मी एवं सुन्दरी के स्थान पर विद्याधरियाँ आयी थीं। इन्हीं विद्याधरियों ने उनके शरीर से लिपटी लता-वल्लरियों को हटाया था।[६] महापुराण के उपर्युक्त सन्दर्भ की पृष्ठभूमि में ही बादामी, अयहोल, एलोरा, देवगढ़ एवं खजुराहो जैसे दिगम्बर स्थलों की बाहुबली की मूर्तियों में दोनों पार्श्वों में बाहुबली के शरीर से लिपटी लता-वल्लरियों को हटाती हुई विद्याधरियों की आकृतियाँ भी उकेरी हैं।[७]

महापुराण की रचना राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष–प्रथम एवं कृष्ण–द्वितीय के शासनकाल और क्षेत्र में हुई थी, अतः उसकी कलापरक सामग्री का राष्ट्रकूट कला केन्द्र एलोरा की जैन गुफाओं (सं० ३०-३४) की मूर्तियों की शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। ज्ञातव्य है कि महापुराण एवं एलोरा की जैन गुफायें

समकालीन (९वीं-१०वीं शती) और दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध हैं। अतः महापुराण की कलापरक सामग्री के एलोरा की जैन गुफाओं की मूर्तियों से तुलना का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। एलोरा की मूर्तियों में बाहुबली की कठिन साधना के प्रसंग में उनके शरीर से माधवी का लिपटना एवं सर्प, वृश्चिक, छिपकली तथा मृग जैसे जीव-जन्तुओं का शरीर पर या समीप विचरण करते हुए और पार्श्वनाथ की मूर्तियों में शम्बर (कमठ या मेघमाली) के विस्तृत उपसर्गों के उकेरन स्पष्टतः महापुराण के उल्लेखों से निर्दिष्ट हैं।

ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्मों तथा कला की तुलना में जैनधर्म और कला पर कुछ वर्षों पूर्व तक निःसन्देह बहुत कम कार्य हुआ था, जबकि जैन साहित्य और कला ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य और कला के समान ही समृद्ध है। जैन धर्म और साहित्य पर प्रारम्भिक किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य जी० ब्यूहलर (ऑन दि इण्डियन सेक्ट ऑफ दि जैनज, १९०३), एस० स्टीवेन्सन (दि हार्ट ऑफ दि जैनिज़म, १९१५), ए० डी० पुसालकर (दि एज़ ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, १९५१, दि क्लासिकल एज़, १९५४, दि एज़ ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, १९५५ एवं दि स्ट्रगल फार अम्पायर, १९५७), नाथूराम प्रेमी (जैन साहित्य और इतिहास, १९५६), एम० विन्टरनिटज़ (ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, खण्ड–२), हीरालाल जैन (भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, १९६२), कैलाशचन्द्र शास्त्री (जैन साहित्य का इतिहास, १९६३), ज्योतिप्रसाद जैन (दि जैन सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियन्ट इण्डिया, १९६४) और बेचरदास दोशी (जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, १९६६) के हैं। इन प्रारम्भिक ग्रन्थों में विद्वानों ने विभिन्न श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों की विषय सामग्री और उनके आधार पर जैन धर्म और संस्कृति के विविध पक्षों की व्याख्या का प्रयास किया है। इन्हीं प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय ज्ञानपीठ तथा अहमदाबाद, शान्तिनिकेतन, शोलापुर, बम्बई, बड़ौदा के विभिन्न जैन तथा भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित समितियों एवं संगठनों ने अनेक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों के अनुवाद सहित प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय ज्ञानपीठ ने पद्मपुराण, हरिवंश-पुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण तथा बड़ौदा के गायकवाड़ ओरियन्टल संस्थान ने छः खण्डों में त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र का हेलेन एम० जॉनसन द्वारा किया गया अनुवाद प्रकाशित किया। शान्तिनिकेतन से सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत जिनविजयमुनि द्वारा सम्पादित

प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि एवं विविधतीर्थकल्प जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों के व्याख्या-अनुवाद सहित प्रकाशन के फलस्वरूप जैन धर्म और संस्कृति तथा कला के महत्त्व और विस्तार की जानकारी बढ़ी और विद्वानों को इन विषयों पर आगे शोध के लिये आकृष्ट करने लगी। इसके बाद विभिन्न क्षेत्रों में किसी एक तीर्थंकर या महापुरुष (शलाकापुरुष) से सम्बन्धित पुराण या तिरसठ शलाकापुरुषों से सम्बन्धित महापुराणों एवं चरितग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। साथ ही जैन कला और प्रतिमालक्षण की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण श्वेताम्बर और दिगम्बर शिल्पशास्त्रों या प्रतिष्ठाग्रन्थों का भी प्रकाशन हुआ जिनसे जैन स्थापत्य एवं मूर्तिकला के अध्ययन का विस्तार हुआ। इन ग्रन्थों में विभिन्न प्रसंगों में या सीधे तीर्थंकर मूर्तियों की विशेषताओं, अष्टप्रातिहार्यों, २४ तीर्थंकरों के लांछनों एवं शासन देवताओं (यक्ष-यक्षी) तथा महाविद्याओं (विद्यादेवी) और नवग्रहों, अष्टदिक्पालों, गणेश, ब्रह्मशान्ति यक्ष, लक्ष्मी, सरस्वती, राम, कृष्ण, इन्द्र, ब्रह्मशान्ति एवं कपर्दि यक्ष एवं अन्य कई सहायक जैन देवी-देवताओं के नामोल्लेख तथा लक्षणपरक उल्लेख मिलते हैं। ऐसे ग्रन्थों में बप्पभट्टिसूरि की चतुर्विंशतिका (८वीं शती ई०), शोभनमुनि की स्तुतिचतुर्विंशतिका (ल० ९७३ ई०), विवेच्य ग्रन्थ आदिपुराण और उत्तरपुराण (९वीं-१०वीं शती ई०), हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (१२वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध), पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका (ल० १०वीं-११वीं शती ई०), वसुनन्दीकृत प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२वीं शती ई०), आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार (१२२८ ई०), वर्धमानसूरि कृत आचारदिनकर (१४१२ ई०) एवं नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठातिलकम (१५४३ ई०) मुख्य हैं। जैन प्रतिष्ठा ग्रन्थों के अतिरिक्त अपराजितपृच्छा (१३वीं शती ई०), रूपमण्डन एवं देवतामूर्तिप्रकरण (१५वीं-१६वीं शती ई०) जैसे जैनेतर ग्रन्थों में भी जैन प्रतिमालक्षण से सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

विभिन्न कथापरक पुराण एवं चरित ग्रन्थों, शिल्पशास्त्रों और विभिन्न पुरास्थलों के आधार पर २०वीं शती ई० के प्रारम्भ से ही विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये हैं जिनमें विन्सेंट स्मिथ (दि जैन स्तूप ऐण्ड अदर ऐन्टिक्वीटीज़ ऐट मथुरा), जी० ब्यूहलर, डी० आर० भण्डारकर (दि टेम्पुल्स ऑफ ओसियाँ एवं जैन

आइकनोग्राफी–१९०५-०९), आर० पी० चन्दा (जैन रीमेन्स ऐट राजगीर, १९२५-२६), एच० एम० जॉनसन (श्वेताम्बर जैन आइकनोग्राफी), टी० एन० रामचन्द्रन (तिरुपरुतिकुणरम ऐण्ड इट्स टेम्पुल्स–१९२४, जैन मान्युमेण्ट्स ऐण्ड प्लेसेज ऑव फर्स्ट क्लास इम्पार्टेन्स–१९४४), बी० सी० भट्टाचार्य (जैन आइकनोग्राफी, १९३९), एच० डी० सांकलिया (जैन आइकनोग्राफी–१९३९-४०, जैन यक्षज ऐण्ड यक्षिणीज, जैन मान्युमेण्ट्स फ्राम देवगढ़–१९४१), के० डी० बाजपेयी, आर० सी० अग्रवाल, देवला मित्रा (शासनदेवीज़ इन खण्डगिरि केव्स), वी० एस० अग्रवाल (केटलाग ऑव दि मथुरा म्यूज़ियम, मथुरा, आयागपटज़, ए नोट ऑन दि गॉड नैगमेषी–१९४७), क्लाजब्रुन (दि जिन इमेजेज़ ऑव देवगढ़–१९६९), बालचन्द्र जैन (जैन प्रतिमाविज्ञान–१९७४), आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन (अजन्ता, एलोरा ऐण्ड औरंगाबाद केव्स–१९६२, आइकनोग्राफी ऑव दि हिन्दूज बुद्धिस्ट ऐण्ड दि जैन्स–१९७२) तथा बी० एन० शर्मा (जैन प्रतिमाएँ–१९७९) आदि के कार्य उल्लेखनीय हैं।

जैन कला के विभिन्न पक्षों पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यू० पी० शाह और मारुतिनन्दन तिवारी ने किये हैं। शाह ने कई पुस्तकों (स्टडीज़ इन जैन आर्ट–१९५५; अकोटा ब्रोन्जेज़–१९५९; जैन रूपमण्डन–१९८७) के अतिरिक्त १६ महाविद्याओं, जैन यक्षी चक्रेश्वरी, पद्मावती तथा बाहुबली, सरस्वती, अम्बिका, नैगमेषी, उपदेवताओं, ब्रह्मशान्ति यक्ष आदि पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख भी प्रकाशित किये हैं। इसी प्रकार मारुतिनन्दन तिवारी ने भी चार पुस्तकों (जैन प्रतिमाविज्ञान–१९८१; एलिमेण्ट्स ऑव जैन आइकनोग्राफी–१९८३; खजुराहो का जैन पुरातत्व–१९८७; अम्बिका इन जैन आर्ट ऐण्ड लिटरेचर–१९८९) के अतिरिक्त खजुराहो, देवगढ़, एलोरा, कुम्भारिया, देलवाड़ा, मथुरा, राजगिर आदि स्थलों की जिन, यक्ष-यक्षी, महाविद्या, बाहुबली, सरस्वती, भरत चक्रवर्ती, अष्ट-दिक्पाल, ब्रह्मशान्ति यक्ष एवं वैष्णव मूर्तियों पर कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे हैं। इन दोनों विद्वानों ने साहित्यिक एवं प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर विभिन्न देवस्वरूपों के विकास को निरूपित किया है और विभिन्न पुरास्थलों की सामग्री से उनकी यथेष्ट विवेचनात्मक तुलना भी की है। इस प्रकार उनके कार्यों में जैन देव मूर्तियों का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत हुआ है। डब्ल्यू नार्मन

ब्राउन, ए० के० कुमारस्वामी, मोतीचन्द्र एवं सरयू दोषी ने जैन चित्रों का अध्ययन किया है।

जैन स्थापत्य एवं विभिन्न क्षेत्रों के जैन मन्दिरों पर भी कई विद्वानों ने बृहत् कार्य किये हैं जिनमें देलवाड़ा, कुम्भारिया, खजुराहो, ग्यारसपुर, देवगढ़, एलोरा एवं उड़ीसा पर मुनि श्री जयन्तविजय (होली आबू–१९५४), एम० ए० ढाकी (सम अर्ली जैन टेम्पुल्स इन वेस्टर्न इण्डिया–१९६८), कृष्णदेव (दि टेम्पुल्स ऑव खजुराहो इन सेन्ट्रल इण्डिया–१९५९, मालादेवी टेम्पुल्स, ऐट ग्यारसपुर–१९६८), आर० एस० गुप्ते और बी० डी० महाजन (अजन्ता, एलोरा ऐण्ड औरंगाबाद केव्स–१९६२), कांतिलाल फूलचन्द सोमपुरा (दि स्ट्रक्चरल टेम्पुल्स ऑव गुजरात–१९६८) एवं हरिहर सिंह (जैन टेम्पुल्स ऑव वेस्टर्न इण्डिया–१९८२) के कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वर्ष १९७५ में भारतीय ज्ञानपीठ ने अमलानन्द घोष के सम्पादकत्व में जैन कला एवं स्थापत्य के विभिन्न पक्षों पर अनेक विद्वानों द्वारा लिखे लेखों को तीन खण्डों में हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित किया है जो निःसन्देह अब तक का सर्वाधिक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण कार्य है।

विभिन्न कलापरक अध्ययन के साथ ही विद्वानों ने उत्तर एवं दक्षिण भारत तथा राजस्थान, बिहार, उड़ीसा में जैन धर्म के विकास पर भी कार्य किया जिनमें सी० जे० शाह (जैनिज़म इन नार्थ इण्डिया–१९३२), पी० बी० देसाई (जैनिज़म इन साऊथ इण्डिया ऐण्ड सम जैन एपिग्राफ्स–१९६३), पी० सी० राय चौधरी (जैनिज़म इन बिहार–१९५६), के० सी० जैन (जैनिज़म इन राजस्थान–१९६३) एवं हस्तीमल (जैन धर्म का मौलिक इतिहास–१९७१) के कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

विभिन्न क्षेत्रों के जैन अभिलेखों और उनमें प्राप्त कलापरक सूचनाओं पर जी० ब्यूहलर (जैन इंस्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा–एपिग्राफिया इण्डिका–१८९२), बी० एस० अग्रवाल (सम आइकनोग्राफिक टर्म्स फ्राम जैन इंस्क्रिप्शन्स–१९३९-४०), पी० सी० नाहर (जैन इंस्क्रिप्शन्स-१९१८), विजयमूर्ति (जैन शिलालेख संग्रह–१९५२), एवं गुलाबचन्द्र चौधरी (पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज–१९६३) जैसे विद्वानों के कार्य उल्लेखनीय हैं।

वाराणसी के पार्श्वनाथ जैन शोध संस्थान ने कई खण्डों में जैन साहित्य का इतिहास प्रकाशित कर जैन अध्ययन को आगे बढ़ाने का आधार दिया है। साथ ही हरिवंशपुराण, यशस्तिलक, समराइच्चकहा, भगवतीसूत्र, आदिपुराण, उत्तरपुराण, रायपसेणिय, त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र जैसे जैन ग्रन्थों के आधार पर सांस्कृतिक इतिहास लेखन के कई महनीय प्रयास जे० सी० सिक्दर (भगवतीसूत्र), गोकुलचन्द्र जैन (यशस्तिलक–१९६७), मंजु शर्मा (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र–अप्रकाशित), प्रेमचन्द जैन (हरिवंशपुराण), नेमिचन्द्र शास्त्री (आदिपुराण), रमेशचन्द्र शर्मा (रायपसेणिय), झिनकू यादव (समराइच्चकहा), सिद्धनाथ झा (आदिपुराण) एवं देवी प्रसाद मिश्र (जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन–१९८८) द्वारा किये गये हैं, किन्तु जैन महापुराण या श्वेताम्बर परम्परा के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र जैसे ग्रन्थों की कलापरक सामग्री पर अद्यतन कोई कार्य नहीं हुआ है जबकि प्रारम्भिक पृष्ठों के उल्लेखों से यह सर्वदा स्पष्ट है कि एलोरा एवं अन्य दिगम्बर स्थलों पर होने वाले शिल्पांकन में विषयवस्तु एवं लक्षण दोनों ही दृष्टियों से जिनसेन के आदिपुराण एवं गुणभद्र के उत्तरपुराण की आधारभूत भूमिका रही है। इसी प्रकार हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र का पश्चिम भारत के श्वेताम्बर स्थलों—देलवाड़ा, (विमल-वसही, लूणवसही), कुम्भारिया, तारंगा, सादड़ी, घणेराव की मूर्तियों के उकेरन में अहम् भूमिका रही है।

महापुराण की विषय वस्तु :

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात्।
महभ्दिरुपदिष्टवात्महाश्रेयोऽनुशासनात् ॥
महापुरुषसम्बन्धि महाभ्युदयशासनम्।
महापुराणमान्नातमत एतन्महर्षिभिः ॥[८]

महापुराण में महापुरुषों का वर्णन किया गया है। इसका अध्ययन महान् अभ्युदय स्वर्ग-मोक्षादि कल्याणों का कारण है इसी कारण महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं।

महापुराण की उपर्युक्त परिभाषा स्वयं इसके कर्त्ता जिनसेन ने आदिपुराण के प्रथम पर्व में दी है। जिनसेन ने आगे यह भी लिखा है—कि ऋषि-प्रणीत होने के कारण महापुराण 'आर्ष', सुन्दर भाषा में वर्णित होने के कारण 'सूक्त' तथा धर्मोपदेश से संबंधित होने के कारण 'धर्म-

शास्त्र भी माना गया है।[९] 'इति इह आसीत' यहाँ ऐसा हुआ ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने के कारण ऋषिगण ने इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त', और 'ऐतिह्य' भी कहा है।[१०] जिनसेन ने आदिपुराण के विषयवस्तु के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि देवगुरु शास्त्र के स्तवनों द्वारा मंगलरूप सत्क्रिया को करके मैं तिरसठ शलाका पुरुषों से संबंधित पुराण का संग्रह करूँगा तथा तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और उनके शत्रुओं—प्रतिनारायणों का भी पुराण कहूँगा।[११]

जिनसेन द्वारा दी गयी महापुराण की परिभाषा और उसकी विषय-वस्तु से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण के नायक वे ही महापुरुष हो सकते हैं जिनके चरित्र पूर्वपरम्परानुसार लोकप्रसिद्ध हैं तथा जिनके द्वारा लोकजीवन का उत्कर्ष तथा अभ्युदय सम्भव है।[१२] इस प्रकार 'त्रिषष्टि-लक्षण-महापुराण संग्रह' अपरनाम महापुराण प्राचीन काल का एक महान आख्यान है। महापुराण जैन पुराणशास्त्रों में मुकुट-मणि रूप तथा आगे के जैन साहित्य के लिये आधार स्वरूप है। यह एक पौराणिक महा-काव्य है और इसके अनेक खण्ड संस्कृत काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। इस पुराण में कवि ने ६७ विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु आदि-पुराण में अधिकांशतः अनुष्टुप छन्द ही प्रयुक्त हैं।[१३]

दिगम्बर जैनों के लिये यह एक ऐसा विश्वकोश है जिससे तत्कालीन भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं जैन कला के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। आदिपुराण के सम्पादक पन्नालाल जैन के अनुसार संस्कृत साहित्य के अनुपम रत्नस्वरूप आदिपुराण एक महाकाव्य, धर्मकथा, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और युग की आद्यव्यवस्था को बतलाने वाला महान इतिहास है।[१४] जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नों का उत्पत्ति स्थान समुद्र है, उसी प्रकार सूक्त रत्नों के भण्डार स्वरूप यह महापुराण श्रव्य है, व्युत्पन्नबुद्धि वालों के लिये ग्रहण करने योग्य है तथा अतिशय ललित है।[१५] इस महापुराण में काव्यात्मक वर्णनों, धार्मिक प्रवचनों, नैतिक उपदेशों, रूढ़िगत स्वप्नों, नगर योजनाओं एवं कलात्मक पक्षों के वर्णन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है। महापुराण की रचना में जिनसेन व गुणभद्र ने आगमिक परम्परा तथा यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ति एवं कविपरमेष्ठीकृत वागर्थसंग्रह जैसी आगमोत्तर रच-नाओं का भी उपयोग किया है।[१६]

जिनसेन ने महापुराण में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को देखते हुए ब्राह्मण देवी-देवताओं व कर्मकाण्डों का जैनीकरण भी किया है जिसके फलस्वरूप वर्णव्यवस्था और १६ संस्कारों का उल्लेख हुआ। इसमें प्रकृति चित्रण के साथ-साथ शृंगार, शान्त, वीर, करुण एवं रौद्र जैसे विभिन्न रसों, अलंकारों, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग तथा व्यतिरेक आदि का पर्याप्त उपयोग किया गया है।[१७]

रामायण और महाभारत विषयक प्रारंभिक जैन (पउमचरिय, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण) रचनाओं के बाद त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के चरित्र से सम्बन्धित महापुराणों की रचना का क्रम आरम्भ हुआ। त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का उल्लेख विभिन्न जैन आगमों तथा अन्य ग्रन्थों जैसे समवायांगसूत्र, ज्ञातधर्मकथा, कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आवश्यकनिर्युक्तिचूर्णि, विशेषावश्यकभाष्य एवं वसुदेवहिण्डी में मिलता है। इसमें इन्हें उत्तमपुरुष कहा गया है और इनकी संख्या २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलदेव को मिलाकर केवल ५४ ही बतायी गयी है। किन्तु जिनसेन व गुणभद्र ने महापुराण में ९ प्रतिनारायण को भी सम्मिलित करके ६३ शलाकापुरुषों का उल्लेख किया है।[१८] आगे चलकर इसी महापुराण के आधार पर पुराणसारसंग्रह, चतुर्विंशतिजिनेन्द्रचरित्र, त्रिषष्टिस्मृति, तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र जैसे ग्रन्थो की रचना की गयी।[१९]

आदिपुराण में मुख्य रूप से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती के चरित का ही विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। उत्तरपुराण में अजितनाथ को आदि लेकर २३ तीर्थंकरों, सगर को आदि लेकर ११ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण तथा उनके काल में होने वाले अन्य विशिष्ट पुरुषों के चरित वर्णित हैं। तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जिनसेन व गुणभद्र ने ब्राह्मण परम्परा में लोकप्रिय राम, कृष्ण, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, इन्द्र[२०] जैसे देवों तथा श्री, बुद्धि, सरस्वती, गंगा व सिन्धु जैसी देवियों[२१] को महापुराण में स्थान देकर धार्मिक समन्वय का भाव दरशाया है। आदिपुराण के विषयवस्तु की व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए पन्नालाल जैन का कथन है कि जो अन्यत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित है वह इसमें भी प्रतिपादित है और जो इसमें प्रतिपादित नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।[२२]

महापुराण में कुल १९२०७ श्लोक हैं जिनमें से ११४२९ आदिपुराण में और ७७७८ उत्तरपुराण में हैं। महापुराण का सम्पूर्ण आख्यान महाराज श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर के रूप में गौतम गणधर के मुख से प्रसूत हुआ है। संक्षेप में आदिपुराण व उत्तरपुराण की विषयवस्तु ७७ पर्वों में इस प्रकार है—

आदिपुराण के प्रथम दो पर्व प्रस्तावना के रूप में हैं जिनमें जिनसेन ने कवि, महाकवि, काव्य, महाकाव्य तथा महापुराण की परिभाषा देते हुए आदिपुराण की ऐतिहासिकता बतलायी है। तीसरे पर्व में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल, भोगभूमि तथा कुलकरों आदि की उत्पत्ति एवं नामावली का वर्णन हुआ है। चौथे पर्व में अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक के तीन भेदों का वर्णन किया गया है।[२३] ५वें से ११वें पर्वों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के दस पूर्वभवों का विस्तार के साथ वर्णन है।

१२ से १५ पर्वों में ऋषभदेव के च्यवन, जन्म, बाल्यावस्था, यौवन, विवाह तथा भरत चक्रवर्ती के जन्म का सुन्दर व विशद् वर्णन हुआ है। बारहवें पर्व में ऋषभदेव के पिता व अंतिम कुलकर नाभिराज एवं माता मरुदेवी के सौन्दर्य व इन्द्र द्वारा निर्मित अयोध्या नगरी की शोभा का सुन्दर वर्णन मिलता है जो जैन स्थापत्य पर प्रकाश डालता है।[२४] इसी पर्व में मरुदेवी द्वारा देखे गये १६ शुभस्वप्नों का भी उल्लेख हुआ है जो परम्परागत मांगलिक स्वप्नों के महत्त्व पर प्रकाश डालता है।[२५] ज्ञातव्य है कि खजुराहो, देवगढ़ तथा अन्य सभी दिगम्बर स्थलों पर १६ मांगलिक स्वप्नों का शिल्पांकन हुआ है। इसमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि एवं लक्ष्मी जैसी देवियों एवं इन्द्र आदि देवताओं का भी उल्लेख मिलता है।[२६] १४वें पर्व में इन्द्र द्वारा किये गये ताण्डव नृत्य तथा विभिन्न किन्नर देवियों व अप्सराओं द्वारा किये गये अन्य नृत्यों एवं विभिन्न वाद्यों के वादन से सन्दर्भित उल्लेख हैं जो तत्कालीन नृत्य व संगीत जैसे ललितकला और ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[२७] इन्द्र के ताण्डव नृत्य का सन्दर्भ स्पष्टतः नटेश शिव के नृत्य से संबंधित है।

१६वें पर्व में ऋषभदेव की रानियों से बाहुबली आदि अन्य पुत्रों एवं ब्राह्मी तथा सुन्दरी नामक पुत्रियों के जन्म तथा ऋषभदेव द्वारा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या व शिल्प इन छः आजीविकाओं एवं क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की स्थापना का उल्लेख पूर्व परम्परा पर

आधारित सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालता है।[२८] कलापरक अध्ययन की दृष्टि से वृषभनाथ द्वारा शिल्प की प्रथम शिक्षा का सन्दर्भ विशेष महत्त्वपूर्ण है।

१७वें पर्व में नृत्यरत नीलांजना अप्सरा की मृत्यु से ऋषभदेव के मन में नश्वर संसार के प्रति विरक्ति का भाव आने एवं दीक्षा लेने का उल्लेख है।[२९] ज्ञातव्य है कि कुषाणकाल में ही नीलांजना के नृत्य को शिल्पांकित किया गया है जिसका उदाहरण मथुरा के कंकाली टीला से मिला है (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे० ३५४)।

१८वें से २०वें पर्व के अन्तर्गत जिनसेन ने ऋषभदेव के ६ माह के योग धारण करने, हस्तिनापुर के महाराज श्रेयांश के यहाँ इक्षुरस का आहार लेने एवं तपश्चरण आदि का वर्णन किया है। १९वें पर्व में धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमि को विभिन्न विद्याएँ प्रदान करने तथा विजयार्ध-पर्वत की शोभा का सुन्दर वर्णन हुआ है। २१ से २३ पर्वों के अन्तर्गत गौतम गणधर द्वारा ध्यान के विभिन्न भेदों, ऋषभदेव के कैवल्य प्राप्ति व देवों द्वारा उनके प्रथम उपदेश के लिये समवसरण निर्माण व उसके स्वरूप का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।[३०] इन पर्वों में ऋषभदेव के समवसरण का वर्णन जैन स्थापत्य के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता है।[३१]

२४वें और २५वें पर्वों में भरत द्वारा ऋषभदेव की १०८ व सौधर्म इन्द्र द्वारा १००८ नामों से स्तवन तथा अष्टद्रव्य आदि से पूजन करने एवं उनके विहार की विस्तृत चर्चा हुई है। ऋषभनाथ के १००८ नामों में सर्वाधिक नाम ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों तथा कुछ नाम अन्य ब्राह्मण देवों से सम्बन्धित हैं। साथ ही बौद्ध धर्म और गुणपरक एवं भारतीय इतिहास तथा परम्परा से सम्बन्धित कई नाम भी मिलते हैं।[३२] ब्राह्मण त्रिदेवों से सम्बन्धित नामों में स्वयंभू, शंभु, त्रिपुरारि, त्रिलोचन, त्रिनेत्र, शंकर, शिव, ईशान, महेश्वर, कामारि, महादेव, महायोगीश्वर, भूतनाथ, सद्योजात, मृत्युंजय, धाता, विश्वकर्मा, ब्रह्मा, शास्ता, पितामह, चतुरानन, चतुर्मुख, चतुर्वक्त्र, हिरण्यगर्भ, लक्ष्मीपति, जगन्नाथ, श्रीपति एवं विश्वमूर्ति मुख्य हैं। अन्य ब्राह्मण देवों में सहस्राक्ष, गणाधिप, महेन्द्र, धीमान, सूर्य एवं आदित्य के नाम प्रमुख हैं। बौद्ध देवकुल या धर्म से संबंधित नामों में अक्षोभ्य, बुद्ध, सिद्धार्थ, स्वयंबुद्ध, धर्मचक्री, प्रज्ञापारमित, बहुश्रुत (अशोक के अभिलेख) तथा कुछ तीर्थंकरों और भारतीय

साहित्य, परम्परा, दर्शन और इतिहास से सम्बन्धित नामों में धर्मराज, सुश्रुत, अशोक, निर्गुण, पुष्कर, महाबोधि, सुव्रत, वर्धमान (तीर्थंकर महावीर का नाम) देवविद्, भवतारक, परमेश्वर, महाप्रभु, महायज्ञ, महाशील, महर्षि, महात्मा, साधु, अचिन्त्य, सर्वयोगीश्वर, योगात्मा, प्रकृति, दक्ष, कामधेनु, प्राकृत, दूरदर्शन, विकालदर्शी, कल्पवृक्ष एवं शत्रुघ्न प्रमुख हैं। प्रस्तुत स्तवन में दिये गये नामों से जैन धर्म के समन्वयात्मक व्यापक दृष्टि की जानकारी मिलती है जिसमें विभिन्न ब्राह्मण एवं बौद्ध देवताओं के नामों की प्रमुखता है।

ऋषभनाथ के उपर्युक्त नामों की व्याख्या के सन्दर्भ में पूर्वकालिक ग्रन्थ पउमचरिय के सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण हैं जिसमें ऋषभनाथ एवं अजितनाथ दोनों का विभिन्न ब्राह्मण एवं बौद्ध देवों के नामों से स्मरण किया गया है। इनमें ब्रह्मा, स्वयंभू, चतुर्मुख, पितामह, हिरण्यगर्भ, भानु, त्रिलोचन, शंकर, शिव, महादेव, महेश्वर, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, अनन्तनारायण एवं स्वयंबुद्ध के नाम मिलते हैं जिनका महापुराण में और अधिक विस्तार किया गया है।[३३]

२६ से लेकर ३४ पर्वों में भरत के चक्ररत्न के प्रकट होने, उनकी सेना के विभिन्न अंगों एवं अस्त्र-शस्त्रों के प्रकार तथा उनके दिग्विजय का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। इसमें नवनिधि एवं १४ रत्नों का वर्णन भी हुआ है। देवगढ़ की भरत चक्रवर्ती की मूर्तियों में नवनिधि एवं १४ रत्नों के अंकन की दृष्टि से यह उल्लेख विशेष महत्त्व का है।

३४ से लेकर ३६ पर्वों में भरत और बाहुबली के मध्य नेत्र, जल और मल्ल-युद्ध और अन्त में भरत द्वारा बाहुबली पर चक्ररत्न चलाये जाने से दुःखी होकर बाहुबली के वन में जाकर दीक्षा धारण करने और तपश्चर्या एवं मोक्ष प्राप्ति के विस्तृत उल्लेख हैं। श्वेताम्बर कला केन्द्र विमलवसही (देलवाड़ा, राजस्थान) एवं कुंभारिया (शांतिनाथ मन्दिर, ११वीं शती ई०, गुजरात) में भरत-बाहुबली युद्ध के और देवगढ़, खजुराहो, एलोरा, मथुरा, बादामी, अयहोल एवं श्रवणबेलगोल जैसे दिगम्बर कला केन्द्रों पर बाहुबली की स्वतन्त्र मूर्तियों के कई उदाहरण मिले हैं जिनके निरूपण में महापुराण के विवरणों का पालन हुआ है।

३७ से ४२ पर्वों में भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना एवं ब्राह्मणोचित गर्भान्वय, दीक्षान्वय तथा कर्तन्वय आदि क्रियाओं एवं षोडश संस्कारों और हवन के योग्य मंत्रों आदि का विस्तार के साथ वर्णन

हुआ है जो वैदिक परम्परा के प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आदिपुराण के ४३ से ४७ पर्व तथा संपूर्ण उत्तरपुराण जिनसेन के शिष्य गुणभद्र द्वारा रचित हैं। ४३ से ४७ पर्वों में गुणभद्र द्वारा सर्वप्रथम अपने गुरु जिनसेन के प्रति भक्ति प्रदर्शित की गयी है। तदनन्तर जयकुमार व सुलोचना के विवाह, विरक्ति व जयकुमार के ऋषभदेव के समवसरण में गणधर पद प्राप्त करने, भरत चक्रवर्ती की दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति एवं ऋषभदेव के अन्तिम विहार और निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार आदिपुराण में केवल प्रथम तीर्थंकर व प्रथम चक्रवर्ती का ही वर्णन किया गया है। इसी कारण उनसे सम्बन्धित प्रत्येक घटनाओं का इसमें विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। गुणभद्रकृत उत्तरपुराण में अन्य ६१ शलाकापुरुषों का वर्णन किया गया है। इसी कारण इसमें आदिपुराण की तुलना में कथानक संक्षेप में दिये गये हैं। उत्तरपुराण के सम्पादक पन्नालाल जैन ने उत्तरपुराण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि इसमें विशिष्ट कथानकों में कितने ही कथानक इतने रोचक ढंग से लिखे गये हैं कि संक्षेप में होते हुए भी वर्णन शैली की मधुरता के कारण ये अत्यन्त रुचिकर हो गये हैं।[३४] उत्तरपुराण के ४८वें पर्व में द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ तथा चक्रवर्ती सगर के पंचकल्याणकों का (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य व मोक्ष) का वर्णन मिलता है। इसी पर्व में पूर्व परम्परा से चली आ रही गंगा की तीर्थता के सम्बन्ध में भी कथा वर्णित है कि जिस समय भगीरथ गंगा नदी के किनारे प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे, उसी समय इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से उनके चरणों का अभिषेक किया। तभी से गंगा इस लोक में तीर्थ मानी जानी लगी।[३५]

४९ से ५६ पर्वों में तीसरे से १०वें तीर्थंकर सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त एवं शीतलनाथ के पंचकल्याणकों का संक्षेप में उल्लेख हुआ है। इसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का कथानक अन्य तीर्थंकरों की तुलना में किंचित् विस्तार के साथ निरूपित है। ५७ से ६६वें पर्वों में गुणभद्र ने ग्यारहवें से उन्नीसवें तीर्थंकर क्रमशः श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ तथा मल्लिनाथ के पंचकल्याणकों का वर्णन किया है। तीर्थंकरों के साथ शलाकापुरुषों की सूची में आने वाले बलभद्र, नारायण व प्रतिनारायण के कथानक भी दिये गये हैं। इनमें

उपरोक्त तीर्थंकरों के तीर्थ में होने वाले विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण व नन्दिमित्र बलभद्र, त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक एवं दत्त नारायणों तथा इनके प्रतिद्वन्द्वी (शत्रु)—अश्वग्रीव, तारक, मधु, मधुसूदन, मधुक्रीड़, निशुम्भ एवं बलीन्द्र प्रतिनारायणों के उल्लेख हैं। प्रत्येक कथानक में नारायण द्वारा प्रतिनारायण के वध और फलस्वरूप पापोदय से नारायण के नरक में जाने का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं पर्वों में क्रूर व कलहप्रिय स्वभाव वाले नारद[३१] एवं विभिन्न ह्रदों में निवास करने वाली श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, कीर्ति एवं लक्ष्मी जैसी इन्द्र की वल्लभा देवियों[३७] का उल्लेख जैन धर्म पर ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें विभिन्न क्षेत्रों, पर्वत, सरोवरों, नदियों, देशों व नगर के नामों का उल्लेख कर गुणभद्र ने तत्कालीन भौगोलिक दशा पर भी प्रकाश डाला है।

६७ तथा ६८वें पर्वों में २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत और उनके समकालीन आठवें बलभद्र, नारायण व प्रतिनारायण के रूप में राम, लक्ष्मण और रावण के उल्लेख हैं। रामकथा की परम्परा लगभग पाँचवीं शती ई० में जैन धर्म में प्रविष्ट हुई जिसके फलस्वरूप विमलसूरिकृत पउमचरिय जैसे प्रारंभिक तथा रविषेण कृत पद्मपुराण जैसे परवर्ती जैन ग्रन्थों में उसका विस्तृत उल्लेख किया गया है। जैन परंपरा की रामकथा अधिकांशतः वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। उत्तरपुराण के कुछ कथा प्रसंग जैसे सीता जन्म इत्यादि अद्भुत रामायण के अनुरूप हैं। उत्तरपुराण में दशरथ को बनारस का राजा बताना बौद्ध जातक से प्रभावित प्रतीत होता है।[३८] इन पर्वों में राम की कथा के प्रमुख अंश जैसे राम, लक्ष्मण व सीता के जन्म, राम-सीता विवाह, रावण द्वारा सीता-हरण और फलस्वरूप राम-रावण युद्ध, हनुमान के जीवन से सम्बन्धित कथा प्रसंग में उनके पराक्रम एवं विद्याओं तथा लंकादहन आदि का वर्णन तथा लक्ष्मण द्वारा बालि व रावण का वध, राम व लक्ष्मण की दिग्विजय और राज्याभिषेक, लक्ष्मण की मृत्यु से राम के वैराग्य, दीक्षा, कैवल्य व निर्वाण प्राप्ति का सजीव व रोचक वर्णन किया गया है। रामकथा के कई प्रसंग स्पष्टतः ब्राह्मण परम्परा से भिन्न हैं।

६९ से ७२वें पर्वों में २१वें तथा २२वें तीर्थंकर नमिनाथ और नेमिनाथ के जीवनवृत्त के साथ-साथ ११वें और १२वें चक्रवर्ती जयसेन तथा

ब्रह्मदत्त की जीवनकथा भी दी गयी हैं। नौवें बलभद्र, नाराथण व प्रति-नारायण के रूप में क्रमशः बलदेव, कृष्ण और जरासन्ध का भी उल्लेख हुआ है। उत्तरपुराण की कृष्ण कथा हरिवंशपुराण की कथा से नाम व कथानक आदि की दृष्टि से कहीं-कहीं भिन्न है। कृष्णचरित सामान्यतः हिन्दू परम्परा के महाभारत पर आधारित है। उत्तरपुराण में कृष्ण के जन्म, बालक्रीड़ा, कृष्ण द्वारा कंस व जरासन्ध के वध तथा उनकी पट्टरानियों के भवान्तर आदि का अत्यन्त रोचक वर्णन किया गया है। द्वारावती नगरी के वर्णन द्वारा गुणभद्र ने जैन स्थापत्य पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है।

७३ तथा ७४वें पर्वों में २३वें तथा २४वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ एवं महावीर का जीवन-वृत्त वर्णित है। इनके तपश्चरण के मध्य पूर्वजन्म के बैरी दुष्टात्माओं द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्गों[३९] (बाधाओं) का भी इसमें वर्णन हुआ है जो विभिन्न पुरास्थलों के कलापरक सामग्री के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अन्तिम पर्वों ७५ तथा ७६ में राजा चेटक, चेलना, जीवन्धर एवं अन्तिम केवली जम्बूस्वामी आदि के वर्णन के साथ-साथ उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल का भी वर्णन किया गया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न कल्कियों, प्रलयकाल तथा भविष्य के (उत्सर्पिणी काल) तीर्थंकरों एवं अन्य शलाकापुरुषों के नामोल्लेख तथा महावीर के शिष्य परम्परा आदि का वर्णन हुआ है।

महापुराण के रचनाकार—जिनसेन एवं गुणभद्र : जीवन परिचय और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :

जिनसेन और गुणभद्र दोनों ही आचार्य मूलसंघ के उस 'पंचस्तूप' नामक अन्वय में हुए जो आगे चलकर 'सेनान्वय' या 'सेनसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[४०] जिनसेन के गुरु वीरसेन और स्वयं जिनसेन ने अपना वंश 'पंचस्तूपान्वय' तथा गुणभद्र ने 'सेनान्वय' लिखा है।[४१] इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में लिखा है कि जो मुनि पंचस्तूप निवास से आये उनमें से किसी को सेन और किसी को भद्र नाम दिया गया।

वंश परम्परा दो प्रकार की होती है : लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक वंश का सम्बन्ध योनि से और पारमार्थिक वंश का सम्बन्ध विद्या से होता है।[४२] वस्तुतः जिनसेन और गुणभद्र के लौकिक वंश का निश्चयात्मक रूप में कुछ भी पता नहीं चलता। ये कहाँ के रहने वाले

थे, किसके पुत्र थे और इनकी क्या जाति थी जैसी बातों का उल्लेख न तो इनकी ग्रन्थ प्रशस्तियों में होता है और न ही इनके परवर्ती आचार्यों की ग्रन्थ प्रशस्तियों में।[४३] इसका एक संभावित कारण यह रहा होगा कि गृहवास से विरत साधु अपने लौकिक वंश का परिचय देना आवश्यक नहीं समझते थे।[४४] केवल उत्तरपुराण के अन्त में दी गयी प्रशस्ति में जिनसेन के जीवन का किंचित् परिचय मिलता है।

जयधवला की प्रशस्ति में जिनसेनाचार्य ने अपना परिचय अत्यन्त आलंकारिक रूप में दिया है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ये बाल्य-काल में ही दीक्षित हो गये थे और सरस्वती के आराधक थे। कृशकाय जिनसेन आकृति से भव्य तथा रम्य नहीं थे किन्तु कुशाग्र बुद्धि, ज्ञान-राधना एवं तपश्चर्या से इनका व्यक्तित्व महनीय हो गया था। इन्होंने ब्राह्मण स्मृतियों का गहन अध्ययन किया था। स्मृतियों के प्रभाव से इन्होंने जैनाचार को नया आयाम भी दिया।[४५]

गुरु परम्परा :

अबतक के अध्ययन से इनके परमार्थवंश—गुरुवंश की परम्परा आचार्य चन्द्रसेन तक जा सकी है। यह गुरु-शिष्य क्रम इस प्रकार था—चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दी थे जो जिनसेन के दादागुरु थे। आर्यनन्दी के शिष्य वीरसेन और वीरसेन के शिष्य जिनसेन हुए जिनके शिष्य गुणभद्र थे।[४६] उत्तरपुराण की प्रशस्ति में गुणभद्र ने स्वयं को वीरसेन के शिष्यों—जिनसेन और दशरथगुरु का शिष्य बतलाया है।

जिनसेन की गुरु परम्परा को निम्नांकित तालिका से स्पष्टतः समझा जा सकता है[४७]—

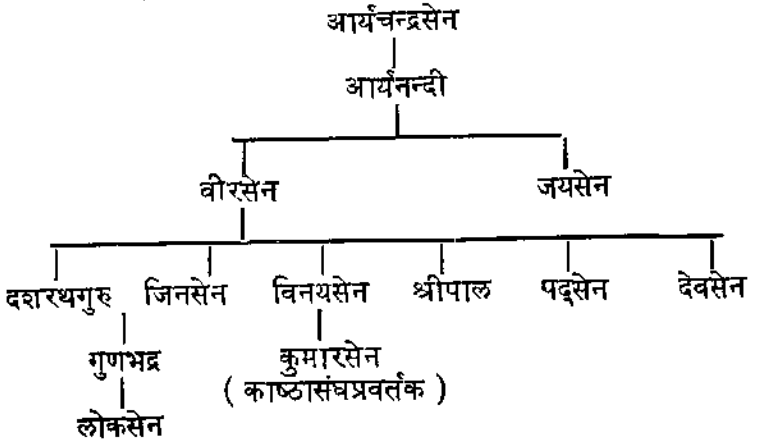

स्थानविचार :

जिनसेन व गुणभद्र कहाँ के रहने वाले थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका उल्लेख उनके किसी भी प्रशस्ति में नहीं मिलता है। किन्तु इनसे सम्बद्ध तथा इनके निज के ग्रन्थों में बंकापुर (धारवाड़, कर्नाटक), वाटग्राम (बड़ौदा, गुजरात) तथा चित्रकूट का उल्लेख आता है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये सम्भवतः कर्नाटक प्रान्त के रहने वाले थे।[४८] बंकापुर उस समय वनवास देश की राजधानी थी जो वर्त्तमान में कर्नाटक के धारवाड़ जिले में स्थित है। नाथूराम प्रेमी के अनुसार वीरसेन और जिनसेन का विहारक्षेत्र कर्नाटक प्रान्त ही रहा होगा और इसी क्षेत्र में आदिपुराण की रचना हुई होगी। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि महापुराण का पूजा महोत्सव बंकापुर में किया गया था।[४९] चित्रकूट के सम्बन्ध में नाथूराम प्रेमी का कहना है कि सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करने लिये एलाचार्य के पास जिस चित्रकूट में वीरसेन गये थे वह संभवतः वर्तमान चित्तौड़ का ही संस्कृत रूप है। अमोघवर्ष के पिता गोविन्द तृतीय ने गुजरात व मालवा के साथ-साथ चित्रकूट को भी जीता था और उस समय यह अमोघवर्ष के ही राज्य में था।[५०]

गुलाबचन्द चौधरी के अनुसार तत्कालीन राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम जिनसेन का अनन्य भक्त था जिसका शासनकाल लगभग ८१४ से ८७८ ई० के मध्य माना जा सकता है। अमोघवर्ष का राज्य उस समय केरल से लेकर गुजरात, मालवा तथा चित्रकूट तक फैला था। जिनसेन का सम्बन्ध चित्रकूट आदि स्थलों के साथ होने तथा अमोघवर्ष द्वारा सम्मानित होने से उनके जन्म स्थान का अनुमान महाराष्ट्र और कर्नाटक के सीमावर्ती प्रदेश में लगाना उचित प्रतीत होता है।[५१]

पन्नालाल जैन ने भी आदिपुराण की प्रस्तावना में इस बात का उल्लेख किया है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष की राजधानी मान्यखेट थी जो उस समय कर्नाटक तथा महाराष्ट्र दोनों की राजधानी थी। अमोघवर्ष जिनसेन का अनन्य भक्त था, अतः उनका अमोघवर्ष की राजधानी में आना-जाना सम्भव था। किन्तु वहाँ पर जिनसेन के निवास आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता।[५२]

काल विचार :

हरिवंशपुराण की रचना के समय आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन

(II) विद्यमान थे और उन्होंने तब तक पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति तथा वर्धमानपुराण नामक दो ग्रन्थों की रचना भी कर ली थी।[५३] किन्तु जिनसेन की जयधवला टीका के अन्तिम भाग तथा महापुराण जैसी सुविस्तृत और महत्त्वपूर्ण कृतियों का हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन (I) ने कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे यह आभासित होता है कि महापुराण जिनसेन (II) की परवर्ती काल की रचना थी।[५४] हरिवंश-पुराण में वर्णित प्रारम्भिक रचनाओं के समय आदिपुराण के कर्त्ता की आयु कम से कम २५-३० वर्ष अवश्य रही होगी। हरिवंशपुराण के अन्त में दी गई प्रशस्ति में उसका रचनाकाल शकसंवत् ७०५ (७८३ ई०) बताया गया है। हरिवंशपुराण की रचना आरम्भ करते समय आदि-पुराण के कर्त्ता जिनसेन (II) की आयु यदि २५ वर्ष रही होगी तो उनका जन्म शकसंवत् ६७५ (७५३ ई०) के आसपास ही हुआ होगा।[५५]

जयधवला टीका की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जिनसेन (II) ने अपने गुरु वीरसेन की वीरसेनीया टीका शकसंवत् ७५९ (८३७ ई०) में पूर्ण की थी। इससे सिद्ध होता है कि जिनसेन (II) ८३७ ई० तक विद्यमान थे।[५६] जिनसेन (II) से पार्श्वाभ्युदय से यह भी ज्ञात होता है कि वह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल (८१४-८७८ ई०) में थे। उसके दरबार में अनेक हिन्दू तथा जैन विद्वान थे जिनमें आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन भी एक थे।[५७] हीरालाल जैन ने इस बात का उल्लेख भी किया है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष जिनसेन के चरणों की पूजा करता था।[५८] ए० डी० पुसालकर ने इस बात को पुष्टि की है कि अमोघवर्ष प्रथम एक हिन्दू की अपेक्षा जैन अधिक था और जिनसेन उसका प्रमुख धर्मोपदेशक था। उसने गुणभद्र को अपने पुत्र कृष्ण द्वितीय के लिये एक उपदेशक के रूप में नियुक्त किया था।[५९] नाथूराम प्रेमी के अनुसार जिनसेन का जन्म शकसंवत् ६८५ (७६३ ई०) में अनुमानित किया गया है। जयधवला टीका उन्होंने शकसंवत् ७५९ में पूर्ण की, अतः उस समय उनकी अनुमानित आयु ७४ वर्ष रही होगी। सम्भवतः जयधवला के बाद ही उन्होंने आदिपुराण आरम्भ किया जिसे वह पूरा नहीं कर सके। आदिपुराण की दस हजार श्लोकों की रचना में कम से कम उन्हें ५-६ वर्ष अवश्य लगे होंगे और इस प्रकार शकसंवत् ७६५ (८४३ ई०) के लगभग ८० वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ होगा।[६०] आदिपुराण के ४२ पर्व पूर्ण तथा ४३वें पर्व के तीन श्लोकों

की रचना के बाद जिनसेन की मृत्यु हो गयी थी। इस अपूर्ण रचना को पूर्ण करने का महनीय कार्य उनके शिष्य गुणभद्र ने किया। नाथूराम प्रेमी के अनुसार यदि जिनसेन की मृत्यु के समय गुणभद्र की आयु २५ वर्ष मान ली जाए तो शकसंवत् ७४० (८१८ ई०) के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। परन्तु गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचना व समाप्ति कब की और वे कब तक जीवित रहे यह सर्वथा अन्वेषणीय है।[६१]

हीरालाल जैन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय (ल० ८७८-९१४ ई०) के काल में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण का लेखन पूरा किया।[६२] पन्नालाल जैन के अनुसार गुणभद्र की आयु यदि गुरु जिनसेन के स्वर्गवास के समय २५ वर्ष मान ली जाय तो शकसंवत् ७४० (८१८ ई०) के लगभग उनका जन्म हुआ होगा, परन्तु उत्तरपुराण कब समाप्त हुआ तथा गुणभद्राचार्य कब तक जीवित रहे, यह निर्णय करना कठिन है।[६३] यद्यपि उत्तरपुराण की प्रशस्ति में यह लिखा है कि उसकी समाप्ति शकसंवत् ८२० (८९८ ई०) में हुई, परन्तु प्रशस्ति स्वयं दो रूपों में विभाजित है। पहला रूप गुणभद्र स्वामी का और दूसरा उनके शिष्य लोकसेन का।[६४] लोकसेन द्वारा लिखी गयी प्रशस्ति उस समय की प्रतीत होती है जबकि उत्तरपुराण की विधिपूर्वक पूजा की गयी थी। इस प्रकार उत्तरपुराण की प्रशस्ति में उसकी पूर्ति का जो काल (शकसंवत् ८२०) दिया गया है वह वस्तुतः उसकी पूजा महोत्सव का है।[६५] गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण के ही समान अपने अन्य ग्रन्थों जैसे आत्मानुशासन तथा जिनदत्तचरित में भी ग्रन्थ की पूर्ति का शकसंवत् नहीं दिया है। अतः गुणभद्र का ठीक-ठीक समय बता पाना कठिन है किन्तु कृष्ण द्वितीय के साथ गुणभद्र की समकालिकता के आधार पर ९१४ ई० यानी दसवीं शती ई० के प्रारम्भ तक गुणभद्र का काल रखा जा सकता है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के उल्लेखों के आधार पर जिनसेन व गुणभद्र के महापुराण का अनुमानित रचनाकाल ९वीं शती ई० से १०वीं शती ई० के प्रारम्भ के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

जिनसेन एवं गुणभद्र की रचनाएँ :

जिनसेन प्रणीत ग्रन्थों में पार्श्वाभ्युदय, वर्धमानपुराण[६६], जयधवला-टीका तथा आदिपुराण सर्वप्रमुख हैं। पार्श्वाभ्युदय कालिदास के मेघदूत से प्रभावित भाषाशैली वाला ग्रन्थ है।[६७] इस ग्रन्थ में पार्श्वनाथ की

तपस्या और पूर्वजन्म के बैरी कमठ द्वारा किये गये उपसर्गों का विस्तृत उल्लेख हुआ है। धवला तथा जयधवला दोनों ही ग्रन्थ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के समय में लिखे गये थे। अमोघवर्ष का एक और नाम 'धवल' या 'अतिशयधवल' भी था। अतः अनुमान है कि इन ग्रन्थों का नामकरण अमोघवर्ष के नाम को चिरस्थायी करने के लिए किया गया होगा। गुणभद्र की रचनाओं में उत्तरपुराण के अतिरिक्त आत्मानुशासन एवं जिनदत्तचरित्र का भी उल्लेख मिलता है। आत्मानुशासन भर्तृहरि की वैराग्यशतक की शैली में लिखा हुआ २७२ पद्यों का एक सुन्दर ग्रन्थ है।[६८] जिनदत्तचरित्र एक नवसर्गात्मक छोटा काव्य ग्रन्थ है। अनुष्टुप श्लोकों में रचित इस ग्रन्थ की कथा बड़ी ही कौतुकावह है।[६९]

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :

किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के विशिष्ट साहित्य का अध्ययन करने के लिये उस युग की राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। कोई भी ग्रन्थकार अपने युग के वातावरण से अप्रभावित नहीं रह सकता या दूसरे शब्दों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियाँ किसी भी देश की कला एवं साहित्य की नियामक होती हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति अपनी विषय-वस्तु एवं निर्माण विधा में समाज की धारणाओं एवं तकनीकों का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है जो उसी संस्कृति का अंग होती हैं। कला के सम्बन्ध में कुमारस्वामी ने लिखा है कि भारतीय कला लोगों की धार्मिक मान्यताओं का ही मूर्त रूप रही है। समस्त भारतीय कला पूर्व परम्पराओं के निश्चित निर्वाह के साथ ही धर्म एवं सामाजिक धारणाओं में हुए परिवर्तनों से भी सदैव प्रभावित होती रही है।[७०] ठीक यही बात किसी भी युग के साहित्य के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। ग्रन्थकार को जो विचारधारा परम्परा से मिली है उसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य में आये बिना नहीं रह सकता। अतः जिस समय जिनसेन व गुणभद्र कृत महापुराण की रचना हुई उस समय की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त विवेचना यहाँ आवश्यक हो जाती है।

(क) राजनीतिक :

मध्यकाल में मालवा, राजस्थान, उत्तरी गुजरात तथा दकन के कर्नाटक जैसे प्रान्तों में जैनधर्म का अच्छा समादर था तथा साहित्यिक

क्रिया-कलापों में जैन आचार्यों को जनता के अतिरिक्त तत्कालीन शासक वर्ग से भी संरक्षण तथा प्रेरणा मिलती रही। दक्षिण भारत के मध्यकालीन राजवंशों जैसे गंग, कदम्ब, चालुक्य (बादामी, अयहोल) राष्ट्रकूट एवं होयसल (अंसिकेरी, हलेबिड एवं लक्कुंडी के जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ) तथा उनके अधीनस्थ सामन्तों, मन्त्रियों और सेनापतियों ने जैनधर्म को केवल आश्रय ही नहीं दिया वरन् वे जैनधर्म के प्रति आदर भाव रखने वाले और उसके अनुयायी भी थे।[७१] राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष जिनसेन का अनन्य भक्त था और उसने जीवन के अन्तिम चरण में सम्भवतः जैनधर्म भी स्वीकार लिया था।[७२] आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन तथा गणितसार-संग्रह के कर्त्ता महावीराचार्य अमोघवर्ष के दरबार में थे।[७३] शासक और विजेता होने के साथ ही अमोघवर्ष साहित्य तथा कला का महान संरक्षक भी था। वह स्वयं भी कन्नड़ की सबसे प्राचीन कृति कविराजमार्ग तथा प्रश्नोत्तरमालिका का लेखक था।[७४] उसका जीवन हिन्दू एवं जैनधर्म के गुणों का अद्भुत समन्वय था।[७५] उसने जीवन में स्याद्वाद का अनुसरण किया और साथ ही हिन्दू देवी-देवताओं को भी पूरा सम्मान दिया। अमोघवर्ष द्वारा जैन दीक्षा ग्रहण करने का सन्दर्भ शकसंवत् ७८२ (८६० ई०) के ताम्रपत्र में मिलता है। अमोघवर्ष ने स्वयं जैनाचार्य देवेन्द्र को दान दिया था।[७६] अमोघवर्ष के पुत्र कृष्ण द्वितीय के महासामंत पृथ्वीराय के शकसंवत् ७९७ (८७५ ई०) के लेख में उसके द्वारा किसी जैन मन्दिर को भूमिदान का उल्लेख मिलता है।[७७] उसके अतिरिक्त राजदरबारी, सामंत तथा व्यापारी वर्ग भी जैनधर्म को मानने वाले तथा उसके संरक्षण प्रदान करने वाले थे।[७८]

अमोघवर्ष जैन थे अथवा जैनधर्म के प्रति केवल उनकी सहानुभूति मात्र थी, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। नाथूराम प्रेमी ने उनके जैन धर्मानुयायी होने के सम्बन्ध में कुछ साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि अमोघवर्ष ने अपने प्रश्नोत्तररत्नमाला के मंगलाचरण में वर्द्धमान तीर्थंकर को नमस्कार किया है तथा उसमें अनेक बातें जैन धर्मानुमोदित कही गयीं है जिससे वे जैनधर्म के अनुयायी जान पड़ते हैं। अमोघवर्ष के ही समय में महावीराचार्य ने जिस गणितसारसंग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी, उसकी उत्थानिका में उन्होंने अमोघवर्ष को स्याद्वादन्यवादी कहा है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अमोघवर्ष जैन हो गये थे।[७९] कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि अमोघवर्ष के

के जो दानपत्र मिले हैं उनमें शिव की स्तुति की है तथा उन पर शिव एवं शिवलिंग आदि के चिह्न बने हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि वह जैन नहीं था। इसके सम्बन्ध में नाथूराम प्रेमी का कहना है कि राज्य का कार्य कुल परम्परा के अनुसार चलता है अतः संभव है कि पहले की परम्परा के ही अनुसार अमोघवर्ष के भी दानपत्र लिखे गये हों तथा उन पर उनके वंश परम्परा के चिह्न अंकित किये गये हैं। केवल उनके जैन हो जाने से पूरा राजतंत्र जैन-धर्मानुयायी नहीं हो सकता।[८०] इस सन्दर्भ में कलिंग नरेश खारवेल का उदाहरण दिया जा सकता है जो स्वयं जैन धर्मानुयायी था किन्तु उसका राज्याभिषेक वैदिक विधि से हुआ था। सम्राट् हर्ष के बौद्ध होने पर भी उनके दानशासनों में उसे परममाहेश्वर तथा इसी प्रकार कुमारपाल के जैन होने पर उसे परममाहेश्वर लिखा जाता रहा है।[८१]

अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण को पूरा किया। साथ ही इन्द्रनन्दि ने ज्वालामालिनीकल्प, सोमदेव ने यशस्तिलक-चम्पू नामक काव्य तथा पुष्पदन्त ने श्रेष्ठ अपभ्रंश रचनाएँ प्रस्तुत कीं।[८२] राजदरबारों में जैनाचार्यों और विद्वानों के त्यागमय जीवन और विद्योपासना की बड़ी प्रतिष्ठा थी। राजवंशी लोग भी उनके भक्त तथा उपासक होने में अपना कल्याण समझते थे। इस राजकीय संरक्षण के फलस्वरूप ही जैनाचार्यों द्वारा निरन्तर जैनकाव्य एवं धर्मपरक साहित्य की रचना होती रही जिनमें राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तथा उसके उत्तराधिकारियों के संरक्षण में महापुराण एवं कुमारपाल चौलुक्य के संरक्षण में हेमचन्द्र कृत त्रिशष्टि-शलाकापुरुषचरित्र सर्वप्रमुख है।[८३]

(ख) धार्मिक :

सातवीं शती ई० के बाद हिन्दू, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मों में तान्त्रिक प्रवृत्तियों ने किसी न किसी रूप में प्रवेश किया। किन्तु बौद्ध और हिन्दू धर्मों की तुलना में जैनधर्म में यह प्रवृत्ति कम और मुख्यतः मन्त्रवाद के रूप में देखी जा सकती है। जैनधर्म तान्त्रिक पूजाविधि, मांस, मदिरा तथा स्त्रियों से मुक्त रहा। जैन आचार्यों ने तान्त्रिक विद्या के घिनौने आचरणों को पूर्णतः अस्वीकार कर तन्त्र के केवल योग एवं साधना पक्ष को ही महत्त्व दिया।[८४]

आगम ग्रन्थों में भूतों, डाकनियों एवं पिशाचों के प्रचुर उल्लेख हैं।

समराइच्चकहा, तिलकमञ्जरी एवं बृहत्कथाकोष में मन्त्रवाद, विद्याधरों, विद्याओं एवं कापालिकों के वेताल साधनों की भी चर्चा है जिनकी उपासना से साधकों को दिव्य शक्तियों (विद्याओं) या मनोवांछित फलों की प्राप्ति होती थी।[८५] इनके अतिरिक्त तान्त्रिक प्रभाव में कई और जैन ग्रन्थों की भी रचना हुई जिनमें ज्वालिनीमाता, ज्वालामालिनीकल्प, निर्वाणकलिका, प्रतिष्ठासारोद्धार, आचारदिनकर, भैरवपद्मावतीकल्प तथा अद्भुतपद्मावती इत्यादि मुख्य हैं।[८६] परम्परागत जैन साहित्य और शिल्प में १६ महाविद्याएँ वस्तुतः तान्त्रिक देवियाँ ही हैं।[८७]

कोई भी रचनाकार, काल तथा समाज के प्रभाव से अपने को वंचित नहीं रख सकता। आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन के काल में दक्षिण भारत में ब्राह्मण तथा जैन धर्मों के मध्य संघर्षपूर्ण स्थिति बनी हुई थी। उसे ध्यान में रखते हुए जिनसेन ने ब्राह्मण धर्म के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों तथा क्रियाकाण्डों का जैनीकरण करने का प्रयास किया है।[८८] महापुराण में धर्म एवं संस्कृति के समन्वयात्मक उल्लेखों से यह बात स्पष्ट है। आदिपुराण में जिनसेन ने स्वाध्याय, उपवास आदि तप तथा व्रतधारण रूपी संयम को ब्राह्मणों का कुलधर्म बताया है।[८९] इस दृष्टि से १६ संस्कारों एवं ४ वर्णों के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु ब्राह्मण व्यवस्था से प्रभावित होने पर भी जिनसेन ने आदिपुराण में जैन सांस्कृतिक तत्त्वों को बनाये रखा। जिनसेन तथा गुणभद्रकृत महापुराण में २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं एवं अनेक देवी-देवताओं तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विस्तृत वर्णन हुआ है। आदिपुराण में जिनसेन ने प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव तथा उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का जैसा वर्णन किया है वह वैदिक मन्त्रों, जैनेतर पुराणों तथा उपनिषदों में भी मिलता है। भागवत् में भी मरुदेव, नाभिराज, वृषभदेव एवं उनके पुत्र भरत का विस्तृत वर्णन मिलता है। केवल घटनादि तथा अन्य सन्दर्भों में दोनों में भिन्नता देखी जा सकती है।[९०] आदिपुराण में इन्द्र ने वृषभदेव के कैवल्य प्राप्ति के बाद १००८ नामों से जिस प्रकार उनकी स्तुति की है उनमें अनेक नाम शिव, विष्णु, ब्रह्मा एवं बुद्धादि से सम्बन्धित हैं।[९१] इसी प्रकार आदिपुराण तथा उत्तरपुराण में जिनसेन व गुणभद्र ने विभिन्न विद्याधरों तथा उनकी विद्याओं का उल्लेख किया है, जो स्पष्टतः तन्त्रवाद से प्रभावित है।[९२]

हीरालाल जैन के अनुसार धार्मिक लोकमान्यताओं की भी जैनधर्म में उपेक्षा नहीं की गयी और उन्हें सम्मानपूर्वक विधिवत् जैन परम्परा में सम्मिलित कर लिया गया। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण व बलदेव के प्रति जनमानस का पूज्य भाव रहा है तथा उन्हें अवतार पुरुष माना गया। जैनियों ने तीर्थंकरों के साथ-साथ इन्हें भी तिरसठ शलाकापुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। इतना ही नहीं, रावण तथा जरासन्ध जैसे चरित्रों को भी जैन पुराणों में प्रतिनारायण जैसा प्रतिष्ठापरक स्थान दिया गया। रावण को दशमुखी राक्षस न मानकर विद्याधर वंशी माना गया तथा उसे राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाया गया है।[९३]

(ग) सामाजिक :

पूर्व-मध्यकाल में भारतीय समाज जातिप्रथा तथा धार्मिक रीति-रिवाज के बन्धन में जकड़ता जा रहा था।[९४] मध्यकाल (११वीं-१२वीं शती ई०) तक समाज अनेक जातियों व उपजातियों में विभाजित होने लगा था। समाज में तन्त्र-मन्त्र, टोना-टोटका, शकुन-अपशकुन विचार घर कर गये थे। ब्राह्मण वर्ण में छुआछूत का विचार बढ़ रहा था।[९५] इसका प्रभाव इस समय ब्राह्मण वर्ण के साथ-साथ वैश्य व क्षत्रिय वर्णों पर भी पड़ने लगा था। शासन प्रायः अक्षत्रिय वर्ग के लोगों के हाथ में आ रहा था। मौखरी तथा पश्चात्कालीन गुप्त राजा अक्षत्रिय ही थे। इसी प्रकार बंगाल के पाल और सेन क्रमशः शूद्र और ब्राह्मण थे तथा कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार विदेशी मूल के थे (?) जो बाद में क्षत्रिय बनाये गये।[९६] इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण में अनेक तत्त्वों का समिश्रण हो रहा था तथा बदलती सामाजिक परिस्थितियों के कारण पश्चिम एवं दक्षिण भारत में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी।[९७] जैन स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि कुछ क्षत्रिय जैन व बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त से प्रभावित हो शस्त्र जीविका छोड़कर व्यापार वृत्ति करने लगे थे।[९८] पूर्व-मध्यकाल का जैनधर्म अधिकांशतः व्यापारिक वर्ग के हाथों मे था। जैनधर्म में जाति व्यवस्था को धर्म की दृष्टि से किंचित् भी महत्त्व नहीं दिया गया था, संभवतः इसी कारण वैश्यों ने काफी संख्या में जैनधर्म को स्वीकार किया था, जिनका मुख्य कार्य व्यापार या व्यवसाय था।[९९] इसी कारण जैनधर्म विशेष रूप से दक्षिण व पश्चिम भारत में धार्मिक व्यापारिक वर्ग के संरक्षण में खूब फला-

फूला।[100] व्यापारियों द्वारा जैनधर्म व कला को संरक्षण प्रदान करने की पुष्टि खजुराहो, जालोर, ओसियाँ, देलवाड़ा जैसे स्थलों से प्राप्त लेखों से भी होती है।[101]

राजकीय प्रतिष्ठा के साथ-साथ इस समय जैन वैश्य बड़ा ही सुपठित व प्रबुद्ध था। जैनाचार्यों के समान वह भी साहित्य प्रेमी था तथा साहित्य सेवा में रत था, उदाहरणार्थ—अपभ्रंश पद्मचरित के रचयिता स्वयंभू, तिलकमंजरी के प्रणेता धनपाल, कन्नड़ चामुण्डराय-पुराण के लेखक चामुण्डराय, नरनारायणानन्द महाकाव्य के लेखक वस्तुपाल, धर्मशर्माभ्युदय के रचनाकार हरिश्चन्द्र, पं० आशाधर अर्हदास तथा कविमण्डन आदि जैन गृहस्थ ही थे।[102]

जैन पुराणकालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था की वैदिक मान्यतायें प्रचलित थीं और सामाजिक जीवन के रग-रग में ये इस प्रकार प्रवाहित थीं कि इसके प्रभाव से जैनाचार्य भी अपने को वंचित नहीं रख सके। इसका प्रभाव दक्षिण के जैन आचार्यों पर विशेष रूप से पड़ा जिसका उदाहरण हम उनके द्वारा विरचित साहित्य में देख सकते हैं। गोकुलचन्द्र जैन के अनुसार जिनसेन ने उन सभी वैदिक नियमोपनियमों का जैनीकरण कर उन पर जैनधर्म की छाप लगा दी थी, जिन्हें वैदिक प्रभावों से प्रभावित होने के उपरान्त भी जैन समाज मानने लगा था।[103] जिनसेन कृत आदिपुराण के अनुसार भोगभूमि के समाप्त होने तथा कल्पवृक्ष के शक्तिहीन होने पर कर्मभूमि का आरम्भ हुआ। इसी समय वृषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य तथा शिल्प इन ६ कर्मों द्वारा प्रजा को आजीविका का उपदेश दिया, जो स्पष्टतः वैदिक परम्परा से प्रभावित है।[104] आदिपुराण में यह भी उल्लेख है कि प्रजा का ठीक प्रकार से पालन करने के उद्देश्य से तथा उनकी आजीविका इत्यादि की व्यवस्था करने के उद्देश्य से वृषभदेव ने अपनी भुजाओं में शस्त्र धारण करके क्षत्रियों की सृष्टि की थी तथा उन्हें शस्त्र विद्या का उपदेश दिया था। तदनन्तर अपने ऊरुओं से वैश्यों की रचना की तथा पैरों से शूद्रों की रचना की। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन उत्तम वर्णों की सेवा-सुश्रूषा करना ही शूद्रों की आजीविका थी।[105] यह बात ब्राह्मण परम्परा में सामान्य रूप से प्रचलित इस विश्वास के साथ तादात्म्य स्थापित करती है कि ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण वर्ण की, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य तथा चरणों से शूद्र वर्ण की सृष्टि की थी। ध्यातव्य है

कि जैन पुराणों में वृषभदेव को आदि ब्रह्मा, प्रजापति और विधाता भी कहा गया है।[१०६] महापुराण में ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति चार वर्णों के पृथक-पृथक कार्य, उनके सामाजिक एवं धार्मिक अधिकार, चार आश्रमों और संस्कारों (तिरपन गर्भान्वय, अड़तालिस दीक्षान्वय एवं आठ कत्रन्वय क्रियाओं) का विस्तार से वर्णन है।[१०७] जिनसेन कृत आदि-पुराण में ही सर्वप्रथम गर्भादि सोलह संस्कारों का भी उल्लेख किया गया है। संभवतः ब्राह्मण परम्परा के अनुकरण पर उन्होंने अपने मत के अनुयायियों के लिये इसे विकल्प रूप में रखा है।[१०८] महापुराण के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों को अपने-अपने वर्णानुसार निर्धारित आजीविका के अतिरिक्त अन्य आजीविका को ग्रहण करना निषेध था।[१०९] जिनसेन ने आदिपुराण में ब्राह्मत्व का आधार 'व्रत संस्कार' को माना है।[११०]

इस प्रकार महापुराण की विषय सामग्री एवं रचनाकारों की बहु-पक्षीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अध्ययन से ९वीं और १०वीं शती ई० के प्रारम्भ के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महापुराण का महत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। महापुराण में एक ओर जैन धर्म एवं परम्परा के मूलभूत तत्त्वों की निष्ठापूर्वक चर्चा की गयी है और दूसरी ओर जिनसेन व गुणभद्र के व्यापक चिन्तन तथा तत्कालीन परिस्थितियों के कारण वैदिक और काफी सीमा तक ब्राह्मण परम्परा के साथ समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की गयी है। इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति तथा राष्ट्रकूट शासकों के साथ महापुराण की समकालिकता के कारण जैनधर्म और कला दोनों ही दृष्टियों से महा-पुराण की सामग्री का विशेष महत्त्व निर्विवाद है।

पाद-टिप्पणी

१. के० ऋषभचन्द्र, 'जैन पुराण साहित्य', म० जै० वि० गो० जु० वा०, पृ० ७१-७२।

२. देवी प्रसाद मिश्र, जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद १९८८, पृ० १३-१७; एम० विन्टरनिट्ज़, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड-२ (बुद्धिस्ट ऐण्ड जैन लिट्रेचर), कलकत्ता १९३३, पृ० ४९६-९९।

३. श्वेताम्बर ग्रन्थों में शलाकापुरुषों की बलदेव, वासुदेव व प्रतिवासुदेव कहा गया है।

४. आदिपुराण (जिनसेनकृत), सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थ संख्या ८, वाराणसी १९६३, २५.१००-२१७ ।
५. आदिपुराण २५.१००-२१७; १२.६९, ८५; १३.४७; १४.१-२०, १०३; २२.१८.२२; ३८.२१; उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत), सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी १९६३ एवं १९६५, ६३. १६९; ६८.८९-९०, २८२-८४; ५४.१७५; ७०.२७४; ७३. ३६९-४९५; ७३.५६-६० ।
६. आदिपुराण ३६.११०, १८३ ।
७. मारुतिनन्दन तिवारी, 'ए नोट ऑन सम बाहुबली इमेजेज ऑफ नार्थ इण्डिया', ईस्ट ऐण्ड वेस्ट, खण्ड–३-४, सितम्बर-दिसम्बर ९९७३, पृ० ३४७-५३ ।
८. आदिपुराण १.२१-२३ ।
९. आदिपुराण १.२४ ।
१०. आदिपुराण १.२५ ।
११. आदिपुराण १.१९-२० ।
१२. आदिपुराण, प्रधान सम्पादकीय से उद्धृत, पृ० १ ।
१३. उत्तरपुराण, प्रस्तावना, पृ० ११-१३ ।
१४. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १० ।
१५. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई १९५६, पृ० १३६ ।
१६. उत्तरपुराण, प्रास्ताविक, पृ० १० ।
१७. गुलाबचन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, वाराणसी १९७३, पृ० ५८ ।
१८. वहीं, पृ० ३४ ।
१९. वहीं, पृ० ३५ ।
२०. आदिपुराण १२.६९, ८५; १३.४७; १४.२०, १०३, १५४; २५.१००-२१७; उत्तरपुराण ६३.१६९; ६७.१४८-७२०; ७०.३६९-४९५; ७१. ६-२२२ ।
२१. आदिपुराण ३२.१६६; ३८.२१८; ४५.१५३-१५५; उत्तरपुराण ५७. १७-३४ ।
२२. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १२ ।
२३. आदिपुराण ४.३९-४० ।
२४. आदिपुराण १२.८-८२ ।
२५. ऐरावत गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमालाएँ, चन्द्र, सूर्य, कलशयुगल,

मीनयुगल, सरोवर, समुद्र, सिंहासन, विमान, नागेन्द्र, भवन, रत्नराशि तथा अग्नि, आदिपुराण १२.१०३-११९ ।

२६. आदिपुराण १२.१६४-६५ ।
२७. आदिपुराण १४.१०६-१५८ ।
२८. आदिपुराण १६.१७९-१८९ ।
२९. आदिपुराण १७.४-२०१ ।
३०. आदिपुराण २२.१-१४ ।
३१. आदिपुराण २२.७७-३१६; २३.१-१०५ ।
३२. आदिपुराण २५.१००-२१७ ।
३३. पउमचरिय ४.४ एवं ५.१२२ ।
२४ उत्तरपुराण, प्रस्तावना, पृ० १४ ।
३५. उत्तरपुराण ४८.१३८-१४० ।
३६. उत्तरपुराण ६२.४३०-४४७ ।
३७. उत्तरपुराण ६३.२०० ।
३८. उत्तरपुराण, प्रस्तावना, पृ० १८ ।
३९. उत्तरपुराण ७४.३३१-३३७ ।
४०. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १५ ।
४१. वहीं ।
४२. वहीं, पृ० १६ ।
४३. वहीं ।
४४. वहीं ।
४५. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० ५९; नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १३३ ।
४६. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १६; नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० २८-२९ ।
४७. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १७ ।
४८. आगत्य चित्रकूटात्तत: स भगवान गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्र कृत जिनगृहे स्थित्वा ॥
—श्रुतावतार—१७९,
द्रष्टव्य, आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १८ ।
४९. नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १४३ ।
५०. वहीं, पृ० १४५ ।
५१. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० ५९ ।
५२. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १९ ।

५३. जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥
यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं संकीर्तयत्यसौ ॥
वर्धमानपुराणोद्यदादित्यो विन्तगमस्तयः ।
प्रस्फुरन्ति गिरीशानाः स्फुटस्फटिक भित्तिषु ॥

—हरिवंशपुराण १.३९-४१ ।

५४. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० ३० ।
५५. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० २०; नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १४० ।
५६. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० २० ।
५७. ए० एस० अलतेकर, 'दि राष्ट्रकूट एम्पायर', दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई १९८४, पृ० ८-९, ११ ।
५८. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल १९६२; पृ० ३८ ।
५९. ए० बी० पुसाल्कर, 'जैनीज्म', दि एज ऑव इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २९१ ।
६०. नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १४०; गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० ६० ।
६१. नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १४०-४१ ।
६२. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ३८, १२१; ए० एस० अल्तेकर, पू० नि०, पृ० ११ ।
६३. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० २१ ।
६४. वहीं ।
६५. वहीं, पृ० २२ ।
६६. वर्धमानपुराण अप्राप्य है, इसी कारण नाथूराम प्रेमी इसे किसी अन्य की रचना मानते हैं । नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १३८ ।
६७. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० २३ ।
६८. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० २८ ।
६९. वहीं ।
७०. ए० के० कुमारस्वामी, इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन आर्ट, दिल्ली १९६९, प्रस्तावना ।
७१. वहीं, गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० ८ ।

७२. वहीं, पृ० ९।
७३. ए० एस० अल्तेकर, पू० नि०, पृ० ११।
७४. वहीं, पृ० ११, ए० डी० पुसाल्कर, पू० नि०, पृ० २९३-९४; हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ३८।
७५. ए० एस० अल्तेकर, पू० नि०, पृ० ११।
७६. नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १४८।
७७. वहीं, पृ० १४९।
७८. ए० डी० पुसाल्कर, पू० नि०, पृ० २९१।
७९. नाथूराम प्रेमी, पू० नि०, पृ० १५२।
८०. वहीं, पृ० १५३।
८१. वहीं, पृ० १५०।
८२. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ३८।
८३. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० १०।
८४. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, वाराणसी १९८१, पृ० २२।
८५. बृजनारायण शर्मा, सोशल लाईफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली १९६६, पृ० २१२-१३।
८६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २२।
८७. यू० पी० शाह, 'सिक्सटीन जैन महाविद्याज', ज० ई० सो० ओ०, आ०, खण्ड-१५, पृ० ११४।
८८. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० ४।
८९. वहीं।
९०. अग्निध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्नामहात्मनः॥
—मार्कण्डेयपुराण ५०.३९-४१,
द्रष्टव्य, आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १४।
९१. आदिपुराण २५.१००-२१७।
९२. उत्तरपुराण ६२.३८७-४००।
९३. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ४-५।
९४. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० १२।

९५. वही, पृ० १२-१३ ।
९६. वही, पृ० १३ ।
९७. वही ।
९८. वही ।
९९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २१ ।
१००. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० १३ ।
१०१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २२ ।
१०२. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० १४ ।
१०३. गोकुलचन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर १९६७, पृ० ५९ ।
१०४. आदिपुराण १६.१७९-१८० ।
१०५. आदिपुराण १६.२४१-२४५ ।
१०६. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १५ ।
१०७. गोकुलचन्द्र जैन, पू० नि०, पृ० ६८-७० ।
१०८. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० ५७ ।
१०९. आदिपुराण १६.१८७ ।
११०. आदिपुराण १६.२४३-२४६ ।

●

द्वितीय अध्याय

जैन देवकुल

जैन देवकुल के स्वरूप को समझने के लिये, जैन साहित्य के आधार पर, जैन देवकुल के क्रमिक विकास एवं जैन देवकुल में समय-समय पर हुए परिवर्तनों एवं नवीन देवों के आगमन के कारणों का अध्ययन आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में विकास को स्पष्टतः समझने के लिये उसे प्रारम्भिक काल (प्रारम्भ से पाँचवीं शती ई०) और परवर्ती काल (६ठीं से १५वीं शती ई०)में बाँटकर अध्ययन किया गया है।

(क) प्रारम्भिक काल (प्रारम्भ से पाँचवीं शती ई० तक) :

प्रारम्भिक जैन साहित्य के अन्तर्गत महावीर के समय (ल० छठीं शती ई० पू०) से पाँचवीं शती ई० के अन्त तक के ग्रन्थ सम्मिलित हैं। ग्रन्थों की यह समय सीमा दो दृष्टियों से रखी गयी है। प्रथम, जैनधर्म के सभी ग्रन्थ ल० पाँचवीं शती ई० के मध्य या छठी शती ई० के प्रारंभ में देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी (गुजरात) वाचन में लिपिबद्ध किये गये। दूसरे, इन ग्रन्थों में जैन देवकुल की केवल सामान्य अवधारणा ही प्रतिपादित है।[1]

आगम ग्रन्थ जैनों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। उपलब्ध आगम ग्रन्थों के प्राचीनतम अंश लगभग चौथी शती ई० पू० के अन्त और तीसरी शती ई० पू० के प्रारम्भ के हैं।[2] काफी समय तक श्रुत परम्परा में सुरक्षित रहने के कारण कालक्रम के साथ इन प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों में प्रक्षेपों के रूप में नवीन सामग्री जुड़ती गयी।[3] इसकी पुष्टि भगवतीसूत्र (पाँचवाँ अंक) में पाँचवीं शती ई०[4], रायपसेणिय (राजप्रश्नीय—दूसरा उपांग) में कुषाणकालीन[5] और अंगविज्जा में कुषाण-गुप्त सन्धि-कालीन[6] सामग्रियों की प्राप्ति से होती है। जहाँ श्वेताम्बरों ने आगमों को संकलित कर यथाशक्ति सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, वहीं दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद (१५६ ई०) आगमों का मौलिक स्वरूप विलुप्त हो गया।[7] आगम साहित्य के अतिरिक्त कल्पसूत्र (ल० तीसरी शती ई०) व पउमचरिय (४७३ ई०) भी प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं।

चौबीस जिनों की धारणा :

चौबीस जिनों की धारणा जैनधर्म की धुरी है। जैन देवकुल के अन्य देवों की कल्पना सामान्यतः इन्हीं जिनों से सम्बद्ध व उनके सहायक देवों के रूप में हुई है। जिनों को देवाधिदेव और इन्द्र आदि देवों द्वारा वन्दनीय कहा गया है। इनका जीव भी अतीत में सामान्य व्यक्ति की तरह वासना व कर्मबन्धन में लिप्त था पर, आत्ममनन, साधना एवं तपश्चर्या के परिणामस्वरूप उसने कर्मबन्धन से मुक्त होकर केवलज्ञान की प्राप्ति की।[९] कर्म एवं वासना पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें 'जिन' (विजेता) कहा गया। कैवल्य प्राप्ति के पश्चात साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के सम्मिलित तीर्थ की स्थापना करने के कारण इन्हें 'तीर्थंकर' भी कहा गया।[१०]

२४ जिनों की प्राचीनतम सूची समवायांगसूत्र (चौथा अंग) में प्राप्त होती है। इस सूची में ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयांश, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुन्थु और मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व एवं वर्धमान के नाम हैं।[११] भगवतीसूत्र (पाँचवाँ अंग)[१२], कल्पसूत्र[१३], चतुर्विंशतिस्तव या लोगस्ससुत्त—(भद्रबाहुकृत)[१४] एवं पउमचरिय[१५] में भी २४ जिनों की उपर्युक्त सूची ही प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्र में मुनिसुव्रत, नायाधम्मकहाओ में नारी तीर्थंकर मल्लिनाथ एवं कल्पसूत्र में ऋषभ, नेमि (अरिष्टनेमि), पार्श्व एवं महावीर के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के विस्तृत उल्लेख भी मिलते हैं।[१६] इस प्रकार स्पष्ट है कि २४ जिनों की सूची ईसवी सन् के प्रारम्भ के पूर्व ही निर्धारित हो चुकी थी।[१७]

विद्वान् २४ जिनों में केवल अन्तिम दो जिनों पार्श्वनाथ एवं महावीर (या वर्धमान) को ही ऐतिहासिक मानते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (अध्याय २३) में पार्श्वनाथ एवं महावीर के दो शिष्यों, केसी और गौतम, के मध्य जैन संघ के सम्बन्ध में उनके वार्तालाप का जो उल्लेख है[१८] तथा महावीर की यह युक्ति कि 'जो कुछ पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है मैं वही कह रहा हूँ'[१९], पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करते हैं।

शलाकापुरुष :

प्रारम्भिक ग्रन्थों में २४ जिनों के अतिरिक्त अन्य शलाका (या

उत्तम) पुरुषों का भी उल्लेख हुआ है। जिनों सहित इनकी कुल संख्या ६३ है। स्थानांगसूत्र में उल्लेख है कि प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी युग में अर्हन्त (जिन), चक्रवर्ती, बलदेव व वासुदेव उत्तम पुरुष उत्पन्न हुए।[२०] समवायांगसूत्र में २४ जिनों के साथ १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव तथा ९ प्रतिवासुदेव के उल्लेख हैं, पर शलाकापुरुषों की संख्या ६३ के स्थान पर ५४ ही बतायी गयी है। ९ प्रतिवासुदेवों को उत्तमपुरुषों में नहीं सम्मिलित किया गया।[२१] कल्पसूत्र में भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं वासुदेव का उल्लेख है,[२२] किन्तु यहाँ इनकी संख्या नहीं दी गयी है।

६३ शलाकापुरुषों की पूरी-पूरी सूची सर्वप्रथम पउमचरिय में मिलती है।[२३] इसमें २४ जिनों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती (भरत, सागर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, पद्म, हरिषेण, जयसेन तथा ब्रह्मदत्त), ९ बलदेव (अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म या राम तथा बलराम), ९ वासुदेव (त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, दत्त, नारायण या लक्ष्मण तथा कृष्ण) और ९ प्रतिवासुदेव (अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, मधुकैटभ, बलि, प्रह्लाद, रावण तथा जरासन्ध) सम्मिलित हैं।[२४] इस सूची को ही कालान्तर में बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किया गया। इस ग्रन्थ में आगे के उत्सर्पिणी काल में भी इतने ही महापुरुषों के होने का उल्लेख है। इस प्रकार जैन देवकुल की प्रारम्भिक अवधारणा की दृष्टि से पउमचरिय की ६३ शलाकापुरुषों की सूची का विशेष महत्त्व है।[२५] पउमचरिय में राम-रावण और भरत चक्रवर्ती की कथा का भी विस्तृत वर्णन है। इसका मुख्य कारण राम तथा कृष्ण का जनमानस से जुड़े सर्वाधिक लोकप्रिय चरित्र होना है जिनके विस्तृत उल्लेख क्रमशः रामायण तथा महाभारत में हैं। इन महाकाव्यों के चरित्रनायक राम और कृष्ण की जनप्रियता के कारण ई० शती के प्रारम्भ या कुछ पूर्व ही इन्हें 'जैन देवमण्डल' में प्रतिष्ठापरक स्थान मिला।[२६] रामायण के तीनों प्रमुख पात्रों राम, लक्ष्मण तथा रावण (दशानन) को जैन देवकुल में लगभग ५वीं शती ई० में ६३ शलाकापुरुषों की सूची में क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव के रूप में सम्मिलित किया गया।[२७] पउमचरिय में उल्लेख है कि सर्वप्रथम महावीर ने रामकथा का वर्णन किया जिसे कालान्तर में साधुओं ने धारण किया, विमलसूरि ने उसी कथा को अधिक विस्तार तथा

स्पष्टता के साथ गाथाओं में निबद्ध किया।[२८] पउमचरिय के अन्त में यह भी उल्लेख है कि पूर्वग्रन्थों में आये हुये नारायण तथा हलधर के चरितों को सुनकर ही विमलसूरि ने राघव-चरित की रचना की।[२९] कई स्थलों पर राम को पद्म, हलधर, हलायुध तथा लक्ष्मण को नारायण, चक्रधर तथा चक्रपाणि विशेषणों या नामों से भी अभिहित किया गया है।[३०]

कृष्ण-बलराम :

कुछ प्रारम्भिक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि ई० सन् के पूर्व ही कृष्ण-बलराम को जैन देवकुल में सम्मिलित कर लिया गया था।[३१] उत्तराध्ययनसूत्र (ल० चौथी-तीसरी शती ई० पू०)[३२] के रथनेमि शीर्षक २२वें अध्याय में कृष्ण से सम्बन्धित कुछ उल्लेख हैं।[३३] उत्तराध्ययनसूत्र के विवरण को ही कालान्तर में, ७वीं शती ई० के बाद जैन ग्रन्थों (हरिवंशपुराण, महापुराण (पुष्पदन्तकृत)), त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया।[३४] नायाधम्मकहाओ एवं अन्तगड्दसाओ में भी कृष्ण से सम्बन्धित उल्लेख है।[३५] पौराणिक दृष्टि से राम के पूर्ववर्ती होने के बाद भी जैन परम्परा में राम की अपेक्षा कृष्ण के उल्लेख प्राचीन हैं। उत्तराध्ययनसूत्र, अन्तकृतदशाः एवं ज्ञाताधर्मकथांग जैसे प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों में वासुदेव से सन्दर्भित विभिन्न प्रसंग वर्णित हैं।[३६]

लक्ष्मी :

कल्पसूत्र में लक्ष्मी का उल्लेख जिनों की माताओं द्वारा देखे गए शुभ स्वप्नों के उल्लेख के सन्दर्भ में आया है। लक्ष्मी को दो गजों से अभिषिक्त, पद्मासीन तथा दोनों हाथों में पद्मधारिणी निरूपित किया गया है।[३७] पउमचरिय में एक स्थल पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति तथा बुद्धि आदि देवियों के साथ लक्ष्मी का उल्लेख हुआ है।[३८]

सरस्वती :

प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में सरस्वती का उल्लेख मेधा या बुद्धि के देवता या श्रुत देवता के रूप में प्राप्त होता है।[३९] भगवतीसूत्र[४०] तथा पउमचरिय[४१] में बुद्धि देवी का उल्लेख श्री, ह्री, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी के साथ किया गया है। अंगविज्जा में भी सरस्वती का उल्लेख मेधा एवं बुद्धि के देवता के रूप में है।[४२] जिनों की शिक्षाएँ जिनवाणी,

आगम या श्रुत के रूप में जानी जाती थीं और सम्भवतः इसी कारण जैन आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के हाथ में पुस्तक के प्रदर्शन की परम्परा आरम्भ हुई।[४३] सरस्वती का लाक्षणिक स्वरूप आठवीं शती ई० के बाद के जैन ग्रन्थों में विवेचित हुआ। जैन शिल्प में यक्षी अम्बिका एवं चक्रेश्वरी के बाद सरस्वती ही सर्वाधिक लोकप्रिय थीं। जैन शिल्प में सरस्वती की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति कुषाणकाल (१३२ ई०) की है जिसमें देवी के एक हाथ में पुस्तक प्रदर्शित है।[४४]

इन्द्र :

जैन परम्परा में इन्द्र को जिनों का प्रधान सेवक स्वीकार किया गया है। स्थानांगसूत्र में नामेन्द्र, स्थापनेन्द्र, द्रव्येन्द्र, ज्ञानेन्द्र, दर्शनेन्द्र, चारित्रेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुष्येन्द्र आदि कई इन्द्रों के उल्लेख हैं।[४५] ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि जिनों के जन्म, दीक्षा तथा कैवल्य प्राप्ति के अवसरों पर देवेन्द्र का पृथ्वी पर शीघ्रता से आगमन होता है।[४६] कल्पसूत्र में इन्द्र (शक्र) का उल्लेख वज्र धारण करने वाले तथा ऐरावत गज पर आरूढ़ देवता के रूप में हुआ है।[४७] पउमचरिय में इन्द्र द्वारा जिनों के जन्माभिषेक करने तथा कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् समवसरण के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[४८] ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई० में जिनों के जीवनवृत्तों के अंकन के सन्दर्भ में इन्द्र को सर्वत्र आमूर्तित किया गया।[४९]

नगमेषी :

जैन देवकुल में अजमुख नैगमेषी (या हरिनैगमेषी या हरिणैगमेषी) का उल्लेख इन्द्र के पदाति सेना के सेनापति के रूप में हुआ है।[५०] अन्तगड्दसाओ एवं कल्पसूत्र में नैगमेषी को बालकों के जन्म से भी सम्बन्धित बताया गया है। कल्पसूत्र में उल्लेख है कि शक्रेन्द्र ने महावीर के भ्रूण को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित करने का कार्य अपनी पदाति सेना के अधिपति हरिणैगमेषी देव को दिया था।[५१] इसी प्रकार अन्तगड्दसाओ में पुत्र प्राप्ति के लिये हरिनैगमेषी के पूजन और प्रसन्न होकर देवता द्वारा अपने गले का हार देने के उल्लेख हैं।[५२] उपर्युक्त परम्परा के कारण ही जैन शिल्प में नैगमेषी के साथ लम्बा हार एवं बालक प्रदर्शित हुए। मथुरा से नैगमेषी की कई कुषाणकालीन स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं।[५३] कुम्भा-

रिया, देलवाड़ा एवं अन्य स्थलों पर तीर्थंकरों के जीवन दृश्यों में जन्माभिषेक के प्रसंग में भी नैगमेषी का उकेरन हुआ है।

यक्ष :

प्राचीन भारतीय साहित्य में यक्षों का उल्लेख उपकार या अपकार के कर्त्ता के रूप में है। कुमारस्वामी के अनुसार यक्षों व देवों के बीच कोई विशेष भेद नहीं था और यक्ष शब्द देव का समानार्थी था।[५४] जैन ग्रन्थों में भी यक्षों का उल्लेख अधिकांशतः देवों के ही रूप में हुआ है।[५५] उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लेख है कि संचित सत्कर्मों के प्रभाव को भोगने के बाद यक्ष पुनः मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं।[५६] भगवतीसूत्र में वैश्रमण के प्रति पुत्र के समान आज्ञाकारी १३ यक्षों की सूची दी है जिनके नाम—पुन्नभद्द, मणिभद्द, शालिभद्द, सुमणभद्द, चक्क, रक्ख, पुण्णरक्ख, सव्वन, सव्वजस, समिध्ध, अमोह, असंग तथा सव्वकाम हैं।[५७] इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वातिकृत) में भी एक स्थल पर १३ यक्षों की सूची है जिनके नाम—पूर्णभद्र, मणिभद्र, सुमनोभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष तथा यक्षोत्तम हैं।[५८] जैन आगमों में विभिन्न स्थलों के चैत्यों का उल्लेख है जहाँ महावीर विश्राम करते थे। उनमें पूर्णभद्र, बहुपुत्रिका तथा गुणशिल जैसे चैत्यों का उल्लेख निश्चित ही यक्ष चैत्यों से सम्बन्धित है।[५९] जैन ग्रन्थों में यक्ष का निरूपण जिनों के चामरधारी सेवक के रूप में भी हुआ है।[६०] जैन ग्रन्थों में मणिभद्र, पूर्णभद्र यक्ष तथा बहुपुत्रिका यक्षी को विशेष महत्त्व दिया गया है।[६१] पउमचरिय में पूर्णभद्र तथा मणिभद्र यक्षों का शान्तिनाथ के सेवक के रूप में उल्लेख है।[६२] भगवतीसूत्र में बहुपुत्रिका को मणिभद्र व पूर्णभद्र यक्षेन्द्रों की चार प्रमुख रानियों में एक बताया गया है।[६३] यू० पी० शाह के अनुसार जैन देवकुल के प्राचीनतम यक्ष-यक्षी सर्वानुभूति (या मातंग या गोमेध)[६४] और अम्बिका की कल्पना निश्चित रूप से मणिभद्र-पूर्णभद्र, यक्ष तथा बहुपुत्रिका यक्षी के पूजन की प्राचीन परम्परा आधारित है।[६५]

विद्यादेवियाँ :

विद्याओं के नामों एवं लाक्षणिक स्वरूपों की धारणा प्रारम्भिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। ये वस्तुतः तांत्रिक देवियाँ थीं। यू० पी० शाह

के अनुसार विद्यादेवियों का अस्तित्व महावीर तथा बुद्ध के ही समय से था।[६६] पउमचरिय तथा वसुदेवहिण्डी विभिन्न विद्यादेवियों जैसे रोहिणी, प्रज्ञप्ति, सवास्त्रमहाज्वाला, गौरी तथा गान्धारी के विषय में जानकारी का प्राचीनतम स्रोत है। उसके बाद १६ विद्यादेवियों या महाविद्याओं की सूची बनी।[६७] जैन शिल्प में लगभग आठवीं-नवीं शती ई० से ही इनका निरूपण मिलने लगता है।[६८] आगम ग्रन्थों में विद्याओं का आचरण जैन आचार्यों के लिए वर्जित था। पर कालान्तर में विद्यादेवियाँ, ग्रन्थ एवं शिल्प की सर्वाधिक लोकप्रिय विषय-वस्तु बन गयीं। जैन परम्परा में इन विद्याओं की संख्या ४८ हजार तक बतायी गयी है।[६९] बौद्ध एवं जैन साहित्य बुद्ध एवं महावीर के समय में जादू, चमत्कार, मंत्रों एवं विद्याओं का उल्लेख करते हैं।[७०] नायाधम्मकहाओ में उत्पतनी (उप्पयनी) एवं चोरों की सहायक विद्याओं का उल्लेख है।[७१] इस ग्रन्थ में महावीर के प्रमुख शिष्य सुधर्मा को मंत्र व विद्या का ज्ञाता बताया गया है। स्थानांगसूत्र में जांगोलि एवं मातंग विद्याओं के उल्लेख हैं।[७२] सूत्रकृतांगसूत्र के पापश्रुतों में वैताली, अर्धवैताली, अवस्वपनी, तालुध्वादणी, श्वापाकी, सोवारी, कलिंगी, गौरी, गान्धारी, अवेदनी, उत्पतनी एवं स्तम्भनी आदि विद्याओं के उल्लेख हैं।[७३] सूत्रकृतांगसूत्र के गौरी एवं गान्धारी विद्याओं को कालान्तर में १६ महाविद्याओं की सूची में सम्मिलित किया गया।[७४] पउमचरिय विद्यादेवियों के प्रारम्भिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। राम, लक्ष्मण, रावण एवं ग्रन्थ के अन्य पात्रों द्वारा युद्धादि के समय अनेक प्रकार की विद्याओं की प्राप्ति के लिए पूजन आदि के सन्दर्भ मिलते हैं।[७५] राम व लक्ष्मण द्वारा प्राप्त की गयी गरुडा और केसरी विद्याओं से ही कालान्तर में अप्रतिचक्रा और महामानसी विद्याओं का स्वरूप विकसित हुआ जिनके वाहन गरुड और सिंह हैं।[७६] विद्याओं की प्राप्ति के लिए वीतरागी तीर्थंकरों की आराधना के सन्दर्भ सर्वप्रथम पउमचरिय में ही मिलते हैं।[७७] एक स्थल पर रावण द्वारा शान्तिनाथ के मन्दिर में बहुरूपा या (बहुरूपिणी) महाविद्या की सिद्धि करने तथा युद्धस्थल में इस महाविद्या के रावण के समीप ही स्थित होने के सन्दर्भ महत्वपूर्ण हैं।[७८]। एक स्थल पर रावण द्वारा विविधरूपधारी हजारों विद्याओं की सिद्धि का भी उल्लेख हुआ है।[७९] इस ग्रन्थ में रावण द्वारा सिद्ध अनेक विद्याओं में से एक स्थल पर ५५ विद्याओं की सूची भी दी गयी है जिनमें से प्रज्ञप्ति, कौमारी, लघिमा, वज्रोदरी, वरुणी, विजया, जया,

वाराही, कौबेरी, योगेश्वरी, चाण्डाली, शंकरी, बहुरूपा तथा सर्वकामा आदि विद्याओं का उल्लेख ग्रन्थ में विभिन्न स्थलों पर हुआ है।[८०] एक स्थल पर रावण के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से राम व लक्ष्मण द्वारा स्मरण किये जाने पर महालोचन देव द्वारा राम को सिंहवाहिनी विद्या तथा लक्ष्मण को गरुडा विद्या दिये जाने का उल्लेख है।[८१] कालान्तर में इन्हीं विद्याओं से गरुडवाहिनी अप्रतिचक्रा तथा सिंहवाहिनी महामानसी महाविद्याओं की धारणा विकसित हुई।[८२] पउमचरिय में उल्लिखित विद्यादेवियों का कालान्तर में ल० आठवीं-नवीं शती ई० में १६ महाविद्याओं की सूची के निर्धारण की दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा है।[८३]

लोकपाल :

आगमग्रन्थों में लोकपालों का भी उल्लेख मिलता है। पउमचरिय में लोकपालों से घिरे इन्द्र के ऐरावत गज पर आरूढ़ होने का उल्लेख है।[८४] इन्द्र ने ही शशि (सोम) को पूर्व, वरुण को पश्चिम, कुबेर को उत्तर तथा यम को दक्षिण दिशा में स्थापना की।[८५]

अन्य देवता :

स्थानांगसूत्र[८६] तथा अन्य जैन आगम ग्रन्थों में जैन देवों को चार प्रमुख वर्गों में विभक्त किया गया है—भवनवासी (एक स्थल पर निवास करने वाले), व्यन्तर (भ्रमणशील), ज्योतिष्क (आकाशीय नक्षत्र से सम्बन्धित) एवं वैमानिक या विमानवासी (स्वर्ग के देव)।[८७] जैन देवकुल के इस वर्गीकरण को दोनों सम्प्रदायों (दिगम्बर तथा श्वेताम्बर) ने समान रूप से स्वीकार किया।[८८] दोनों ही संप्रदायों ने पहले वर्ग में १०, दूसरे में ८, तीसरे में ५ तथा चौथे वर्ग में ३० देवताओं को स्वीकार किया है। देवताओं का यह विभाजन निरन्तर मान्य रहा, पर शिल्प में इन्द्र, यक्ष, अग्नि, नवग्रह तथा कुछ अन्य को ही आकारित किया गया।[८९] जैन ग्रन्थों में ऐसे देवों के भी उल्लेख हैं जिनकी पूजा लोक परम्परा में प्रचलित थी और जो हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में भी लोकप्रिय थे।[९०] इनमें रुद्र, शिव, स्कन्द, मुकुन्द, वासुदेव, वैश्रमण (या कुबेर), गन्धर्व, पितर, नाग, भूत, पिशाच, लोकपाल (सौम, यम, वरुण, कुबेर), वैश्वानर (अग्निदेव) आदि देव तथा श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, अज्जा (पार्वती या आर्या या चण्डिका), कोट्टकिरिया (महिषासुरवधिका) आदि देवियाँ प्रमुख हैं।[९१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पाँचवीं शती ई० के अन्त तक जैन देवकुल के मूल स्वरूप की अवधारणा काफी हद तक नियत हो चुकी थी। इन ग्रन्थों में जिनों, शलाकापुरुषों, यक्षों, विद्याओं, सरस्वती, लक्ष्मी, कृष्ण बलराम, नैगमैषी एवं लोकधर्म में प्रचलित विभिन्न देवों के नामोल्लेख एवं कहीं लक्षणपरक प्रारम्भिक सन्दर्भ भी मिलते हैं।[९२]

(ख) परवर्तीकाल (६ठी से १५वीं शती ई० तक) :

जैन देवकुल के परवर्ती विकास के अध्ययन में ल० छठी से १५वीं शती ई० की साहित्यिक सामग्री का उपयोग किया गया है। हीरालाल जैन के अनुसार आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों को संक्षेप या विस्तार से समझाने के लिये छठी-सातवीं शती ई० में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थों की रचना की गयी जिन्हें आगम का अंश माना गया।[९३]

आठवीं से १२वीं शती ई० के मध्य ६३ शलाकापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित कई श्वेताम्बर व दिगम्बर ग्रन्थों की रचना की गयी। कहावली (भद्रेश्वरकृत-श्वेताम्बर) तथा तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभकृत-दिगम्बर) ६३ शलाकापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित ल० आठवीं शती ई० के दो प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं।[९४] इसके अतिरिक्त ९वीं से ९२वीं शती ई० के मध्य ६३ शलाकापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें महापुराण (जिनसेन व गुणभद्रकृत—९वीं-१०वीं शती ई०), तिसट्ठि-महापुरिसगुणलंकारु (पुष्पदन्तकृत—९६५ ई०), एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (हेमचन्द्रकृत—१२वीं शती ई० का उत्तरार्ध) प्रमुख हैं।[९५] राम, कृष्ण तथा कौरव-पाण्डवों की कथावस्तु को लेकर अनेक जैन पौराणिक महाकाव्यों की रचना हुयी।[९६] रामविषयक पौराणिक महाकाव्यों में पउमचरिय (विमलसूरिकृत), पद्मचरित या पद्मपुराण (रविषेणकृत), त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (हेमचन्द्रकृत), उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत), महापुराण (पुष्पदन्तकृत) तथा कन्नड़ चामुण्डरायपुराण विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें विमलसूरिकृत पउमचरिय, रविषेणकृत पद्मपुराण तथा हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में रामकथा अधिकांशतः वाल्मीकि के रामायण के ऊपर आधारित है जबकि गुणभद्र के उत्तरपुराण, पुष्पदन्त के महापुराण एवं कन्नड़ चामुण्डरायपुराण की रामकथा विष्णुपुराण तथा बौद्ध दशरथ जातक से मिलती जुलती है।[९७]

महाभारत विषयक पौराणिक महाकाव्यों में जिनसेनकृत हरिवंश-पुराण (७८३ ई०), देवप्रभसूरिकृत पाण्डवचरित (१२१३ ई०), भट्टारक शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण (१५५१ ई०) प्रमुख हैं।[९८] १०वीं से १३वीं शती ई० के मध्य तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों आदि के जीवनचरित से संबंधित स्वतंत्र ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में लिखे गये।[९९] इनमें मुख्य रूप से ऋषभ, सुमति, सुपार्श्व, धर्म, वासुपूज्य, शान्ति, नेमि, पार्श्व एवं महावीर के ऊपर अधिक चरित ग्रन्थ लिखे गये।[१००] इनके अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती तथा अन्य शलाकापुरुषों पर जो स्वतंत्र रचनाएँ हुईं उनमें भरतेश्वराभ्युदयकाव्य (आशाधरकृत), सनत्कुमारचरित (श्री चन्द्रसूरिकृत), सुभौम चरित (भट्टारक-रत्नचन्द प्रथम), कृष्णचरित (देवेन्द्रसूरि) प्रमुख हैं।[१०१] इनके अतिरिक्त चतुर्विंशतिका (बप्पभट्टिसूरिकृत—७४३-८३८ ई०), निर्वाणकलिका (ल० ११वीं-१२वीं शती ई०), प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२वीं शती ई०), मन्त्राधि-राजकल्प (ल० १२वीं शती ई०), त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, चतुर्वि-शति-जिनचरित्र (अमरचन्दसूरि—१२४१ ई०), प्रतिष्ठासारोद्धार (१३वीं शती ई० का पूर्वार्ध), प्रतिष्ठातिलकम (१५४७ ई०) एवं आचारदिनकर (१४१२ ई०) जैसे प्रतिमा लाक्षणिक ग्रन्थों की भी रचना हुई जिनमें प्रतिमा निरूपण से सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख हैं।[१०२] ल० छठी से १०वीं शती ई० के मध्य जैन देवकुल के देवों की संख्या एवं उनके धार्मिक कृत्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। परवर्ती युग में जैन देवकुल में २४ जिनों और उनके यक्ष-यक्षी युगलों (शासन देवताओं) अन्य ३९ शलाकापुरुष, १६ महाविद्या, अष्टदिक्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, गणेश, ब्रह्मशान्ति एवं कपर्दि यक्ष, ६४ योगिनी (आचारदिनकर), शान्ति देवी, जिनों के माता-पिता एवं भरत, बाहुबली आदि सम्मिलित थे। इसी अवधि में इन देवों की स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ भी निर्धारित हुईं।[१०३]

यक्ष-यक्षी :

ल० ६ठी शती ई० में जिनों के साथ यक्ष-यक्षी युगलों (शासन-देवताओं) की धारणा का विकास हो चुका था।[१०४] ये यक्ष-यक्षी जिनों के सेवक के रूप में संघ की रक्षा करते हैं।[१०५] यक्ष-यक्षी युगल से युक्त प्राचीनतम जिन मूर्ति छठी शती ई० की है।[१०६] ल० आठवीं-नवीं शती ई० तक २४ जिनों के स्वतंत्र यक्ष-यक्षी युगलों की सूची निर्धारित हो

गयी थी।[१०७] यक्ष-यक्षी युगलों की प्रारम्भिक सूची तिलोयपण्णत्ति[१०८] (दिगम्बर), कहावली (श्वेताम्बर) एवं प्रवचनसारोद्धार[१०९] (श्वेताम्बर) में वर्णित है।

तिलोयपण्णत्ति में वर्णित २४ यक्ष-यक्षियों की सूची इस प्रकार है।[११०] २४ यक्षों में गोवदन, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुम्बुख, मातंग, विजय, अजित, ब्रह्म, ब्रह्मेश्वर, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, कुबेर, वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व, मातंग तथा गुह्यक का तथा २४ यक्षियों में चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, मनोवेगा, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, गौरी, गान्धारी, वैरोटी, सोलसा, अनन्तमती, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपिणी, कुष्माण्डी, पद्मा और सिद्धायिनी का नामोल्लेख हुआ है।

२४ यक्ष-यक्षी युगलों के लाक्षणिक स्वरूपों का विस्तृत निरूपण सर्वप्रथम ११वीं-१३वीं शती ई० के प्रतिष्ठा ग्रन्थों (निर्वाणकलिका, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, प्रतिष्ठासारसंग्रह एवं प्रतिष्ठासारोद्धार) में मिलता है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ग्रन्थों में यक्ष-यक्षियों के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं के सन्दर्भ में पर्याप्त अन्तर है।[१११] जैन शिल्प में केवल यक्षियों के ही सामूहिक उत्कीर्णन का प्रयास किया गया जिसका प्रारंभिकतम उदाहरण देवगढ़ (ललितपुर, उ० प्र०) के शान्तिनाथ मन्दिर (मन्दिर—१२, ८६२ ई०) पर है।[११२] महापुराण में तीर्थंकरों के साथ यक्ष-यक्षी युगलों का उल्लेख नहीं किया गया है।

विद्यादेवियाँ :

वसुदेवहिण्डी (संघदासकृत) में विद्याओं को गन्धर्व एवं पन्नगों से सबद्ध बताया गया है।[११३] आवश्यकचूर्णि (जिनदासकृत) एवं आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रसूरिकृत) में गौरी, गांधारी, रोहिणी तथा प्रज्ञप्ति का प्रमुख विद्याओं के रूप में उल्लेख है।[११४] लगभग नवीं शती ई० में अनेक विद्यादेवियों में से १६ महाविद्याओं की सूची तैयार हुई।[११५] पद्मचरित (रविषेणकृत–६७६ ई०) में नमि, विनमि की कथा तथा प्रज्ञप्ति विद्या का उल्लेख है।[११६] हरिवंशपुराण में प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अंगारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्याप्रकर्षिणी, महाश्वेता, मायूरी, हारी, निर्वज्रशाड्वला, तिरस्कारिणी, छायासंक्रामिणी, कूष्माण्ड, गणमाता, सर्वविद्याविराजिता, आर्यकुष्माण्डदेवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निर्वृति,

दण्डाध्यक्षगण, दण्डभूतसंहस्त्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली एवं कालमुखी आदि विद्याओं का उल्लेख हुआ है।[११७] उत्तरपुराण में कई अलग-अलग सन्दर्भों में अनेक विद्याओं का नामोल्लेख है जिनमें गरुडवाहिनी एवं सिंहवाहिनी पूर्वपरम्परा (पउमचरिय) की लोकप्रिय विद्याएँ हैं जिनसे क्रमशः अप्रतिचक्रा एवं महामानसी विद्यादेवियों का आविर्भाव हुआ। हनुमान एवं सुग्रीव द्वारा राम-लक्ष्मण को कई विद्याएँ देने और अमिततेज (विद्याधरों के इन्द्र एवं शांतिनाथ जिन के समकालीन) द्वारा विभिन्न विद्याओं की सिद्धि के सन्दर्भ में कामरूपिणी, उत्पादिनी, वशकीरणी, मातंगी, चाण्डाली, गौरी, रोहिणी, मनोवेगा, वेताली, महाज्वाला, बन्धमोचिनी, प्रज्ञप्ति, भ्रामरी, गरुडवाहिनी, सिंहवाहिनी विद्याओं के उल्लेख परवर्ती १६ महाविद्याओं की सूची निर्धारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[११८] १६ महाविद्याओं की सूची में अधिकांशतः पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उल्लिखित विद्याएँ ही सम्मिलित हैं।[११९] विजयपहुत्त (मानदेवसूरि-कृत, ९वीं शती ई०), संहितासार (इन्द्रनन्दिकृत ९३९ ई०) तथा स्तुतिचतुर्विंशतिका (शोभनमुनिकृत–ल० ९७३ ई०) में १६ महाविद्याओं की प्रारम्भिक सूची प्राप्त होती है जिसे बाद में उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया।[१२०] १६ महाविद्याओं की सूची में निम्नलिखित नाम मिलते हैं : रोहिणी, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा, नरदत्ता या पुरुषदत्ता, काली या कालिका, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्रमहाज्वाला या ज्वाला (ज्वालामालिनी-दिगम्बर), मानवी, वैरोट्या (वैरोटी-दिगम्बर), अच्छुप्ता (अच्युता-दिगम्बर), मानसी तथा महामानसी।[१२१]

१६ महाविद्याओं का अंकन विशेषरूप से राजस्थान एवं गुजरात में लोकप्रिय था। ९वीं शती ई० के बाद गुजरात (कुंभारिया, देलवाड़ा) एवं राजस्थान (ओसियाँ) के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों पर महाविद्याओं का नियमित अंकन प्राप्त होता है। १६ महाविद्याओं के सामूहिक उकेरन के उदाहरण कुम्भारिया, बनासकाँठा, (गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर (११वीं शती ई०), विमलवसही (१२वीं शती ई०) एवं लूण-वसही (रंगमंडप, १२३० ई०) से प्राप्त होते हैं।[१२२]

राम और कृष्ण :

वसुदेवहिण्डी, पद्मपुराण, कहावली, उत्तरपुराण,[१२३] महापुराण (पुष्पदन्तकृत–९६५ ई०), पउमचरिय (स्वयम्भूदेवकृत–९७७ ई०),

तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों में राम के जीवन से संबंधित विभिन्न घटनाओं एवं हरिवंशपुराण (जिनसेनकृत), हरिवंशपुराण (धवलकृत–११वीं-१२वीं शती ई०) एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में कृष्ण-बलराम के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं का विस्तृत उल्लेख हुआ है। जैन शिल्प में राम का रूपायन केवल खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर पर उपलब्ध है[१२४] जबकि बलराम-कृष्ण का निरूपण देवगढ़ (मन्दिर २) एवं राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्र० ६६.५३) की नेमिनाथ मूर्तियों में मिलता है।[१२५] इसके अतिरिक्त विमलवसही, लूणवसही एवं कुंभारिया के महावीर मन्दिरों के वितानों पर भी नेमिनाथ के जीवन दृश्यों में तथा स्वतंत्र रूप से बलराम-कृष्ण के अंकन द्रष्टव्य हैं।[१२६]

भरत व बाहुबली :

जैन ग्रन्थों में ऋषभनाथ के पुत्रों–भरत एवं बाहुबली के मध्य हुए युद्ध, बाहुबली की विजय, विरक्ति एवं कठिन साधना तथा जीवन के अन्तिम दिनों में भरत द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के विस्तृत उल्लेख हैं।[१२७] आदिपुराण में उल्लिखित भरत-बाहुबली के द्वन्द्व-युद्ध, बाहुबली की कठिन तपश्चर्या एवं कालान्तर में भरत चक्रवर्ती के दीक्षा लेने और कैवल्य प्राप्त करने के सन्दर्भ देवगढ़, खजुराहो, एलोरा, बादामी तथा अयहोल जैसे स्थलों पर, बाहुबली एवं भरत के शिल्पांकन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[१२८] जैन शिल्प में भरत-बाहुबली के युद्ध का विस्तृत शिल्पांकन विमलवसही एवं कुम्भारिया के शान्तिनाथ मन्दिर में हैं।[१२९] इसके अतिरिक्त भरत एवं बाहुबली की स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी देवगढ़, खजुराहो, बिलहरी एवं एलोरा में उत्कीर्ण हैं।[१३०]

जिनों के माता-पिता :

जैन ग्रन्थों में २४ जिनों की उपासना के उल्लेख मिलते हैं। माताओं की उपासना के सन्दर्भ जिनों के पिता की तुलना में अधिक मिलते हैं।[१३१] जिनों के माता-पिता की गणना महान आत्माओं में की गयी है।[१३२] समवायांगसूत्र में वर्णित माता-पिता की सूची ही कालान्तर में मान्य हुई।[१३३] यू० पी० शाह के अनुसार प्राचीनकाल से ही तीर्थंकरों के माता-पिता को भी जैन देवकुल व उपासना में महत्त्व प्राप्त था।[१३४] महापुराण में कई स्थलों पर इन्द्र द्वारा तीर्थंकरों के माता-पिता के पूजन

के सन्दर्भ कालान्तर में उनके स्वतंत्र शिल्पांकन और मूर्तिपूजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[१३५] जैन शिल्प व चित्रों में जिनों की माताओं के चित्रण का प्राचीन उदाहरण ओसियाँ (१०१८ ई०) से प्राप्त होता है। इसके अन्य उदाहरण पाटण, आबू, गिरनार, कुंभारिया (महावीर मन्दिर), खजुराहो एवं देवगढ़ से मिले हैं (चित्र २३)।[१३६] इसी प्रकार २४ जिनों के माता-पिता के सामूहिक अंकन के प्रारम्भिक उदाहरण (११वीं शती ई०) कुंभारिया के शांतिनाथ एवं महावीर मन्दिरों के वितानों पर देखे जा सकते हैं। इनमें आकृतियों के नीचे उनके नाम भी अभिलिखित हैं।[१३७]

दिक्पाल :

दिशाओं के स्वामी दिक्पालों या लोकपालों का पूजन वास्तुदेवताओं के रूप में भी लोकप्रिय था।[१३८] आदिपुराण में चार दिशाओं के चार लोकपालों (सोम, यम, वरुण, कुबेर) एवं उत्तरपुराण में अष्ट-दिक्पालों के नामोल्लेख मिलते हैं।[१३९] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में भी इन्द्र द्वारा चार लोकपालों—कुबेर, यम, अग्नि तथा ईशान की नियुक्ति का उल्लेख है जिनके वाहन, क्रमशः नर, महिष, मेष व वृषभ है।[१४०] दिक्पालों के प्रतिमानिरूपण से सम्बन्धित प्रारम्भिक उल्लेख निर्वाणकलिका एवं प्रतिष्ठासारसंग्रह में हैं पर जैन मन्दिरों पर इनका उत्कीर्णन ल० नवीं शती ई० में प्रारम्भ हुआ, जिसका उदाहरण ओसियां (राजस्थान) के महावीर मन्दिर पर है।[१४१] जैन ग्रन्थों में दस दिक्पालों के उल्लेख हैं जो इन्द्र (पूर्व), अग्नि (दक्षिण-पूर्व), यम (दक्षिण), निर्मृति (दक्षिण-पश्चिम), वरुण (पश्चिम), वायु (पश्चिम-उत्तर), कुबेर (उत्तर), ईशान (उत्तर-पूर्व), ब्रह्माण्ड (आकाश) एवं नागदेव (या धरणेन्द्र-पाताल) हैं। इनकी लाक्षणिक विशेषताएँ काफी कुछ ब्राह्मण परम्परा के दिक्पालों से प्रभावित हैं।[१४२] जैन शिल्प में अष्टदिक्पालों का ही उत्कीर्णन लोकप्रिय था।[१४३]

नवग्रह :

जैन देवकुल में नवग्रहों के स्वरूप का विकास प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों की सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि ज्योतिष्क देवों की धारणा से हुआ।[१४४] उत्तरपुराण में सूर्य पूजन और सूर्य मन्दिर निर्माण का उल्लेख है।[१४५] जैन शिल्प में विशेष रूप से दिगम्बर स्थलों पर नवग्रहों (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु व केतु) का उकेरन १०वीं शती

ई० में प्रारम्भ हुआ।[१४६] इनके उदाहरण खजुराहो के पार्श्वनाथ, देवगढ़ के शान्तिनाथ एवं धाणेराव के महावीर मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर देखे जा सकते हैं।[१४७]

क्षेत्रपाल :

क्षेत्रपाल को जैन देवकुल में ल० ग्यारहवीं शती ई० में सम्मिलित किया गया।[१४८] इनकी मूर्तियाँ केवल (११वीं-१२वीं शती ई०) खजुराहो एवं देवगढ़ जैसे दिगम्बर स्थलों से ही मिली हैं (चित्र ५१)।[१४९]

६४ योगिनियाँ :

मध्ययुग में ६४ योगिनियों की कल्पना की गयी। बी०सी० भट्टाचार्य ने जैन देवकुल के ६४ योगिनियों की दो सूचियाँ दी हैं।[१५०] इनमें से कुछ नाम हिन्दू योगिनियों से मेल खाते हैं तथा कुछ अन्य केवल जैनधर्म में ही उपलब्ध हैं। जैन शिल्प में इन्हें कभी आमूर्तित नहीं किया गया।[१५१]

गणेश :

ल० ११वीं-१२वीं शती ई० में ब्राह्मण देवकुल के लोकप्रिय देवता गणेश को जैन देवकुल में सम्मिलित किया गया।[१५२] त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र में इन्हें हेरम्ब तथा लम्बोदर कहा गया है।[१५३] यू० पी० शाह के अनुसार १४वीं-१५वीं शती ई० में गणेश की उपासना जैन मन्दिरों में होने लगी।[१५४] जिनके उदाहरण जैन मन्दिरों में भी देखने को मिलते हैं। गणेश की लाक्षणिक विशेषताएँ सर्वप्रथम आचारदिनकर[१५५] में विवेचित हैं। गणेश की लोकप्रियता अधिकतर श्वेताम्बरों में थी। इनका मूर्त अंकन ल० १०वीं शती ई० से १२वीं शती ई० के मध्य हुआ जिसके उदाहरण मथुरा की अम्बिका मूर्ति में, ओसियाँ की जैन देव-कुलिकाओं के प्रवेशद्वारों एवं भित्ति पर तथा कुम्भारिया के नेमिनाथ मन्दिर (१२वीं शती ई०) पर हैं।[१५६] शिल्पशास्त्रों एवं मूर्त उदाहरणों में गजमुख गणेश को एकदन्त, मूषकारूढ़ तथा करों में स्वदन्त, परशु, अंकुश, मोदक-पात्र और अभय या वरदमुद्रा के साथ दिखाया गया है।[१५७]

ब्रह्मशान्ति यक्ष :

सर्वप्रथम चतुर्विंशतिका[१५८] (शोभनसूरिकृत) एवं निर्वाणकलिका[१५९] में ब्रह्मशान्ति यक्ष की लाक्षणिक विशेषताओं का निरूपण मिलता है। विविधतीर्थकल्प (जिनप्रभसूरिकृत) के सत्यपुर तीर्थकल्प में ब्रह्मशान्ति

यक्ष के पूर्वजन्म की कथा भी दी है।[१६०] ब्रह्मशान्ति यक्ष केवल श्वेताम्बरों में ही लोकप्रिय थे (चित्र २८)। उनके साथ जटामुकुट, छत्र, अक्षमाला, कमण्डलु तथा हंसवाहन का प्रदर्शन कभी ब्रह्मा और कभी वामन का प्रभाव दर्शाता है।[१६१]

कपर्दी यक्ष :

यू० पी० शाह ने कपर्दी यक्ष को शिव से प्रभावित माना है।[१६२] चतुर्विंशतिका में कपर्दी यक्ष का उल्लेख यक्षराज के रूप में हुआ है।[१६३] इसके अतिरिक्त विविधतीर्थकल्प एवं शत्रुंजयमाहात्म्य (धनेश्वसूरिकृत—ल० ११०० ई०) में कपर्दी यक्ष का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है।[१६४] इनके मूर्त उदाहरण शत्रुंजय पहाड़ी एवं विमलवसही से प्राप्त होते हैं। कपर्दी यक्ष की लोकप्रियता श्वेताम्बरों तक ही सीमित थी।[१६५]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ल० १२वीं-१३वीं शती ई० तक जैन देवकुल पूरी तरह विकसित हो चुका था जिसमें न केवल विभिन्न देवताओं की अवधारणा वरन् उनके विस्तृत लक्षण भी नियत किये जा चुके थे और तदनुरूप देवगढ़, खजुराहो, बिलहरी, खण्डगिरि, राजगिर, एलोरा जैसे दिगम्बर एवं ओसियाँ, देलवाड़ा, कुम्भारिया, तारंगा जैसे श्वेताम्बर स्थलों पर विभिन्न देव स्वरूपों का निरूपण हुआ। पूर्ण विकसित देवकुल में २४ तीर्थंकरों एवं उनके यक्ष-यक्षी युगलों, विद्यादेवियों तथा भरत, राम, कृष्ण, बलराम सहित ३९ शलाकापुरुषों, अष्टदिक्पालों, नवग्रहों, लक्ष्मी, सरस्वती, नैगमेषी, इन्द्र, ब्रह्मशांति एवं कपर्दी यक्ष और गणेश जैसे देवी-देवता सम्मिलित थे। साहित्य और शिल्प के आधार पर २४ तीर्थंकरों के बाद यक्षी, विद्यादेवी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि के रूप में देवियों को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी गयी जो शक्ति और तान्त्रिक पूजन से प्रभावित प्रतीत होता है।

जैन देवकुल के अध्ययन की दृष्टि से महापुराण की सामग्री की कुछ निजी विशेषताएँ रही हैं जो किन्हीं अर्थों में ९वीं-१०वीं शती ई० में जैन देवकुल के विकास के अनुरूप हैं। दिगम्बर परम्परा में २४ तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी युगलों का स्वतंत्र निरूपण १२वीं शती ई० में हुआ जो प्रतिष्ठासारसंग्रह में वर्णित है। संभवतः इसी कारण जैन महापुराण में २४ यक्ष-यक्षी युगलों का अनुल्लेख है। २४ तीर्थंकरों सहित ६३ शलाकापुरुषों के जीवन चरित का महापुराण में विस्तृत उल्लेख हुआ है। ६३ शलाकापुरुषों में २४ तीर्थंकरों, राम, बलराम, कृष्ण, भरत, बाहुबली आदि के

सन्दर्भ एलोरा, देवगढ़, खजुराहो तथा अन्य दिगम्बर स्थलों पर उनके मूर्त अभिव्यक्ति के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ऋषभनाथ के विभिन्न नामों के सन्दर्भ में ब्रह्मा, विष्णु, शिव और बुद्ध आदि के नामों तथा गरुडा, सिंहवाहिनी, प्रज्ञप्ति, चाण्डाली, बहुरूपा, रोहिणी, गौरी, अच्युता, गान्धारी आदि विद्याओं के नाम स्पष्टतः पूर्ववर्ती पउमचरिय एवं हरिवंशपुराण से प्रभावित हैं।[१६६] महापुराण की विद्यादेवियों में से अधिकांश १०वीं-११वीं शती ई० तक १६ महाविद्याओं की सूची में सम्मिलित की गयीं।

उपर्युक्त प्रमुख देवों के अतिरिक्त महापुराण में विभिन्न प्रसंगों में इन्द्र (जिनों के पंचकल्याणकों में एवं ताण्डव नृत्य),[१६७] शिव, विष्णु, ब्रह्मा,[१६८] वामनदेव,[१६९] लक्ष्मी,[१७०] सरस्वती,[१७१] सूर्य,[१७२] गंगा व सिन्धु देवी,[१७३] कुबेर,[१७४] दिक्कुमारी,[१७५] भवनवासी, कल्पवासी, ज्योतिष्क तथा व्यन्तर देवों[१७६] और लौकान्तिक देवों[१७७] एवं लोकपूजन से सम्बन्धित श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, और कीर्त्ति आदि देवियों के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं जो जैन देवकुल की व्यापक और समन्वयात्मक अवधारणा को व्यक्त करते हैं।

पाद-टिप्पणी

१. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० २९।
२. एम० विण्टरनित्ज, ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड–२, कलकत्ता १९३४, पृ० ४३४।
३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २९।
४. जे० सी० सिक्दर, स्टडीज इन दि भगवतीसूत्र, मुजफ्फरपुर १९६४, पृ० ३२-३८।
५. आर० सी० शर्मा, 'आर्ट डेटा इन रायपसेणिय', सं० पु० प०, लखनऊ, अंक ९, पृ० ३८।
६. अंगविज्जा, सं० मुनिपुण्यविजय, बनारस १९५७, पृ० ५७।
७. एम० विण्टरनित्ज, पू० नि०, पृ० ४३३।
८. समवायांगसूत्र १८; पउमचरिय १.१-२, ३८-४२।
९. हस्तीमल, जैनधर्म का मौलिक इतिहास, खण्ड–१, जयपुर १९७१, पृ० ४६-४७।
१०. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३०।

११. जम्बूद्दीवे णं दीवे भारवे वासे इमिसेणं ओसप्पिणीए चउवीसं तित्थगरा होत्था, तं जहा–उसभ, अजिय, सम्भव, अभिनन्दण, सुमह, पउमप्पह, सुपास, चन्दप्पह, सुविहिपुप्फदंत, सायल, सिज्जस, वासुपुज्ज, विमल, अनन्त, धम्म, सन्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्वय, णमि, णेमि, पास, वड्ढमाणोय। समवायांगसूत्र १५७।

१२. भगवतीसूत्र २०.८.५८-५९, १६, ५।

१३. कल्पसूत्र २, १८४-२०३।

१४. यू० पी० शाह, बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी, सं० पु० प०, अंक ९, पृ० ३।

१५. पउमचरिय १.१-७; ५.१४५-४८ : चंद्रप्रभ एवं सुविधिनाथ की वन्दना क्रमशः शशिप्रभ एवं कुसुमदंत नामों से है।

१६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३१।

१७. वहीं।

१८. एच० जैकोबी, जैन सूत्रज, भाग–२, सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, खण्ड–४५, दिल्ली १९७३ (पुनर्मुद्रित), पृ० ११९-२९।

१९. व्याख्याप्रज्ञप्ति ५.९.२२७।

२०. स्थानांगसूत्र २२।

२१. ग्रन्थ में केवल २४ जिनों तथा १२ चक्रवर्तियों की ही सूची है। अन्य के लिये मात्र इतना उल्लेख है कि त्रिपृष्ठ से कृष्ण तक ९ वासुदेव और अचल से राम तक ९ बलदेव होंगे। समवायांगसूत्र १३२, १५८, २०७।

२२. कल्पसूत्र १७ : अरहन्ता वा चक्कवट्ठी वा बलदेवा वा वासुदेवा....।

२३. पउमचरिय ५.१४५-५७।

२४. पउमचरिय ५.१५४-५६।

२५. पउमचरिय ५.१५७।

२६. मारुतिनन्दन तिवारी तथा कमल गिरि, 'विमलसूरिकृत पउमचरिय में प्रतिमाविज्ञान परक सामग्री', मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ I, सं० मधुसूदन ढाकी, प्रो० सागरमल जैन, वाराणसी १९९१, पृ० १४८-५७।

२७. ६३ शलाकापुरुषों की सूची सर्वप्रथम पउमचरिय (५.१४५-५६) में ही मिलती है।

२८. पउमचरिय १.९० (सं० एच० जैकोबी एवं मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रंथ परिषद, ग्रंथांक–६, वाराणसी १९६२)।

२९. पउमचरिय ११८.११८।

३०. अवहिविसएण नाउं, हलहर–नारायणा तुरियवेगा। पउमचरिय ३५.२२;

३९.२०; ३१.१२६; ७०.३३, ३६; ७२.२२; ७३.३.५, १९; ७६. ३६; ७७.१; ७८.३२; ८०.२ ।

३१. एच० जैकोबी, जैनसूत्रज, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ३१, पादटिप्पणी २ ।

३२. बेचरदास दोशी, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग–१, वाराणसी १९६६, पृ० ५५ ।

३३. एच० जैकोबी, जैनसूत्रज, भाग–२, पृ० ११२-१९; एम० विण्टरनित्ज, पू० नि०, पृ० ४६९ ।

३४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि० पृ० ३२ ।

३५. नायाधम्मकहाओ ६८ ।

३६. मारुतिनन्दन तिवारी तथा कमल गिरि, पू० नि०, पृ० १ ।

३७. कल्पसूत्र ३७ । भगवतीसूत्र ११.११, ४३० ।

३८. मारुतिनन्दन तिवारी तथा कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २ ।

३९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३३ ।

४०. भगवतीसूत्र ११.११.४३० ।

४१. पउमचरिय ३.५९ ।

४२. अंगविज्जा–ऐकाणंसा सिरि बुद्धि मेधाकित्ती सरस्वती एवमादीयाओ उललद्धव्वाओ भवन्ति:–अध्याय ५८, पृ० २२३ और ८२ ।

४३. ज्योतिप्रसाद जैन, 'जेनिसिस ऑव जैन लिट्रेचर ऐण्ड दि सरस्वती मूवमेण्ट', सं० पु० प०, अंक ९, जून १९७२, पृ० ३०-३२ ।

४४. राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे २४ ।

४५. स्थानांगसूत्र १ ।

४६. वही, सू० १३ ।

४७. कल्पसूत्र १४ ।

४८. पउमचरिय ३.७६-८८ ।

४९. मारुतिनन्दन तिवारी, पु० नि०, पृ० ३४ ।

५०. विस्तार के लिये द्रष्टव्य, वी० एस० अग्रवाल, 'ए नोट आन दि गॉड नैगमेष', जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी, खण्ड–२०, भाग–१-२, पृ० ६८-७३; यू० पी० शाह, 'हरिनैगमेषिन' ज० ई० सो० ओ० आ०, खण्ड–१९, पृ० १९-४१ ।

५१. कल्पसूत्र २०-२८ ।

५२. अन्तगड्दसाओ, पृ० ६६-६७ ।

५३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३४ ।

५४. कुमारस्वामी, यक्षज, भाग–१, दिल्ली १९७१ (पुनर्मुद्रित), पृ० ३६-६७ ।

५५. वहीं, पृ० ११, २८।
५६. उत्तराध्ययनसूत्र ३.१४-१८।
५७. भगवतीसूत्र ३.७.१६८।
५८. तत्त्वार्थसूत्र, सं० सुखलाल संघवी, बनारस १९५२, पृ० ११९, १४६।
५९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३५।
६०. यू० पी० शाह, 'यक्षज वर्शिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', ज० ओ० ई० खण्ड–३, अंक–१, पृ० ६०-६४।
६१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३५।
६२. पउमचरिय ६७.२८-५९।
६३. भगवतीसूत्र १८.२, १०.५।
६४. प्रारम्भ में यक्ष का कोई एक नाम पूर्णतः निश्चित नहीं हो सका था।
६५. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ६१-६२।
६६. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, दिल्ली १९८७, पृ० ६२।
६७. वहीं, पृ० ६२।
६८. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३५।
६९. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज', ज० इं० सो० ओ० आ०, खण्ड–१५, पृ० ११४-११७।
७०. वहीं, पृ० ११४।
७१. नायाधम्मकहाओ, सं० पी० एल० वैद्य, १.४, पृ० १; १४.१०४, पृ० १५२; १६.१२९, पृ० १८९; १८.१४१, पृ० २०९।
७२. स्थानांगसूत्र ८.३.६११; ९.३.६७८।
७३. सूत्रकृतांगसूत्र २.२.१५।
७४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३६।
७५. मारुतिनन्दन तिवारी तथा कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २।
७६. लद्धाओ गरुड-केसरिविज्जाओ राम....चक्कीणं। पउमचरिय ७८.४२।
७७. मारुतिनन्दन तिवारी व कमल गिरि, पू० नि०, पृ० ७।
७८. पउमचरिय ६८.२३, २७।
७९. पउमचरिय ७.७३, १०७।
८०. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ११७।
८१. पउमचरिय ५९.८३-८४।
८२. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३६।
८३. मारुतिनन्दन तिवारी व कमल गिरि, पू० नि०, पृ० ९।
८४. पउमचरिय ७.२२।

८५. पउमचरिय ७.४७ ।
८६. स्थानांगसूत्र ४.१, सू० २५७, पृ० १९८ (द्रष्टव्य, यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन–१, पृ० ५७) ।
८७. समवायांगसूत्र १५०; तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १३७-३८; आचारांगसूत्र २.१५.१८ ।
८८. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन–१, पृ० ५७ ।
८९. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३६ ।
९०. यू० पी० शाह, बिगनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी, पृ० १०, सं० पु० प०, पृ० १० ।
९१. भगवतीसूत्र ३.१.१३४; अंगविज्जा, अध्याय ५१ : द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३६ ।
९२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३६ ।
९३. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल १९६२, पृ० ७२-७३ ।
९४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३७ ।
९५. वहीं, पृ० ३७ ।
९६. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० ३४ ।
९७. वहीं, पृ० ४१ ।
९८. वहीं, पृ० ४३, ४६, ४९-५३ ।
९९. वहीं, पृ० ७९ ।
१००. एम० विण्टरनित्ज़, पू० नि०, पृ० ५१०-१७ ।
१०१. गुलाबचन्द्र चौधरी, पू० नि०, पृ० १२८-१३१ ।
१०२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि, पृ० ३७ ।
१०३. वहीं ।
१०४. यू० पी० शाह, 'इण्ट्रोडक्शन ऑव शासन देवताज़ इन जैन वरशिप', प्रोसिडिंग्स ऐण्ड ट्रान्जेक्शन्स ऑव दि आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, २०वाँ अधिवेशन, १९५९, पृ० १४१-१४३ ।
१०५. हरिवंशपुराण ६५.४३-४५ ।
१०६. यू० पी० शाह, अकोटा ब्रोन्जेज, बम्बई १९५९, पृ० २८-२९, फलक १०-११; मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३८ ।
१०७. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव चक्रेश्वरी, दि यक्षी ऑफ ऋषभनाथ', ज० ओ० इ०, खण्ड–२०, अंक-३, पृ० ३०६ ।
१०८. तिलोयपण्णत्ति ४.६०४-६०५ ।

१०९. प्रवचनसारोद्धार ३८१-३८२ ।
११०. तिलोयपण्णत्ति ४.९३४-३९ ।
१११. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३९ ।
११२. वहीं, पृ० ३९-४० ।
११३. वहीं, पृ० ४० ।
११४. यू० पी० शाह, आईकनोग्राफी ऑव सिक्सटीन जैन महाविद्याज, पू० नि०, पृ० ११६-१७ ।
३१५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४० ।
११६. वहीं ।
११७. हरिवंशपुराण २२.६१-६६ ।
११८. उत्तरपुराण ६२.३८७-४०१, ४११; ६८.४६८-६९; ५१३-१४, ५२०-२१, ६१८-१९ ।
११९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४० ।
१२०. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ११९-२० ।
१२१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४१ ।
१२२. मारुतिनन्दन तिवारी, 'दि आइकनोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज ऐज डेपिक्टेड इन द शान्तिनाथ टेम्पल, कुम्भारिया', सम्बोधि, खण्ड-२, अंक-३, पृ० १५-२२ ।
१२३. उत्तरपुराण पर्व ६७-६८ ।
१२४. मारुतिनन्दन तिवारी, 'ए नोट ऑन ऐन इमेज ऑव राम एण्ड सीता ऑन दि पार्श्वनाथ टेम्पल', खजुराहो, जैन जर्नल, खण्ड-८, अंक-१, पृ० ३०-३२ ।
१२५. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ४१ ।
१२६. मारुतिनन्दन तिवारी, 'जैन साहित्य और शिल्प में कृष्ण', जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, भाग-२६, अंक-२, पृ० ५-११; ऐन अनपब्लिश्ड इमेज ऑव नेमिनाथ, फ्राम देवगढ़, जैन जर्नल, खण्ड-८, अंक-२, पृ० ८४-८५ ।
१२७. पउमचरिय ४.५४-५५; हरिवंशपुराण ११.९८-१०२, १३.१-६; आदिपुराण ३६.१०६-८५; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ५.७४०-९८ ।
१२८. आदिपुराण, पर्व ३६, ४७ ।
१२९. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ४१-४२ ।
१३०. वहीं ।
१३१. वहीं ।
१३२. यू० पी० शाह, 'पेरेण्ट्स ऑव दि तीर्थंकरज', बुलेटिन ऑव दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई, अंक-५, १९५५-५७, पृ० २४-३२ ।

१३३. समवायांगसूत्र १५७।
१३४. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन–१, पृ० ६२।
१३५. आदिपुराण १४.७८; उत्तरपुराण ७३.८८।
१३६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४२।
१३७. वहीं।
१३८. बी० सी० भट्टाचार्य, जैन आइकनोग्राफी, लाहौर १९३९, पृ० १४८।
१३९. आदिपुराण १०.१९२; उत्तरपुराण ५४.१०२-१०।
१४०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ७.१.१०५-११; ७.७.५०; १.५.५९०।
१४१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४२।
१४२. वहीं, पृ० ४३।
१४३. वहीं, पृ० ४२।
१४४. वहीं, पृ० ४३।
१४५. उत्तरपुराण ७३.५६-६०।
१४६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४३।
१४७. वहीं।
१४८. निर्वाणकलिका २१.२; आचारदिनकर, भाग-२, क्षेत्रपाल, पृ० १८०।
१४९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४३।
१५०. बी० सी० भट्टाचार्य, पू० नि०, पृ० १८३-१८४।
१५१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४३।
१५२. मारुतिनन्दन तिवारी, 'सम अनपब्लिश्ड जैन स्कल्पचर्स ऑव गणेश फ्राम वेस्टर्न इण्डिया,' जैन जर्नल, खण्ड-९, अंक-३, पृ० ९०-९२।
१५३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.१.६५४; ५.४.१९६।
१५४. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन–१, पृ० ६३।
१५५. आचारदिनकर, भाग-२, गणपतिप्रतिष्ठा १-२, पृ० २१०।
१५६. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ४४।
१५७. मारुतिनन्दन तिवारी, एलिमेण्ट्स ऑव जैन आइकनोग्राफी, वाराणसी १९८३, पृ० ११०-२१।
१५८. स्तुतिचतुर्विंशतिका १६.४, पृ० १७९।
१५९. निर्वाणकलिका २१, पृ० ३८।
१६०. विविधतीर्थकल्प, पृ० २८-३०।
१६१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४४।
१६२. यू० पी० शाह, 'ब्रह्मशान्ति ऐण्ड कपर्दी यक्षज', जर्नल ऑव दि एम० एस० यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, खं० ७, अंक १, पृ० ६५-६८;

मारुतिनन्दन तिवारी, 'ब्रह्मशांतियक्ष', पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ (सं० एम० ए० ढाकी), वाराणसी, १९८९, पृ० १२६-१३१ ।

१६३. स्तुतिचतुर्विंशतिका १९.४, पृ० २१५ ।

१६४. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ६५-६८ ।

१६५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४४ ।

१६६. पउमचरिय ७.७३, १०७; ५९.८३-८४; ६८.२३, २७; हरिवंशपुराण २२.६१-६६ ।

१६७. आदिपुराण १२.६९-७६, ८५; १३.४७; १४.२०, १०३-१५४; १९.२२; २२.१८; २३.१६३; उत्तरपुराण ५०.२३-२४; ५९.५८; ६३.१६९ ।

१६८. आदिपुराण २५.१००-२१७ ।

१६९. उत्तरपुराण ७०.२७४-९३ ।

१७०. उत्तरपुराण ५७.१७-३४ ।

१७१. आदिपुराण ३८.२१८ ।

१७२. उत्तरपुराण ७३.५६-६० ।

१७३. आदिपुराण ३२.१६६; ४५.१५३-५५ ।

१७४. आदिपुराण १२.८५; उत्तरपुराण ५४.१७५; ६३.११, १८ ।

१७५. आदिपुराण १२.१६२-६४ ।

१७६. आदिपुराण १३.१३ ।

१७७. उत्तरपुराण ४८.३२, ५३; ५९.२१, ४० ।

●

तृतीय अध्याय

तीर्थंकर (या जिन)

चौबीस तीर्थंकरों या जिनों की धारणा जैनधर्म का मूलाधार है।[1] जैन देवकुल के अन्य देवों की कल्पना सामान्यतः इन्हीं जिनों से सम्बद्ध एवं उनके सहायक रूप में हुई है।[2] जिनों का जीव भी अतीत में सामान्य व्यक्ति की ही भाँति वासना व कर्मबन्धन में लिप्त था पर आत्ममनन, साधना एवं तपश्चर्या के परिणामस्वरूप उसने कर्मबन्धन से मुक्त होकर केवलज्ञान की प्राप्ति की।[3] कर्म व वासना पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें 'जिन' कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ विजेता है।[4] तीर्थ का कर्ता या निर्माता होने के कारण इन्हें तीर्थंकर भी कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैनधर्म के पंचमहाव्रत हैं। इस धर्म को धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक व श्राविका हैं। यह चतुर्विध संघ ही तीर्थ कहा गया है।[5] इन तीर्थों की स्थापना करनेवाले विशिष्ट व्यक्तियों को तीर्थंकर कहा गया है।[6] एक समय में एक क्षेत्र में सर्वज्ञ अनेक हो सकते हैं किन्तु तीर्थंकर एक ही होंगे।[7] तीर्थंकर त्रीजगत के उद्धारक होते हैं। तीर्थंकर जन्म से ही कुछ विलक्षणता लिये होते हैं। उनकी माताश्री द्वारा उनके जन्म के पूर्व शुभ स्वप्नों का दर्शन किया जाता है। तीर्थंकर के शरीर पर १००८ लक्षण होते हैं।[8] इनके साथ आठ महाप्रातिहार्य (अशोक वृक्ष, सुरकृत पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, स्फटिक सिंहासन, भामण्डल, देव-दुन्दुभि और छत्रत्रयी) भी सर्वदा संबद्ध होते हैं।[9] धर्मतीर्थ का संस्थापक और चालक होने के कारण तीर्थंकर का बलवीर्य जन्म से ही अमित होता है। 'अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म में जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं और उसकी सेवा करते हैं।' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थंकर सदा देव-देवेन्द्रों द्वारा सेवित रहते हैं।[10] प्रत्येक तीर्थंकर के शासन-रक्षक यक्ष-यक्षिणी होते हैं जो समय-समय पर शासन की संकट से रक्षा और तीर्थंकरों के भक्तों की इच्छा पूर्ण करते रहते हैं।[11]

वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों की प्राचीनतम सूची

कल्पसूत्र, पउमचरिय, समवायांगसूत्र तथा भगवतीसूत्र में मिलती है।[१२] इस सूची में जिन २४ तीर्थंकरों के नाम मिलते हैं वे—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ (शशिप्रभ), सुविधि (पुष्पदन्त या कुसुमदन्त), शीतल, श्रेयांश, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि (या अरिष्टनेमि), पार्श्व एवं महावीर (या वर्धमान) हैं। इसी सूची को कालान्तर में अपरिवर्तित रूप में दोनों परम्पराओं में स्वीकार कर लिया गया। भगवतीसूत्र में मुनिसुव्रत, नायाधम्मकहाओ में नारी तीर्थंकर मल्लिनाथ[१३] एवं कल्पसूत्र में ऋषभ, नेमि (अरिष्टनेमि), पार्श्व एवं महावीर[१४] के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के विस्तृत उल्लेख हैं। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर से सम्बन्धित तथ्यों का प्राचीनतम संकलन प्राकृत भाषा के तिलोयपण्णत्ति में मिलता है।[१५] प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में जहाँ २४ तीर्थंकरों की सूची एवं उनसे सम्बन्धित अन्य उल्लेख प्राप्त होते हैं वहीं जिन-मूर्तियों से सम्बन्धित उल्लेख केवल राजप्रश्नीय[१६] एवं पउमचरिय[१७] में हैं। मथुरा से केवल ऋषभ[१८], सम्भव[१९], मुनिसुव्रत[२०], नेमि[२१], पार्श्व[२२] एवं महावीर[23] तीर्थंकरों की कुषाणकालीन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।[२४] तीर्थंकरों के लांछनों की कल्पना कब की गयी, यह प्रश्न भी यहाँ विचारणीय है।

वसुदेवहिण्डी (ल० छठी शती ई०) तथा दिगम्बर परम्परा के आरम्भिक ग्रन्थ वरांगचरित (जटासिंह नन्दी, ल० छठी शती ई०), आदिपुराण व उत्तरपुराण, पद्मचरित तथा हरिवंशपुराण में तीर्थंकरों के लांछनों का अनुल्लेख गुप्तकाल से तीर्थंकर मूर्तियों में लांछन के अंकन के परिप्रेक्ष्य में सर्वथा आश्चर्यजनक है।[२५] किसी भी कुषाणकालीन जिन मूर्ति में लांछन नहीं दिखाया गया है। सर्वप्रथम वैभार पहाड़ी (राजगिर) से प्राप्त नेमिनाथ (चौथी-पाँचवीं शती ई०) तथा वाराणसी से प्राप्त और भारत कला भवन (क्रमांक १६१) में सुरक्षित महावीर की गुप्तकालीन मूर्तियों में क्रमशः शंख और सिंह लांछन का अंकन हुआ है।[२६] उपरोक्त मूर्तियों के आधार पर निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि लगभग चौथी-पाँचवी शती ई० में तीर्थंकर मूर्तियों में लांछनों का अंकन आरम्भ हुआ। ल० आठवीं-नवीं शती ई० तक जिनों के लांछनों का निर्धारण हो गया था।[२७] तिलोयपण्णत्ति[२८] एवं प्रवचनसारोद्धार[२९] में जिन लांछनों की प्राचीनतम सूची प्राप्त होती है।[३०]

यू० पी० शाह एवं मारुतिनन्दन तिवारी ने श्वेताम्बर (श्वे०) तथा दिगम्बर (दि०) परम्परा के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी युग के २४ तीर्थंकरों के लांछनों की सूची निम्न प्रकार दी है[३१]—

तीर्थंकर	लांछन
१. ऋषभनाथ (या आदिनाथ)	वृषभ
२. अजितनाथ	गज
३. सम्भवनाथ	अश्व
४. अभिनन्दन	कपि (वानर)
५. सुमतिनाथ	क्रौंच (श्वे०), कोक (दि०)
६. पद्मप्रभ	पद्म
७. सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक (श्वे०, दि०), नन्द्यावर्त (दि०)
८. चन्द्रप्रभ	अर्धचन्द्र (शशि)
९. सुविधिनाथ (पुष्पदन्त)	मकर
१०. शीतलनाथ	श्रीवत्स (श्वे०, दि०), स्वस्तिक (दि०)
११. श्रेयांशनाथ	गण्ड या खड्गी (गैंडा)
१२. वासुपूज्य	महिष
१३. विमलनाथ	वराह
१४. अनन्तनाथ	श्येन पक्षी (श्वे०), रीछ (दि०)
१५. धर्मनाथ	वज्र
१६. शांतिनाथ	मृग
१७. कुन्थुनाथ	छाग
१८. अरनाथ	नन्द्यावर्त (श्वे०), मत्स्य (दि०)
१९. मल्लिनाथ[३२]	कलश
२०. मुनिसुव्रत	कूर्म
२१. नमिनाथ	नीलोत्पल
२२. नेमिनाथ (या अरिष्टनेमि)	शंख
२३. पार्श्वनाथ	सर्प
२४. महावीर (या वर्धमान)	सिंह

कुछ ग्रन्थों में २४ तीर्थंकरों के वर्णों का भी उल्लेख किया गया है जो चित्रों में विभिन्न जिनों की पहचान में सहायक हैं।[३३] दोनों पर-

म्पराओं में विभिन्न तीर्थंकरों के साथ विभिन्न चैत्यवृक्ष की अवधारणा भी जुड़ी हुई है। जिस वृक्ष के नीचे तीर्थंकर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई उसे ही उसका चैत्यवृक्ष माना गया।[३४] तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में चैत्यवृक्ष का अंकन भी मिलता है। इस प्रकार की मूर्तियों के उदाहरण गुजरात के पाटण तथा सूरत से प्राप्त होते हैं।[३५] यू० पी० शाह ने वर्तमान अवसर्पिणी युग के २४ तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों की सूची इस प्रकार दी है।[३६]

तीर्थंकर	चैत्यवृक्ष
१. ऋषभनाथ	न्यग्रोध
२. अजितनाथ	सप्तपर्ण (श्वे०), शाल (दि०)
३. सम्भवनाथ	शाल (श्वे०), शाल अथवा प्रयाल (दि०)
४. अभिनन्दन	पियक अथवा प्रियक (श्वे०), सरल अथवा प्रियंगु (दि०)
५. सुमतिनाथ	प्रियंगु (श्वे०), प्रियंगु अथवा साल (दि०)
६. पद्मप्रभ	चतुराभ (श्वे०), प्रियंगु अथवा छत्रा (दि०)
७. सुपार्श्वनाथ	शिरीष
८. चन्द्रप्रभ	नाग वृक्ष
९. सुविधिनाथ (या पुष्पदन्त)	माली (श्वे०), अक्ष अथवा शालि (दि०)
१०. शीतलनाथ	पिलंकु (श्वे०), धूलि अथवा प्रियंगु (दि०)
११. श्रेयांसनाथ	तिण्डुग (श्वे०), पलाश अथवा तंबुक (दि०)
१२. वासुपूज्य	पाटल (श्वे०), तेन्दुव या पाटला (दि०)
१३. विमलनाथ	जम्बू (श्वे०), पाटल या जम्बू (दि०)
१४. अनन्तनाथ	अश्वत्थ (श्वे), अश्वत्थ अथवा अशोक (दि०)
१५. धर्मनाथ	दधिपर्ण
१६. शांतिनाथ	नन्दिवृक्ष
१७. कुन्थुनाथ	तिलक
१८. अरनाथ	आम्र
१९. मल्लिनाथ	अशोक
२०. मुनिसुव्रत	चम्पक
२१. नमिनाथ	बकुल
२२. नेमिनाथ	बेतस (श्वे०), मेशशृंग या बेतस (दि०)

२३. पार्श्वनाथ	धातकी (श्वे०), धव अथवा धातकी (दि०)
२४. महावीर	साल

कुछ स्थलों पर इनके चैत्यवृक्षों की नामावली में भिन्नता भी मिलती है,[३७] जो इस प्रकार है—

तीर्थंकर	चैत्यवृक्ष
१. ऋषभनाथ	न्यग्रोध (श्वे०), वट (दि०)
२. अजितनाथ	शक्तिपर्ण (श्वे०), सप्तपर्ण (दि०)
३. अभिनन्दननाथ	पियम (श्वे०)
४. पद्मप्रभ	छत्राभ (श्वे०)
५. शीतलनाथ	पिलक्खु (श्वे०), प्लक्ष (दि०)
६. अनन्तनाथ	अश्वत्थ (श्वे०), पीपल (दि०)
७. कुन्थुनाथ	पिलक्खु
८. महावीर	साल (श्वे०), शाल (दि०)

विभिन्न तीर्थंकरों के अष्टमहाप्रातिहार्यों की अवधारणा का पूर्ण विकास गुप्तकाल के अन्त अथवा उत्तरगुप्तकाल में हुआ।[३८] पउमचरिय (ल० ४७३ शती ई०) में अजितनाथ व महावीर के सन्दर्भ में विभिन्न अतिशयों तथा अष्टप्रातिहार्यों का उल्लेख हुआ है।[३९] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ हरिवंशपुराण में नेमिनाथ के अष्टप्रातिहार्यों में—सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि, अशोकवृक्ष, छत्रत्रय, चामरधारी सेवक, भामण्डल, सिंहासन तथा भाषा का उल्लेख मिलता है।[४०] आदिपुराण[४१] में ऋषभदेव के समवसरण के सन्दर्भ में इन्हीं अष्टप्रातिहार्यों का उल्लेख हुआ है। केवल भाषा के स्थान पर दिव्यध्वनि बताया गया है। एलोरा की तीर्थंकर मूर्तियों में धर्मचक्र के अतिरिक्त अष्टप्रातिहार्यों के अन्तर्गत त्रिछत्र, देवदुन्दुभि, चामरधारी सेवक, अलंकृत सिंहासन, मालाधारी गन्धर्व, प्रभामण्डल एवं अशोकवृक्ष का ही अंकन हुआ है। आगे चलकर श्वेताम्बर परम्परा के निर्वाणकलिका[४२] (पादलिप्तसूरिकृत-ल० ११वीं शती ई०) एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (हेमचन्द्रसूरिकृत, १२वीं शती ई० का उत्तरार्ध) तथा दिगम्बर परम्परा के प्रतिष्ठासारसंग्रह[४३] (वसुनन्दिकृत—ल० १२वीं शती ई०) एवं प्रतिष्ठासारोद्धार[४४] (आशाधरकृत—१३वीं शती ई०) में अष्टप्रातिहार्यों के

साथ ही २४ तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी एवं लांछनों का भी अभिलक्षण मिलता है।

जैन आगमग्रन्थ औपपातिकसूत्र[४५] में महावीर के सन्दर्भ में महापुरुष लक्षणों तथा श्रीवत्स का विस्तार से उल्लेख मिलता है। पउमचरिय में ऋषभदेव को श्रीवत्स से लक्षित बताया गया है।[४६] मथुरा की शुंगकालीन जिन आकृति (आयागपट पर), लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त मौर्य-शुंग कालीन जिन प्रतिमाओं तथा प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बम्बई की पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग कांस्य प्रतिमा (ल० पहली शती ई० पू०) में श्रीवत्स चिह्न का अंकन नहीं हुआ है। आगे चलकर मथुरा में कुषाणकाल में वैष्णव धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप जिन मूर्तियों में श्रीवत्स का अंकन प्रारम्भ हुआ।[४७] यह भी सम्भव है कि तीर्थंकर और बुद्ध की आसन मूर्तियों में स्वरूपगत समानता के कारण उनमें भेद के उद्देश्य से श्रीवत्स चिह्न का अंकन प्रारम्भ हुआ।

जैनधर्म के दोनों ही परम्पराओं में २४ जिनों से सम्बन्धित विवरणों में अधिकांश बातें, जैसे पंचकल्याणक आदि समान हैं। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के अनुसार २४ जिनों का जन्म क्षत्रिय राज्य परिवारों में हुआ। दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनिसुव्रत तथा नेमिनाथ का हरिवंश, धर्म, अर एवं कुन्थु का कुरुवंश, पार्श्व व महावीर का अग्रवंश तथा अन्य का जन्म इक्ष्वाकुवंश में हुआ।[४८] किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवल मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का हरिवंश में तथा अन्य का अन्य इक्ष्वाकु वंश में हुआ था।[४९]

तीर्थंकरों के गर्भ में आने पर जिनमाताओं द्वारा शुभस्वप्नों के देखने का उल्लेख दोनों ही परम्पराओं में हुआ है किन्तु दिगम्बर परंपरा में इन शुभस्वप्नों की संख्या १६ तथा श्वेताम्बर में १४ बतायी गयी है।[५०] कला में भी इन शुभस्वप्नों की अभिव्यक्ति हुई है। ल० १०वीं शती ई० से दिगम्बर परम्परा में खजुराहो के पार्श्वनाथ, आदिनाथ, घंटई तथा देवगढ़ मन्दिरों के प्रवेशद्वारों पर एवं श्वेताम्बर परम्परा में कुंभारिया के शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों और देलवाड़ा के विमलवसही और लूणवसही के वितानों पर उत्कीर्ण तीर्थंकरों के जीवन दृश्यों के अंकन में क्रमशः १६ और १४ मांगलिक स्वप्नों का अंकन हुआ है।[५१] हरिवंशपुराण एवं आदिपुराण में १६ शुभ स्वप्नों की विस्तृत सूची भी वर्णित है।[५२] तीर्थंकरों के जन्म पर जिन-माताओं एवं जिनशिशुओं

की विभिन्न प्रकार से परिचर्या करने के लिये दिक्कुमारियों के आने,[५३] इन्द्र द्वारा विभिन्न देवों के साथ आकर जन्मकल्याणक करने तथा उस अवसर पर इन्द्र द्वारा ३२ प्रकार के नृत्य आदि के उल्लेख विस्तार के साथ मिलते हैं।

कुमारावस्था में तीर्थंकरों का विवाह किसी राजकुमारी के साथ होने का सन्दर्भ प्राप्त होता है। किन्तु सभी तीर्थंकरों के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता। दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह नहीं हुआ था जबकि श्वेताम्बर परम्परा में विवाह का वर्णन उपलब्ध है।[५४] ऐसे ही नेमिनाथ विवाह के लिए जाते हुए मार्ग से बिना विवाह किये ही लौट गये थे। प्रस्तुत दृश्य शिल्पांकन ११वीं शती ई० के कुम्भारिया के महावीर और शान्तिनाथ मन्दिरों के वितानों पर हुआ है। कुछ समय तक राज्य का उपभोग करने के बाद किसी न किसी कारण से सभी तीर्थंकरों के मन में संसार के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न होने और ऐसे समय लौकान्तिक देवों के आने एवं इन्द्र द्वारा दीक्षाकल्याणक करने का उल्लेख मिलता है।[५५]

अनेक वर्षों तक कठोर तपश्चर्या के बाद किसी वृक्ष (जिसे चैत्य-वृक्ष कहा गया है) के नीचे तीर्थंकर द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति तथा सौधर्म इन्द्र का अन्य देवों के साथ आकर उनके ज्ञानकल्याणक का आयोजन एवं उनके प्रथम उपदेश (धर्मदेशना) को सुनने के लिये देवों द्वारा समवसरण (उपदेश स्थली) के निर्माण का उल्लेख भी जैन साहित्य में विस्तार के साथ मिलता है।[५६] आदिपुराण एवं उत्तरपुराण में भी विभिन्न तीर्थंकरों के समवसरण का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है जिसके मूर्त उदाहरण विभिन्न श्वेताम्बर और दिगम्बर स्थलों पर देखे जा सकते हैं। कुछ वर्षों तक विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करने, धर्म का उपदेश देने तथा जैन तीर्थ अथवा संघ की स्थापना करने के बाद समस्त बन्धनों को तोड़कर उन्हें निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस अवसर पर पुनः इन्द्र के अनेक देवों के साथ आने व तीर्थंकर के निर्वाण-कल्याणक के सम्पादन का उल्लेख जैन ग्रन्थों में मिलता है।[५७]

वृषभसेन, चन्द्रानन, वारिसेण तथा वर्धमान इन चार तीर्थंकरों को शाश्वत् जिन कहा गया है क्योंकि प्रत्येक उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी युग में इन चार तीर्थंकरों के नाम अवश्य आते हैं। इनका उल्लेख जीवाजीवाभिगमसूत्र[५८] में मिलता है। ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, मुनि-

सुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर तथा कुछ अन्य तीर्थंकरों के पंच-कल्याणकों और जीवन के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का विस्तृत शिल्पांकन आबू तथा कुम्भारिया के मन्दिरों के वितानों पर देखा जा सकता है।[५९] वस्त्रों, ताड़पत्र तथा कागज पर भी जिनों का चित्रण हुआ है। भित्तिचित्रों में जिनों के अंकन के उदाहरण एलोरा, सित्तनवासल तथा तिरुमलै जैसे स्थानों से प्राप्त होते हैं।[६०] एलोरा में केवल ऋषभनाथ, अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर तीर्थंकरों की ही मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें केवल अजितनाथ और महावीर के साथ सिंहासन पर लांछन हैं जबकि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की पहचान सर्पफणों के छत्र और ऋषभनाथ की पहचान कंधों पर लटकती जटाओं एवं नेमिनाथ की पहचान कुबेर यक्ष और अम्बिका यक्षी की आकृतियों के आधार पर की जा सकी है। यक्ष-यक्षी की आकृतियाँ मुख्यतः नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के साथ ही दिखायी गयीं। कुछ उदाहरणों में महावीर एवं अन्य तीर्थंकरों के साथ नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी कुबेर व अम्बिका की आकृतियाँ उकेरी गयी हैं।

आगे के पृष्ठों में जैन महापुराण के आधार पर २४ तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण) एवं उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ अन्य घटनाओं की विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है और यथास्थान मूर्त उदाहरणों के माध्यम से कला में उनकी अभिव्यक्ति को भी स्पष्ट किया गया है।

(१) ऋषभनाथ (या आदिनाथ) :

आदिपुराण में ऋषभनाथ को वृषभदेव कहा गया है जो एक ओर शिव और दूसरी ओर उनके वृषभ लांछन से सम्बन्धित है। ज्ञातव्य है कि ऋषभदेव का लांछन वृषभ है। वृषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों में आद्य तीर्थंकर हैं और इन्हीं से जैनधर्म का प्रारम्भ माना जाता है। आद्य तीर्थंकर होने के कारण ही इन्हें आदिनाथ भी कहा गया है।

जैन पुराणों में इनके जीवन, तपश्चरण, केवलज्ञान व धर्मोपदेश के विस्तृत विवरण के साथ ही वैदिक साहित्य, जैनेतर पुराणों तथा उप-निषदों आदि में भी इनका उल्लेख हुआ है।[६१] पउमचरिय में २४ तीर्थंकरों की वन्दना के प्रसंग में ऋषभनाथ को जिनवरों में वृषभ के समान श्रेष्ठ तथा सिद्ध-देव, किन्नर, नाग, असुरपति एवं भवनेन्द्रों के

समूह द्वारा पूजित बताया गया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर ऋषभनाथ को स्वयंभू, चतुर्मुख, पितामह, भानु, शिव, शंकर, त्रिलोचन, महादेव, विष्णु, हिरण्यगर्भ, महेश्वर, ईश्वर, रुद्र और स्वयं सम्बुद्ध आदि नामों से देवता एवं मनुष्यों द्वारा वंदित बताया गया है।[६२] इन्हें प्रथम नृप, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर तथा प्रथम धर्म-चक्रवर्ती कहा गया है।[६३] शिवपुराण में शिव के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख भी हुआ है।[६४] ऋषभदेव के साथ वृषभ तथा शिव के साथ नन्दी समान रूप से जुड़ा है। इसी प्रकार ऋषभदेव का निर्वाण स्थल कैलाश पर्वत माना गया है और शिव भी कैलाशवासी माने जाते हैं।[६५] महाभारत के अनुशासन पर्व में जहाँ एक ओर शिव का ऋषभ नाम आया है,[६६] वहीं दूसरी ओर आदिपुराण में वृषभदेव को शंभु,, शिव, मृत्युंजय, महेश्वर, शंकर, त्रिपुरारि तथा त्रिलोचन आदि नामों से संबोधित किया गया है।[६७] शिव के मस्तक पर जटामुकुट और ऋषभनाथ के साथ कंधों पर लटकती जटाओं और यक्ष के रूप में गाय के मुखवाले गोमुख यक्ष की परिकल्पना भी दोनों की एकात्मकता का संकेत देते हैं। गोमुख यक्ष का वाहन वृषभ है और उसके एक हाथ में परशु दिखाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महायोगी शिव के स्वरूप के आधार पर ही जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की कल्पना की गयी। भागवत्पुराण में वर्णित ऋषभ का सन्दर्भ ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि के स्वरूप से साम्यता रखता है।[६८] ऋग्वेद[६९] की एक ऋचा में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख आया है। ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैन धर्म की प्राचीनता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।[७०] इस आधार पर जैन धर्म की संभावित प्राचीनता ई० पू० १५०० तक मानी जा सकती है।[७१] श्रीमद्भागवत्[७२] में भी ऋषभदेव का उल्लेख आया है जिसके अनुसार वासुदेव ऋषभरूप में नाभि और मरुदेवी के यहाँ अवतरित हुए। जैनेतर पुराणों—मार्कण्डेय पुराण,[७३] कूर्मपुराण,[७४] अग्निपुराण,[७५] वायुमहापुराण[७६], ब्रह्माण्डपुराण[७७], वाराहपुराण[७८], लिंगपुराण[७९], विष्णुपुराण[८०] तथा स्कन्दपुराण[८१] में ऋषभदेव के अनेक उल्लेख हैं जो शिव से सन्दर्भित हैं।

ऋषभ का जन्म इन्द्र द्वारा रचित अयोध्या नगरी के राजा व चौदह कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभिराज के यहाँ हुआ था।[८२]

ऋषभ के गर्भावतरण के ६ माह पूर्व से ९ माह बाद तक देवों द्वारा रत्नों की वृष्टि की गयी। सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर जिस समय ऋषभ का जीव मरुदेवी के गर्भ में आया, उस रात्रि मरुदेवी ने निम्नलिखित १६ शुभस्वप्नों का दर्शन किया[८३]—(१) गज, (२) वृषभ, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी (पद्मासीन और दो गजों द्वारा अभिषिक्त), (५) दो पुष्पहार, (६) चन्द्र, (७) सूर्य, (८) मत्स्ययुगल, (९) कलशद्वय, (१०) पद्मसरोवर, (११) उद्वेलित समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) विमान, (१४) नागेन्द्र भवन, (१५) रत्नराशि तथा (१६) निर्धूम अग्नि। श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों की माताओं द्वारा केवल १४ स्वप्न ही देखने का उल्लेख मिलता है।[८४] श्वेताम्बर सूची में नागेन्द्र भवन, सिंहासन तथा मत्स्ययुगल के स्थान पर सिंह ध्वज का उल्लेख है। एक बात विशेषरूप से स्मरणीय है कि अन्य सभी तीर्थंकरों की माताएँ शुभस्वप्नों में मुख में प्रवेश करता हाथी देखती हैं जबकि मरुदेवी ने अपने मुख में सुवर्ण के समान पीला वृषभ प्रवेश करते देखा था।[८५] ऋषभनाथ के वृषभ लांछन के निर्धारण में उपर्युक्त प्रसंग ध्यातव्य है।

स्वप्नदर्शन के पश्चात् मरुदेवी नाभिराज के पास आकर उपरोक्त १६ शुभस्वप्नों के बारे में बताती हैं और नाभिराज उन स्वप्नों का फल तथा ऋषभदेव के मरुदेवी के गर्भ में आगमन के बारे में बताते हैं।[८६] ऋषभ के गर्भावतरण के अवसर पर इन्द्र अन्य देवों के साथ अयोध्या नगरी में आते हैं और जिन माता-पिता को नमस्कार कर गर्भावतरण उत्सव करने के बाद दिक्कुमारियों को मरुदेवी की सेवा में नियुक्त कर वापिस चले जाते हैं।[८७]

तदनन्तर ९ महीने व्यतीत होने पर चैत्रकृष्ण नवमी के दिन मरुदेवी ने ऋषभ को जन्म दिया।[८८] श्वेताम्बर परम्परा में इनका जन्म चैत्र-शुक्ल अष्टमी के दिन माना गया है।[८९] ऋषभदेव का जन्माभिषेक करने के लिए इन्द्र-इन्द्राणी, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष तथा लोकपाल जाति के देवों के साथ अयोध्यापुरी आते हैं और जिन बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर सुवर्णमय कलशों में भरे क्षीरसागर के जल, गन्ध, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप, फल व अर्घ के द्वारा ऋषभ का जन्माभिषेक करते हैं।[९०] श्वेताम्बर परम्परा में ऋषभ के नामकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि मरुदेवी द्वारा स्वप्न में वृषभ को देखने तथा

बालक के उरुस्थल पर वृषभ का शुभलांछन होने के कारण ही उनका नाम ऋषभदेव रखा गया।[९१] दिगम्बर परम्परा में स्वप्न सन्दर्भ के साथ ही यह भी उल्लेख है कि इन्द्र ने इनका नाम वृषभदेव रखा था।[९२]

ऐसा उल्लेख है कि ऋषभ का कोई वंश नहीं था क्योंकि जिस समय उनका जन्म हुआ उस समय मानव समाज किसी कुल, जाति या वंश में विभक्त नहीं था।[९३] जब ये लगभग एक वर्ष के थे और एक दिन पिता की गोद में बैठे थे उसी समय हाथ में इक्षुदण्ड लिए इन्द्र वहाँ उपस्थित हुए। उसे प्राप्त करने के लिये ऋषभ ने दाहिना हाथ आगे बढ़ाया। इन्द्र ने इक्षु-भक्षण की ऋषभ की रुचि जानकर उनके वंश का नाम इक्ष्वाकुवंश रखा।[९४] ज्ञातव्य है कि इक्ष्वाकुवंश में ही अधिकांश तीर्थंकरों का जन्म हुआ था।

यौवनावस्था में यशस्वती तथा सुनन्दा नामक दो रूपवती व गुणवती राजकन्याओं के साथ ऋषभ का विवाह हुआ।[९५] ऋषभ के पूर्व तत्कालीन समाज में कोई वैवाहिक प्रथा प्रचलित नहीं थी।[९६] सर्वप्रथम ऋषभ ने ही भावी मानव समाज के हितार्थ विवाह परम्परा का सूत्रपात किया और मानव मन में बढ़ती हुई वासना को विवाह सम्बन्ध के माध्यम से सीमित और नियोजित कर दिया।[९७]

ऋषभदेव की यशस्वती नामक महादेवी से प्रथम चक्रवर्ती भरत सहित अन्य ९९ पुत्र एवं ब्राह्मी नाम की पुत्री तथा दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुयी।[९८]

जैन मान्यता के अनुसार ऋषभ ने ही सर्वप्रथम कर्मयुग का आरम्भ किया था। इनकी राज्य व्यवस्था से पूर्व मानव कल्पवृक्ष के फल व अपने आप उत्पन्न कन्द-मूल आदि के भोजन पर ही निर्भर था। ऋषभदेव ने सर्वप्रथम असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य तथा शिल्प इन छह कार्यों के द्वारा प्रजा को आजीविका का उपदेश दिया।[९९] शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म, लिखकर आजीविका करना मसिकर्म, जमीन को जोतना-बोना कृषिकर्म, पढ़ा कर अथवा नृत्य-गायन द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म, व्यापार करना वाणिज्यकर्म तथा हस्त की कुशलता से जीविकोपार्जन शिल्पकर्म कहलाता है।[१००] शिल्पकर्म द्वारा आजीविका का सन्दर्भ जैन परम्परा में प्रारम्भ से ही कला के महत्व को स्पष्ट करता है। कर्मयुग का आरम्भ करने के कारण ऋषभ 'कृतयुग' तथा

'प्रजापति' कहलाये हैं।[१०१] कर्मभूमि के समान ऋषभ वर्णव्यवस्था के भी जनक थे।[१०२]

ऋषभ के संसार के प्रति विरक्ति एवं दीक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि एक दिन जब वे सभामण्डप में सिंहासन पर विराजमान थे उसी समय इन्द्र ने उनके मन को राज्य व सांसारिक भोगों से विरत करने के उद्देश्य से नीलांजना नाम की एक क्षीण आयु नृत्यांगना को ऋषभ के समक्ष उपस्थित किया जो नृत्य करते समय ही मृत्यु को प्राप्त हो गयी।[१०३] इस घटना से ऋषभ को समस्त भोगों से विरक्ति हो गयी।[१०४] इस अवसर पर लौकान्तिक देवों के आगमन तथा इन्द्र द्वारा ऋषभ के दीक्षा अथवा तपः कल्याणक करने का उल्लेख मिलता है।[१०५] ऋषभ अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को साम्राज्य पद तथा बाहुबली को युवराज पद पर अधिष्ठित कर स्वयं इन्द्र द्वारा उठाये गये पालकी में बैठ सिद्धार्थक नामक वन में गये और वहाँ वस्त्र, माला व अन्य आभूषणों का त्याग कर, पंचमुष्टियों से केश लुंचन कर दिगम्बर रूप धारण कर दीक्षा ग्रहण की।[१०६] इन्द्र ऋषभ के केश क्षीर सागर में प्रवाहित कर तथा अनेक प्रकार से उनकी स्तुति कर स्वर्ग चले गये। ऋषभ के साथ चार हजार अन्य राजा भी दीक्षित हुए थे। उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बर परम्परा में ऋषभ के चार मुष्टि केश लुंचन का उल्लेख मिलता है। इन्द्र की प्रार्थना पर ऋषभ ने एक मुष्टि केश सिर पर ही रहने दिया था। उपर्युक्त परम्परा के कारण ही कुषाणकाल से सभी क्षेत्रों की मूर्तियों में ऋषभनाथ के साथ कंधों पर लटकती हुई जटाएँ दिखाई गयीं। कल्पसूत्र एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में स्पष्ट उल्लेख है कि ऋषभ के अतिरिक्त अन्य सभी जिनों ने दीक्षा के पूर्व अपने मस्तक के सम्पूर्ण केशों का पाँच मुष्टियों में लुंचन किया था।[१०७] यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ऋषभ के पंचमुष्टि केश लुंचन का उल्लेख हुआ है किन्तु मूर्त उदाहरणों में एलोरा, देवगढ़, खजुराहो तथा अन्य सभी दिगम्बर स्थलों पर श्वेताम्बर उदाहरणों के समान ही ऋषभ के कन्धों पर लटकती हुई जटाएँ दिखायी गयीं।[१०८]

दीक्षा धारण करने के पश्चात् ऋषभ छह माह तक उपवास का व्रत लेकर तपोयोग में अधिष्ठित हो गये।[१०९] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में केवल सात दिनों के महोपवास व्रत का उल्लेख है।[११०] छह माह के महोपवास व्रत के बाद भी उनका शरीर पहले की तरह ही

देदीप्यमान बना रहा तथा केश संस्कार रहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे।[१११]

अनेक वर्षों तक विभिन्न देशों में विहार करने के बाद ऋषभ पुरिमताल नामक नगर में पहुँचे और वहाँ शकट नामक उद्यान में एक वट वृक्ष के नीचे चित्त की एकाग्रता तथा विभिन्न मोहनीय कर्मों पर विजय प्राप्त कर फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में उन्होंने केवलज्ञान की प्राप्ति की।[११२] उसी समय इन्द्र ने उनकी जय-जयकार की तथा आकाश से कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा की।[११३] केवलज्ञान प्राप्त कर लेने से ऋषभ अरिहंत हो गये। तत्पश्चात् ऋषभ विभिन्न देवों द्वारा निर्मित समवसरण के तीसरे पीठ पर स्थित सिंहासन पर विराजमान हुए और कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् पहला उपदेश दिया।[११४] इस समवसरण में इन्द्र, इन्द्राणी, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी व कल्पवासी देव तथा सुर, असुर, मनुष्य, पशु, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व व चारण भी उपस्थित थे। ऋषभ के पुत्र भरत भी समवसरण में पहुँचे।[११५] इसी समवसरण में ऋषभ ने विभिन्न पुरुषार्थों, स्वर्ग व मोक्ष रूप मार्ग के फल, बन्धन व इसके कारण, सांसारिक मोह से मुक्ति, जीव, तीनों लोकों के आकार, स्वर्ग, देवों के आयु, मोक्ष स्थान, जीवों की उत्पत्ति, विनाश, भोग सामग्री, मनुष्यों के करने तथा न करने योग्य कार्य तथा भूत, भविष्यत् व वर्तमान काल सम्बन्धी तत्वों के स्वरूप का उपदेश दिया।[११६] समवसरण में देव, मनुष्य, ऋषि एवं जीव-जन्तु पारस्परिक सद्भाव के साथ प्रत्येक तीर्थंकर के प्रथम धर्मोपदेश का श्रवण करने के लिये उपस्थित हुए थे। साहित्यिक विवरण के अनुरूप शिल्प में समवसरण का निर्माण हुआ जिनके उदाहरण श्वेताम्बर स्थलों (कुंभारिया (चित्र ३७), देलवाड़ा, ओसियाँ) से अधिक संख्या में मिले हैं। समवसरण में सबसे ऊपरी भाग में तीर्थंकर तथा नीचे के तीन वृत्ताकार प्राचीरों पर देव, ऋषि आकृतियों के अतिरिक्त शत्रु भाव वाले विभिन्न पशु-पक्षियों को आमने-सामने दिखाया गया है जैसे—गज, सिंह, मयूर, सर्प इत्यादि।

समवसरण में विभिन्न तत्त्वों का निरूपण करने के बाद ऋषभ गणधरों के साथ अनेक वर्षों तक काशी, अवन्ति, कुरु, कौशल, सुह्मा, पुण्ड, चेदि, मालव, दशार्ण व विदर्भ आदि देशों में विहार करते रहे और आयु की समाप्ति के चौदह दिन पूर्व पौष मास की पूर्णमासी के दिन कैलाश-पर्वत पर विराजमान हुए।[११७] यहीं पर माघकृष्ण चतुर्दशी के दिन अभिजित नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ।[११८]

उसी समय निर्वाणकल्याणक हेतु इन्द्र सहित विभिन्न देवों का अवगमन हुआ।[११९]

आदिपुराण में ऋषभ के पिछले दस पूर्वभवों का भी वर्णन हुआ है जिसके अनुसार ऋषभ जीव पहले भव में जयवर्मा, दूसरे में महाबल, तीसरे में ललितांगदेव, चौथे में राजावज्रजंघ, पाँचवें में भोग-भूमि का आर्य, छठे में श्रीधर देव, सातवें में सुविधि, आठवें में अच्युतेन्द्र, नौवें में वज्रनाभि तथा दसवें में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ और वहाँ से च्युत होकर सब इन्द्रों द्वारा वन्दनीय ऋषभदेव हुआ।[१२०]

सर्वप्रथम कुषाणकाल में ऋषभ की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा से प्राप्त मूर्तियों में कन्धों पर तीन या पाँच लटकती हुई केश वल्लरियों से सुशोभित ऋषभ को ध्यानमुद्रा में आसीन या कायोत्सर्ग में खड़ा दिखाया गया है। गुप्तकाल में मथुरा के साथ ही चौसा और अकोटा से भी ऋषभ की मूर्तियाँ मिली हैं। ल० छठी शती ई० की अकोटा से प्राप्त ऋषभ की कायोत्सर्ग मूर्ति में यक्ष-यक्षी के रूप में सर्वानुभूति एवं अम्बिका का भी अंकन हुआ है। धोती से युक्त श्वेताम्बर परम्परा की अकोटा से प्राप्त उपर्युक्त उदाहरण में यक्ष-यक्षी निःसन्देह पारम्परिक नहीं है क्योंकि पारम्परिक यक्ष-यक्षी के रूप में गोमुख और चक्रेश्वरी का उल्लेख मिलता है। ल० ७वीं शती ई० से सभी क्षेत्रों में ऋषभनाथ की स्वतंत्र मूर्तियाँ बनीं। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत के दिगम्बर स्थलों पर ऋषभ सर्वाधिक लोकप्रिय तीर्थंकर थे जिनकी मथुरा, देवगढ़, खजुराहो (चित्र २), राजगिर आदि स्थलों (चित्र १) पर सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। किन्तु दक्षिण में उत्तर भारत की तुलना में ऋषभनाथ की बहुत कम मूर्तियाँ बनीं। यही कारण है कि राष्ट्रकूट कलाकेन्द्र एलोरा में ऋषभ की केवल पाँच मूर्तियाँ आकारित हैं जबकि पार्श्वनाथ और महावीर की क्रमशः २७ और १२ मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यही नहीं बादामी और अयहोल जैसे प्रारम्भिक चालुक्य स्थलों पर भी पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं किन्तु ऋषभनाथ की मूर्ति नहीं बनी। राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष के समकालीन जिनसेन के आदिपुराण में ऋषभनाथ के जीवनचरित्र की जिस विस्तार के साथ चर्चा मिलती है उस परिप्रेक्ष्य में एलोरा की जैन गुफाओं में ऋषभ की केवल पाँच मूर्तियों का मिलना विशेष आश्चर्यजनक है। इसी सन्दर्भ से यह भी आश्चर्यजनक है कि जहाँ ऋषभपुत्र बाहुबली

गोम्मटेश्वर की एलोरा में १५ से अधिक मूर्तियाँ हैं वहीं आदि तीर्थंकर ऋषभ की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से अत्यल्प हैं। एलोरा तथा दक्षिण भारत के अन्य स्थलों पर ऋषभ मूर्तियों की न्यूनता का अभाव सम्भवतः इस बात का संकेत है कि व्यवहारिक यानी मूर्त अभिव्यक्ति में ऋषभनाथ पार्श्व एवं महावीर की तुलना में कम लोकप्रिय थे।

ल० ८वीं शती ई० में मूर्तियों में ऋषभ के वृषभ लांछन और ९वीं-१०वीं शती ई० में पारम्परिक यक्ष-यक्षी गोमुख और चक्रेश्वरी का अंकन प्रारम्भ हुआ।[१२१] ऋषभ की जटा, वृषभ लांछन, गाय के मुख वाले परशुधारी गोमुख यक्ष तथा शंख, चक्र, गदा धारिणी गरुडवाहना चक्रेश्वरी ऋषभ के निरूपण में स्पष्टतः शिव और विष्णु के प्रभाव का संकेत देते हैं। ऋषभ के जीवन के पंचकल्याणकों एवं अन्य प्रसंगों का विस्तृत शिल्पांकन कल्पसूत्र के चित्रों और ११वीं-१२वीं शती ई० के ओसियाँ और कुम्भारिया जैसे स्थलों पर मिलते हैं जिनमें ऋषभ के जन्म के सन्दर्भ में मांगलिक स्वप्नों, विभिन्न कर्मों की शिक्षा देने, राज्याभिषेक, दीक्षा, कैवल्य एवं निर्वाण कल्याणकों का अंकन हुआ है (चित्र ३७)।[१२२]

एलोरा की गुफा सं० ३०, ३२ और ३३ में क्रमशः दो-दो और एक ऋषभ मूर्तियाँ मिली हैं। गुफा सं० ३० के दोनों उदाहरणों में ध्यानस्थ तीर्थंकरों के कन्धों पर लटकती केश वल्लरियों के आधार पर ऋषभनाथ की पहचान की जा सकती है। गुफा सं० ३२ के दो उदाहरणों में से एक में द्वितीर्थी और दूसरे में पंचतीर्थी तीर्थंकर मूर्तियों में जटाओं के साथ ऋषभनाथ का अंकन हुआ है जिनमें क्रमशः दो और पाँच तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग और निर्वस्त्र मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। गुफा सं० ३३ में भी द्वितीर्थी जिन मूर्ति में ऋषभनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति उत्कीर्ण है। इस प्रकार एलोरा में ऋषभ की केवल दो स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं और उनमें भी वृषभ लांछन एवं पारम्परिक यक्ष-यक्षी का अंकन नहीं हुआ है।

(२) **अजितनाथ** :

उत्तरपुराण के ४८वें पर्व में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त कथा का संक्षेप में उल्लेख है। इनका जन्म साकेत नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के यहाँ हुआ था।[१२३] इनकी माता का नाम विजयसेना था।[१२४] पृथ्वी पर आने के

छह माह पूर्व से ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने इनके घर में रत्नों की वृष्टि की।[१२५] ऐसे ही रत्नों की वृष्टि का उल्लेख सभी तीर्थंकरों के सम्बन्ध में आता है। जेठ महीने के अमावस के दिन रोहिणी नक्षत्र में रात्रि के समय माता विजयसेना ने सोलह शुभस्वप्न देखे। इन सोलह स्वप्नों को देखने के बाद उन्होंने अपने मुख में प्रवेश करता एक मदोन्मत्त हाथी देखा।[१२६] प्रातःकाल महारानी ने महाराज जितशत्रु से इन स्वप्नों का फल पूछा तथा अपने गर्भ में तीर्थंकर के अवतीर्ण होने के बारे में ज्ञान प्राप्त किया।

माघशुक्ल दशमी के दिन महारानी विजयसेना ने बालक को जन्म दिया। सुन्दर शरीर के धारक भावी तीर्थंकर का देवों ने मेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक कल्याणक किया और उनका नाम अजितनाथ रखा।[१२७] श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों का नामकरण दिगम्बर परम्परा के समान इन्द्र द्वारा न होकर अन्य किसी कारण से हुआ। अजितनाथ के नामकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि जब से वे माता विजया के गर्भ में आए, राजा जितशत्रु को कोई जीत नहीं सका। इसलिये माता-पिता ने बालक का नाम अजितनाथ रखा।

अजितनाथ की आयु बहत्तर लाख पूर्व की तथा शरीर चार सौ पचास धनुष ऊँचा था। सभी तीर्थंकरों की आयु व शरीर की ऊँचाई का विवरण 'पूर्व' व 'धनुष' के रूप में दिया गया है। हरिवंशपुराण में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—एक लाख वर्ष में चौरासी का गुणा करने पर एक पूर्वाङ्ग होता है। चौरासी लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व होता है।[१२८] इसी प्रकार छह अंगुलों का एक पाद, दो पादों की एक वितस्ति, दो वितस्तियों का एक हाथ, दो हाथों का एक किष्कु तथा दो किष्कुओं का एक दण्ड अथवा धनुष होता है।[१२९] २४ तीर्थंकरों की आयु व शरीर की ऊँचाई इत्यादि क्रम-क्रम से घटती दिखलायी देगी जो अवसर्पिणी काल की एक प्रमुख विशेषता रही है।

बहुत समय तक राज्य का उपभोग करने के बाद जब एक दिन अजित महल की छत पर बैठे थे वहीं उन्होंने बहुत भारी उलका देखी। उसी समय से उन्हें इस संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी। लौकान्तिक देवों ने ब्रह्मस्वर्ग से आकर उनके विरक्तिपूर्ण विचारों की प्रशंसा की। अजित ने अपने पुत्र अजितसेन को राज्य देकर स्वयं सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के समीप एक हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षा

ली। उसी समय इन्द्रादि देवों ने उनका दीक्षा कल्याणक किया।[१३०] दीक्षा लेते ही इन्हें चतुर्थ मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और दूसरे दिन वह साकेत नगरी पहुँचे जहाँ ब्रह्मा नामक राजा ने उन्हें यथाक्रम से दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया।

बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताने के बाद पौषशुक्ल एकादशी[१३१] के दिन रोहिणी नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुयी।[१३२] महापुराण (पुष्पदन्तकृत) में कैवल्य की प्राप्ति होने पर इन्द्र द्वारा की गयी स्तुति में इन्हें भूतनाथ, नागों को धारण करने वाला, भभूत से अलंकृत शरीर व तीन नेत्रों वाला तथा हर (शिव), ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामों से अभिहित किया गया है और इनके हाथ में चक्र लांछन का उल्लेख हुआ है।[१३३] उपर्युक्त विशेषताएँ एवं नाम स्पष्टतः शिव, ब्रह्मा, विष्णु सहित ब्राह्मण त्रिदेवों से सम्बन्धित हैं जो आदिपुराण में ऋषभनाथ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कैवल्य प्राप्ति के बाद अजित समस्त आर्य क्षेत्र में विहार कर सम्मेदाचल पर पहुँचे और वहीं एक मास तक स्थिर निवास कर चैत्र शुक्ल पंचमी के दिन रोहिणी नक्षत्र में प्रातःकाल उन्होंने मुक्ति पद प्राप्त किया।[१३४]

अजितनाथ की मूर्तियों का निर्माण ल० छठीं-सातवीं शती ई० में प्रारम्भ हुआ जिसके प्रारम्भिक उदाहरण राज्य संग्रहालय, लखनऊ में हैं। मूर्तियों में अजितनाथ के साथ गज लांछन का अंकन लोकप्रिय था। किन्तु पारम्परिक यक्ष-यक्षी महायक्ष एवं अजितबला (या अजिता या विजया) का निरूपण नहीं किया गया। दिगम्बर परम्परा में अजितनाथ की यक्षी रोहिणी बतायी गयी हैं। यद्यपि देवगढ़, खजुराहो, राजगिर, उड़ीसा की नवमुनि एवं बारभुजी गुफाओं जैसे दिगम्बर स्थलों पर अजितनाथ की कुछ मूर्तियाँ बनीं किन्तु उनमें पारम्परिक यक्ष-यक्षी का निरूपण नहीं हुआ।[१३५]

दक्षिण भारत में अजितनाथ की मूर्तियों के उदाहरण अत्यल्प हैं। एलोरा की जैन गुफाओं में केवल तीन मूर्तियाँ मिली हैं जो गुफा सं० ३२ में हैं। दो उदाहरणों में द्वितीर्थी तीर्थंकर मूर्तियों में सिंहासन के मध्य में धर्मचक्र के दोनों ओर दो गज आकृतियों का अंकन अजितनाथ के गज लांछन का अंकन है। तीनों ही उदाहरणों में अजितनाथ ध्यानमुद्रा में आसीन हैं और उनके साथ सामान्य प्रातिहार्य भी दिखाये गये हैं। किन्तु यक्ष-यक्षी का उकेरन किसी भी उदाहरण में नहीं हुआ है।

(३) **सम्भवनाथ** :

अजितनाथ के बाद श्रावस्ती के इक्ष्वाकुवंशीय राजा दृढ़राज के यहाँ सम्भवनाथ का जन्म हुआ। इनकी माता का नाम सुषेणा तथा पिता का नाम दृढ़राज था।[१३६] फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन माता सुषेणा ने सोलह शुभस्वप्न तथा मुख में प्रवेश करता एक हाथी देखा। महाराज से उन स्वप्नों का फल जानकर वह अति प्रसन्न हुयीं और कार्तिक शुक्ल पौर्णमासी के दिन मृगशिरा नक्षत्र में उन्होंने तीन ज्ञानों से युक्त अहमिन्द्र पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों ने उनका जन्मकल्याणक उत्सव किया व उनका नाम सम्भवनाथ रखा।[१३७] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जब से ये गर्भ में आये देश की भूमि चारों ओर धान्य से लहलहा उठी, अतः माता-पिता ने इनका नाम सम्भवनाथ रखा।[१३८]

सम्भवनाथ की आयु साठ लाख पूर्व व शरीर चार सौ धनुष ऊँचा था। आयु का एक चौथाई भाग बीत जाने पर उन्हें राज्य का वैभव प्राप्त हुआ। बहुत समय तक राज्य का उपभोग करते हुए किसी दिन मेघों का विभ्रम देखकर उन्हें समस्त नश्वर विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी और उन्होंने अपना राज्य पुत्र को देकर सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। दूसरे दिन भिक्षा प्राप्त करने हेतु सम्भवनाथ ने श्रावस्ती नगरी में प्रवेश किया और वहाँ के सुरेन्द्रदत्त नामक राजा से दान में आहार प्राप्त किया। चौदह वर्षों तक छद्मस्थ अवस्था में कठोर साधना के बाद कार्तिक कृष्ण चतुर्थी के दिन शाल्मली वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसी समय कल्पवासियों तथा ज्योतिष्क आदि तीन प्रकार के देवों ने चौथा ज्ञानकल्याणक उत्सव किया। तदनन्तर धर्म का उपदेश देने के उद्देश्य से सम्भवनाथ ने बहुत समय तक आर्य देशों का विहार किया। आयु का एक माह शेष रहने पर विहार बन्द कर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर चैत्र शुक्ल षष्ठी के दिन इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। उसी समय देवों ने इनका निर्वाण कल्याणक किया।[१३९]

सम्भवनाथ की प्राचीनतम मूर्ति कुषाणकाल में मथुरा में बनी जिसमें पीठिका लेख में नामोल्लेख के आधार पर सम्भवनाथ की पहचान की जा सकी है। मध्ययुग में सम्भवनाथ की केवल कुछ ही मूर्तियाँ देवगढ़, खजुराहो, बिजनौर एवं उड़ीसा की नवमुनि व बारभुजी

गुफाओं में प्राप्त हुई हैं। एलोरा में सम्भवनाथ की कोई मूर्ति नहीं मिली है।

(४) **अभिनन्दन :**

सम्भवनाथ के बाद चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन हुए जिनका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्री राजा स्वयंवरम के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम सिद्धार्था था। अन्य तीर्थंकरों के समान इनके भी जन्म के छह माह पूर्व से देवों द्वारा रत्नवृष्टि की गयी और माता द्वारा सोलह शुभ स्वप्नों तथा मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा गया। माघ शुक्ल द्वादशी के दिन माता सिद्धार्था ने पुत्र को जन्म दिया। जन्म के बाद अन्य देवों के साथ इन्द्र ने उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया तथा अभिनन्दन नाम रखा।[१४०] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जब से अभिनन्दन माता के गर्भ में आये, सर्वत्र प्रसन्नता छा गई अतः माता-पिता व परिजनों ने मिलकर इनका नाम अभिनन्दन रखा।[१४१]

इनकी आयु पचास लाख पूर्व थी। पिता द्वारा प्राप्त राज्य का उपभोग करते हुए जब उनकी आयु के साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत गये तो एक दिन उन्होंने आकाश में मेघों द्वारा निर्मित एक हल के आकार को बनते और थोड़ी ही देर में विनष्ट होते देखा जिससे उन्हें इस नश्वर शरीर व संसार के प्रति विरक्ति हो गयी और तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी पूजा व निष्क्रमण कल्याणक किया। तदनन्तर उन्होंने अग्र उद्यान में आकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन भोजन (प्रथम पारणा) प्राप्त करने के लिये इन्होंने साकेत नगरी में प्रवेश किया और वहाँ के राजा इन्द्रदत्त द्वारा आहार प्राप्त किया। छद्मस्थ अवस्था में मौन पूर्वक अठारह वर्ष बीत जाने के बाद पौष शुक्ल चतुर्दशी के दिन सातवें पुनर्वसु नक्षत्र में इन्हें असन वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने उनकी ज्ञान-कल्याणक पूजा की। अनेक वर्षों तक पृथ्वी पर धर्म का उपदेश देने के बाद सम्मेद-पर्वत पर वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन अभिनन्दन ने निर्वाण प्राप्त किया।[१४२] उसी समय इन्द्र ने आकर उनकी पूजा व स्तुति की।

जैन कला में अभिनन्दन की स्वतन्त्र मूर्तियाँ बहुत कम उत्कीर्ण हुईं। इनका लांछन कपि बताया गया है और यक्ष-यक्षी यक्षेश्वर (या

ईश्वर) और कालिका (या काली या वज्रशृंखला) हैं। अभिनन्दन की स्वतन्त्र मूर्तियाँ केवल देवगढ़, खजुराहो एवं उड़ीसा की नवमुनि और बारभुजी गुफाओं में उत्कीर्ण हैं।[१४३] एलोरा में अभिनन्दन की एक भी मूर्ति नहीं मिली है।

(५) सुमतिनाथ

पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकु-वंशीय राजा मेघरथ के यहाँ हुआ था। इनकी माता मंगला ने १६ शुभ स्वप्न तथा मुख में प्रवेश करता एक हाथी देखा। चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में माता मंगला ने तीन ज्ञान के धारक व सत्पुरुषों में श्रेष्ठ अहमिन्द्र के जीव को जन्म दिया। इन्द्र ने अन्य देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर ले जाकर इनका जन्माभिषेक किया और उनका नाम 'सुमति' रखा।[१४४] श्वेताम्बर परम्परा में उल्लेख है कि बालक के गर्भ में रहते हुए इनकी माता ने बड़ी-बड़ी समस्याओं का अनायास ही हल निकाला था, इसी कारण महाराज ने इनका नाम सुमतिनाथ रखा।[१४५]

सुमतिनाथ की आयु चालीस लाख पूर्व व शरीर तीन सौ धनुष ऊँचा था। कुमारकाल के दस लाख पूर्व बीत जाने पर उन्हें साम्राज्य प्राप्त हुआ। लम्बे समय तक राज्य का उपभोग करने के बाद आत्मा में स्थिरता लाने के उद्देश्य से उन्हें इस संसार व विषयों से विरक्ति हो गयी। उसी समय सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने उनकी स्तुति की। सुमति ने सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

बीस वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताने के बाद प्रियंगु वृक्ष के नीचे योग धारण कर चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। तदनन्तर अठारह क्षेत्रों में विहार व धर्म का उपदेश देने के बाद जब इनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर प्रतिमायोग धारण कर चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[१४६] उत्तरपुराण में सुमतिनाथ को गर्भकल्याणक के समय 'सद्योजात', जन्माभिषेक के समय 'वाम', दीक्षाकल्याणक के समय 'अघोर', केवलज्ञान प्राप्त करने पर 'ईशान' तथा निर्वाण प्राप्त करने पर 'तत्पुरुष' कहा गया है जो स्पष्टतः पंचानन शिव के महादेव या महेश स्वरूप से सम्बन्धित हैं।[१४७] ज्ञातव्य है कि शिव के महेश मूर्तियों के उदाहरण महाराष्ट्र में एलिफैण्टा और एलोरा (गुफा सं० १६)

से मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि न केवल ऋषभनाथ बल्कि कई अन्य तीर्थंकरों की अवधारणा भी शिव से प्रभावित थी।

अभिनन्दन के समान ही सुमतिनाथ की भी १०वीं शती ई० से पूर्व की एक भी मूर्ति नहीं मिली है। केवल खजुराहो एवं महोबा के दिगम्बर तथा कुभारिया और आबू जैसे श्वेताम्बर स्थलों से सुमतिनाथ की मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें या तो पारम्परिक लांछन क्रौञ्च पक्षी उत्कीर्ण है या पीठिका लेख में तीर्थंकर का नाम दिया है। किन्तु पारम्परिक यक्ष-यक्षी तुम्बरु (या महाकाली या नरदत्ता) का अंकन नहीं किया गया है।[१४८] दक्षिण भारत और यहाँ तक कि एलोरा में भी सुमतिनाथ की एक भी मूर्ति नहीं बनी।

(६) **पद्मप्रभ** :

छठें तीर्थंकर पद्मप्रभ का जन्म कौशाम्बी नगरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा धरण के यहाँ हुआ। इनकी माता का नाम सुसीमा था जो पद्मप्रभ के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से रत्न वृष्टि आदि अतिशयों से सम्मानित थीं। अन्य जिन माताओं के समान इन्होंने भी सोलह शुभस्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखा। तदनन्तर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन इन्होंने जिन बालक को जन्म दिया जिसका इन्द्रों ने मेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया और 'पद्मप्रभ' नाम रखा।[१४९] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार गर्भकाल में माता को पद्म (कमल) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न होने तथा बालक के शरीर की प्रभा पद्म क समान होने के कारण ही इनका नाम पद्मप्रभ रखा गया।[१५०]

इनकी आयु तीस लाख पूर्व थी तथा शरीर दो सौ पचास धनुष ऊँचा था। जब उनकी आयु का एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्होंने राज्य प्राप्त किया और जब उनकी आयु सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की रह गयी तब किसी समय दरावजे पर बँधे हाथी की दशा सुनने से इन्हें इस संसार व भोगों से विरक्ति हो गयी तब चतुर्निकाय देवों ने उनका दीक्षा-कल्याणक किया। छह मास छद्मस्थ अवस्था में व्यतीत करने के बाद चैत्र शुक्ल पौर्णमासी के दिन चित्रा नक्षत्र में वट वृक्ष के नीचे इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। जीवों को मोक्ष का मार्ग बताते हुए पद्मप्रभ ने सम्मेदशिखर पर एक माह तक एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी के दिन चित्रानक्षत्र में निर्वाण प्राप्त किया।[१५१]

पद्मप्रभ का लांछन पद्म और यक्ष-यक्षी कुसुम एवं अच्युता (या मानसी या मनोवेगा) हैं। पद्मप्रभ की भी केवल कुछ ही मूर्तियाँ खजुराहो, छतरपुर, देवगढ़ एवं ग्वालियर से मिली हैं जिनमें पद्म लांछन दिखाया गया है किन्तु यक्ष-यक्षी खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के अतिरिक्त अन्य किसी उदाहरण में निरूपित नहीं हुए हैं। उड़ीसा की बारभुजी एवं त्रिशुल गुफाओं में भी पद्मप्रभ की ध्यान मुद्रा में आसीन दो मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं।[१५२] एलोरा में पद्मप्रभ की एक भी मूर्ति नहीं मिली है।

(७) सुपार्श्वनाथ :

सुपार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुप्रतिष्ठ के यहाँ हुआ था। इनकी माता पृथ्वीषेणा ने भी अन्य जिन माताओं की तरह १६ शुभस्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखा था। ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन पृथ्वीषेणा ने अहमिन्द्र को जन्म दिया जिसका इन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया और उसका नाम सुपार्श्व रखा।[१५३] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार गर्भ-काल में माता के पार्श्व के शोभन रहे होने के कारण, बालक का नाम सुपार्श्वनाथ रखा गया है।[१५४] इनकी आयु २० लाख पूर्व और शरीर दो सौ धनुष ऊँचा था। कुमारकाल के पाँच लाख पूर्व बीत जाने पर इन्होंने साम्राज्य स्वीकार किया। इन्हें किसी दिन ऋतु परिवर्तन देख कर राज्यलक्ष्मी व समस्त नश्वर पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर इनकी स्तुति की और सुपार्श्व ने एक तजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। इसी समय इन्हें मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

नौ वर्षों तक छद्मस्थ अवस्था में मौन धारण करने के बाद शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ सुपार्श्व को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी समय देवों ने इनकी पूजा की। आयु का एक माह शेष रहने तक इन्होंने धर्म का उपदेश देते हुए पृथ्वी पर विहार किया और सम्मेद शिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन सूर्योदय के समय निर्वाण प्राप्त किया।[१५५]

जैन प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों में सुपार्श्वनाथ का लांछन स्वस्तिक बताया गया है और उनके सिर पर एक, पाँच या नौ सर्पफणों के छत्र के प्रदर्शन का उल्लेख किया गया है। सुपार्श्व के यक्ष-यक्षी मातंग और

शान्ता (या काली) हैं। १०वीं शती ई० से सुपार्श्व की मूर्तियाँ बनीं जिनके उदाहरण ल० सभी श्वेताम्बर व दिगम्बर कला केन्द्रों पर देखे जा सकते हैं। सिर पर पाँच सर्पफणों के नियमित अंकन के कारण ही सुपार्श्व के साथ स्वस्तिक लांछन केवल देवगढ़ और खजुराहो के कुछ उदाहरणों में दिखाया गया है। दिगम्बर कला केन्द्रों पर सुपार्श्व की सर्वाधिक स्वतंत्र मूर्तियाँ बनीं जिनके सर्वाधिक उदाहरण देवगढ़ और खजुराहो में हैं।[१५६] एलोरा में सुपार्श्व की केवल एक मूर्ति मिली है जो गुफा सं० ३२ में है। पाँच सर्पफणों के छत्र से आच्छादित सुपार्श्व कायोत्सर्ग में निर्वस्त्र खड़े हैं। सुपार्श्व के साथ प्रातिहार्य और यक्ष-यक्षी का अंकन नहीं हुआ।

(८) **चन्द्रप्रभस्वामी** :

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जन्म चन्द्रपुर नामक नगर के राजा महासेन के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम लक्ष्मणा था। इन्होंने भी १६ शुभस्वप्नों का दर्शन किया था। पौषकृष्ण एकादशी के दिन चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ और उस अवसर पर देवों ने इनका जनकल्याणक किया। उनके जन्म लेते ही पृथ्वी मण्डल का समूह अथवा नीलकमलों का समूह अत्यन्त विकसित हो गया था। इसीलिये इन्द्र ने उनका नाम 'चन्द्रप्रभ' रखा।[१५७] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता ने गर्भकाल में चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण की तथा बालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्रमा के समान थी, इसी कारण उनका नाम चन्द्रप्रभ रखा गया।[१५८]

इनकी आयु दस लाख पूर्व तथा शरीर एक सौ पचास धनुष ऊँचा था। आयु के दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत हो जाने पर उनका राज्याभिषेक हुआ और राज्य का उपभोग करते हुए एक दिन दर्पण में अपना मुख कमल देखते समय इन्हें संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी। तब चन्द्रप्रभ ने अपना राज्य वरचन्द्र नामक पुत्र को देकर सर्वर्तुक नामक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर जिनकल्प मुद्रा में तीन माह बिताकर उन्होंने नागवृक्ष के नीचे केवलज्ञान की प्राप्ति की। देवों ने उसी समय इनकी ज्ञानकल्याणक पूजा की। चन्द्रप्रभ के चौतीस अतिशयों व आठ प्रातिहार्यों का भी उल्लेख उत्तरपुराण में हुआ है। समस्त आर्य देशों में विहार और धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हुए चन्द्रप्रभ सम्मेद शिखर पर पहुँचे। वहाँ

विहार बन्द कर एक हजार मुनियों के साथ एक माह तक प्रतिमा-योग धारण कर फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[१५९]

यद्यपि एलोरा में चन्द्रप्रभ की एक भी मूर्ति नहीं मिली है किन्तु अन्य क्षेत्रों में गुप्तकाल से ही चन्द्रप्रभ की स्वतंत्र मूर्तियों के उदाहरण मिलते हैं (चित्र ३)। इन उदाहरणों में चन्द्रप्रभ के शशि लांछन का अंकन हुआ है किन्तु पारम्परिक यक्ष-यक्षी विजय (या श्याम) एवं भृकुटि (या ज्वाला) का रूपायन नहीं मिलता। खजुराहो, देवगढ़ तथा उड़ीसा की बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं की दिगम्बर परम्परा की मूर्तियों के अतिरिक्त उड़ीसा में कोणार्क के समीप ककतपुर एवं उ० प्र० में कौशाम्बी (चित्र ४) से भी चन्द्रप्रभ की मूर्तियाँ मिली हैं।[१६०]

९. सुविधिनाथ (या पुष्पदन्त) :

नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ (या पुष्पदन्त) का जन्म भरतक्षेत्र के काकन्दी नामक नगरी के काश्यपगोत्री राजा सुग्रीव के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम जयरामा था। इन्होंने भी अन्य जिन माताओं की ही तरह १६ शुभ स्वप्न देखे तथा देवों द्वारा रत्नवृष्टि से हर्षित हुईं। मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा के दिन सुविधि का जन्म हुआ। उसी समय देवों के साथ आकर इन्द्रों ने क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और पुष्पदन्त नाम रखा।[१६१] श्वेताम्बर परम्परा में इनके नामकरण के सन्दर्भ में उल्लेख है कि महाराज सुग्रीव ने सोचा कि बालक के गर्भकाल में माता सब विधियों से कुशल रहीं इसलिये इनका नाम सुविधिनाथ और गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ इसलिए पुष्पदन्त नाम रखा जाय।[१६२]

इनकी आयु दो लाख पूर्व और शरीर सौ धनुष ऊँचा था। राज्याभिषेक के बाद राज्य करते हुए जब उनकी आयु के पचास हजार पूर्व व अट्ठाईस पूर्वांग बीत गये तो एक दिन दिशाओं का अवलोकन करते समय उल्कापात देखकर उन्हें इस नश्वर संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी और आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी पूजा की। इन्होंने सुमति नामक पुत्र को राज्य सौंपकर पुष्पकवन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की। उसी समय इन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था में चार वर्ष तक तपस्या में अपना समय व्यतीत करने के बाद

कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन मूल नक्षत्र में नागवृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। चतुर्णिकाय देवों के इन्द्रों द्वारा समवसरण की रचना की गयी। इस तरह बारह सभाओं से पूजित पुष्पदन्त आर्य-देशों में विहार करते हुए सम्मेदशिखर पर पहुँचे और भाद्रशुक्ल अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में निर्वाण पद प्राप्त किया।[१६३]

विदिशा (म० ०प्र) से मिली चौथी शती ई० की पुष्पदन्त की ध्यानस्थ मूर्ति के बाद ११वीं शती ई० के पूर्व की कोई दूसरी स्वतंत्र मूर्ति नहीं मिली है। अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा पुष्पदन्त की स्वतंत्र मूर्तियों की संख्या नगण्य है जिसके दो उदाहरण उड़ीसा की बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। पुष्पदन्त का लांछन मकर है और यक्ष-यक्षी अजित एवं सुतारा (या महाकाली) हैं।[१६४] एलोरा में पुष्पदन्त की एक भी मूर्ति नहीं है।

१०. **शीतलनाथ** :

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म भरतक्षेत्र के मलय नामक देश के इक्ष्वाकुवंशीय राजा दृढ़रथ के यहाँ हुआ था। इनकी माता सुनन्दा ने भी पूर्ववत् सोलह मांगलिक स्वप्नों तथा मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। सुनन्दा ने माघकृष्ण द्वादशी के दिन जिन पुत्र को जन्म दिया जिसका देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया और 'शीतलनाथ' नाम रखा।[१६५] श्वेताम्बर परम्परा में इनके नामकरण के सन्दर्भ में उल्लेख है कि बालक के गर्भकाल में महाराज दृढ़रथ के शरीर में भयंकर दाह-ज्वर की पीड़ा थी जो विभिन्न उपचारों से भी शान्त नहीं हुई। एक दिन सुनन्दा देवी के कर स्पर्श मात्र से ही वह वेदना बिल्कुल शान्त हो गयी व तन-मन में शीतलता छा गयी। अतः सबने मिलकर बालक का नाम शीतलनाथ रखा।[१६६]

शीतलनाथ की आयु एक लाख पूर्व और शरीर नब्बे धनुष ऊँचा था। आयु का चतुर्थ भाग बीत जाने पर उन्हें राज्यपद प्राप्त हुआ। जब उनकी आयु का चतुर्थ भाग शेष रह गया तो एक दिन वन में विहार करते हुए उन्होंने पाले के समूह को क्षण भर में नष्ट होता देखा। उसी समय उन्हें समस्त नश्वर पदार्थों एवं संसार से विरक्ति हो गयी और उन्होंने सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ली। तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था में तीन वर्ष व्यतीत करने के बाद एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे पौष कृष्ण चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में इन्हें

केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अनेक देशों में धर्मोपदेश एवं विहार करते हुए ये सम्मेदशिखर पर पहुँचे, जहाँ पर एक माह का योग निरोध कर प्रतिमायोग धारण कर एक हजार मुनियों के साथ आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त किया। उसी समय इन्द्र ने इनका पंचकल्याणक किया।[१६७]

शीतलनाथ के १०वीं शती ई० से पूर्व की एक भी स्वतंत्र मूर्ति नहीं मिली है। स्वतंत्र मूर्तियों के उदाहरण बारभुजी गुफा, आरंग एवं त्रिपुरी (म० प्र०) और कुम्भारिया से मिले हैं। शीतल का लांछन श्रीवत्स है और यक्ष-यक्षी के रूप में ब्रह्म (या ब्रह्मा) एवं अशोका (या मानवी) का उल्लेख मिलता है।[१६८] एलोरा में शीतलनाथ की कोई मूर्ति नहीं मिली है।

११. **श्रेयांसनाथ** :

११वें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ का जन्म भरत क्षेत्र के सिंहपुर नामक नगर के इक्ष्वाकुवंशीय राजा विष्णु के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम नन्दा था। फाल्गुन कृष्ण एकादशी (श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार फाल्गुन कृष्ण द्वादशी) के दिन इनका जन्म हुआ था। सौधर्मेन्द्र ने जिनबालक को महामेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसमुद्र के जल से उनका अभिषेक किया और श्रेयांस नाम रखा।[१६९] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जिन बालक के जन्म होने से समस्त राजपरिवार व राष्ट्र का श्रेय-कल्याण हुआ, अतः माता-पिता ने इनका नाम श्रेयांसनाथ रखा।[१७०]

श्रेयांसनाथ की आयु चौरासी लाख वर्ष तथा शरीर अस्सी धनुष ऊँचा था। कुमारावस्था के इक्कीस लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर उन्होंने राज्य प्राप्त किया तथा बयालीस वर्ष तक राज्य करने के बाद एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर इन्हें इस नश्वर संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर इनकी स्तुति की। अपना राज्य पुत्र को सौंप कर ये मनोहर नामक उद्यान में गये और वहाँ एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की।

छद्मस्थ अवस्था में दो वर्ष बीत जाने पर तुम्बुर वृक्ष के नीचे माघ-कृष्ण अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। कई वर्षों तक धर्म का उपदेश देते और विहार करते हुए श्रेयांसनाथ सम्मेदशिखर पर पहुँचे और वहाँ एक माह तक प्रतिमायोग धारण

कर उन्होंने श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन धनिष्ठा नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त किया। उसी समय देवों ने उनका निर्वाण कल्याणक किया।[१७१]

श्रेयांसनाथ का लांछन गेंडा और यक्ष-यक्षी ईश्वर एवं मानवी (या गौरी) हैं। श्रेयांसनाथ की ११वीं-१३वीं शती ई० की केवल कुछ ही स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं जिनके उदाहरण बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं, इन्दौर संग्रहालय एवं कुम्भारिया के पार्श्वनाथ मन्दिर में है।[१७२] एलोरा में श्रेयांस की एक भी मूर्ति नहीं मिली है।

१२. वासुपूज्य :

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्री राजा वसुपूज्य के यहाँ हुआ था। इनकी माता जयावती भी अन्य जिन माताओं की तरह छह माह पूर्व देवों द्वारा रत्नवृष्टि से सम्मानित हुई थीं। तदनन्तर फाल्गुन कृष्णपक्ष के चतुर्दशी के दिन वारुण योग में वासुपूज्य का जन्म हुआ जिसका सौधर्म आदि देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर कलश द्वारा क्षीर सागर से लाये हुए जल द्वारा जन्माभिषेक किया और वासुपूज्य नाम रखा।[१७३] श्वेताम्बर परम्परा में इनके नामकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि महाराज वसुपूज्य का पुत्र होने के कारण इनका नाम 'वासुपूज्य' रखा गया।

वासुपूज्य की आयु बहत्तर लाख वर्ष तथा शरीर सत्तर धनुष ऊँचा था व कान्ति कुंकुम के समान थी। कुमार काल के अट्ठारह लाख वर्ष बीतने पर उन्हें इस संसार से वैराग्य हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवों द्वारा उनकी स्तुति व देवों द्वारा दीक्षाकल्याणक अभिषेक किया गया। वासुपूज्य मनोहरोद्यान नामक वन में जाकर छह सौ छिहत्तर राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। हेमचन्द्र तथा जिनसेन ने वासुपूज्य को अविवाहित बताया है। छद्मस्थ अवस्था में एक वर्ष व्यतीत करने के बाद माघ शुक्ल द्वितीया के दिन कदम्ब वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी समय सौधर्म आदि इन्द्रों ने उनकी ज्ञानकल्याणक पूजा की। विहार व धर्म का उपदेश देते हुए जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया तब इन्होंने चौरानबे मुनियों के साथ भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन मोक्ष प्राप्त किया।[१७४]

१०वीं शती ई० से ही वासुपूज्य की मूर्तियाँ बनीं जिनके केवल कुछ ही उदाहरण मिले हैं जो शहडोल, बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं तथा विमलवसही और कुम्भारिया में देखे जा सकते हैं। वासुपूज्य का लांछन

महिष है और यक्ष-यक्षी के रूप में कुमार एवं चन्द्रा (या गान्धारी) का उल्लेख मिलता है।[१७५] एलोरा में वासुपूज्य की एक भी मूर्ति नहीं है।

१३. विमलनाथ :

तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म काम्पिल नामक नगर के ऋषभदेव के वंशज कृतवर्मा के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम जयश्यामा था। माघ शुक्ल चतुर्थी के दिन माता जयश्यामा ने जिन पुत्र को जन्म दिया। जन्माभिषेक करने के बाद देवों ने जिन पुत्र का नाम 'विमलवाहन' रखा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार बालक के गर्भ में रहने के समय माता तन-मन से निर्मल बनी रहीं इसी कारण महाराज ने बालक का नाम 'विमलनाथ' रखा।[१७६]

इनकी आयु साठ लाख वर्ष व शरीर साठ धनुष ऊँचा था। पन्द्रह लाख वर्ष का कुमार काल बीत जाने पर इनका राज्याभिषेक हुआ और राज्य का उपभोग करते हुए जब उनकी आयु के तीस लाख वर्ष बीत गये तो एक दिन हेमन्त ऋतु में बर्फ की शोभा को तत्क्षण विलीन होता हुआ देखकर उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। उसी समय सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने उनकी स्तुति व अन्य देवों ने दीक्षा कल्याणक उत्सव किया। तीन वर्ष व्यतीत हो जाने पर माघ शुक्ल षष्ठी के दिन जामुन के वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी समय देवों द्वारा उनके लिये देव दुन्दुभि आदि आठ मुख्य प्रातिहार्यों को प्रकट करने का उल्लेख सर्वप्रथम गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में 'विमलनाथ' के साथ मिलता है। अनेक देशों में विहार करने के बाद सम्मेदशिखर पर एक माह का निरोध धारण कर, आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर आषाढ़ कृष्ण अष्टमी के दिन उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।[१७७]

ल० ९वीं शती ई० से विमलनाथ की स्वतन्त्र मूर्तियों के उदाहरण मिलते हैं जिसका एक प्रारम्भिक उदाहरण वाराणसी से मिला है और सम्प्रति सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है (चित्र ५)। कुछ अन्य उदाहरण बटेश्वर (आगरा), अलुआरा और बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं तथा विमलवसही से मिले हैं। विमलनाथ के साथ लांछन के रूप में वराह का और यक्ष-यक्षी के रूप में षण्मुख एवं विदिता (या चैरोट्या) का उल्लेख हुआ है।[१७८] एलोरा में विमलनाथ की एक भी मूर्ति नहीं मिली है।

१४. **अनन्तनाथ :**

चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ का जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री राजा सिंहसेन के यहाँ हुआ था। इनकी माता जयश्यामा ने भी अन्य जिन माताओं की तरह सोलह शुभस्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखा। ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन इनका जन्म हुआ और तभी इन्द्रों ने उन्हें मेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया एवं 'अनन्तजित्' नाम रखा।[१७९] श्वेताम्बर परम्परा में इनके नामकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि नामकरण के समय महाराज सिंहसेन ने विचार किया—"बालक की गर्भावस्था में आक्रमणार्थ आये हुए अतीव उत्कट अपार शत्रु सैन्य पर भी मैंने विजय प्राप्त की, अतः इस बालक का नाम अनन्तनाथ रखा जाय।"[१८०]

इनकी आयु तीन लाख वर्ष व शरीर पचास धनुष ऊँचा था। इनका रंग सुवर्ण के समान था व इन्हें सभी शुभ लक्षणों से युक्त बताया गया है। राज्याभिषेक के बाद अनेक वर्षों तक राज्य का उपभोग करने के बाद एक दिन उल्कापात देखकर इन्हें संसार से विरक्ति हो गयी। लौकान्तिक देवों द्वारा पूजित होने के बाद अपने पुत्र को राज्य सौंप कर ये सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये और उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ।[१८१] छद्मस्थ अवस्था में तपश्चरण करते हुए दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में पीपल वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अनेक वर्षों तक प्रसिद्ध देशों में धर्म का उपदेश देते हुए अन्त में सम्मेद-शिखर पर एक माह का योग निरोध कर चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन इन्हें मोक्ष की प्राप्ति हुई।[१८२]

अनन्तनाथ का लांछन श्येन पक्षी या रीछ तथा यक्ष-यक्षी पाताल एवं अंकुश (या अनन्तमति) हैं। १२वीं-१३वीं शती ई० की अनन्तनाथ की केवल दो स्वतन्त्र मूर्तियाँ बारभुजी गुफा और विमलवसही से मिली हैं।[१८३] एलोरा में इनकी एक भी मूर्ति नहीं है।

१५. **धर्मनाथ :**

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म रत्नपुर नगर के राजा भानु के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम सुप्रभा था। माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र में सुप्रभा ने जिन बालक को जन्म दिया जिसका इन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया व

'धर्मनाथ' नाम रखा।[१८४] श्वेताम्बर परम्परा में इनके नामकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि गर्भकाल में माता की भावना सदा धर्ममय रही, अतः इनका नाम धर्मनाथ रखा गया।[१८५]

इनकी आयु दस लाख वर्ष और शरीर एक सौ अस्सी हाथ ऊँचा था। कुमार काल के ढाई लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्हें राज्य प्राप्त हुआ और राज्य करते हुए पाँच लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक दिन उल्कापात देखकर इन्हें इस संसार से विरक्ति हो गयी। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर इनका दीक्षा कल्याणक किया। अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर इन्होंने शालवन उद्यान में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण किया और उसी समय इन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। छद्मस्थ अवस्था में एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर पौष शुक्ल पूर्णिमा के दिन पुष्य नक्षत्र में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अनेक वर्षों तक विहार व धर्म का उपदेश देने के बाद सम्मेदशिखर पर ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन धर्मनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया।[१८६]

वज्र लांछन एवं किन्नर और कन्दर्पा (या मानसी) यक्ष-यक्षी वाले धर्मनाथ की केवल कुछ ही मूर्तियाँ बारभुजी और त्रिशूल गुफाओं, इन्दौर संग्रहालय और विमलवसही से मिली हैं।[१८७] एलोरा में धर्मनाथ की एक भी मूर्ति नहीं उत्कीर्ण है।

१६. शान्तिनाथ :

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ को चक्रवर्ती पद भी प्राप्त था। ऋषभ, पार्श्व और महावीर के बाद निःसंदेह शान्तिनाथ जैनधर्म के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थंकर थे जिनसे सम्बन्धित कई स्वतन्त्र चरित-ग्रन्थों की भी रचना की गयी।

इनका जन्म हस्तिनापुर के काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम ऐरा था। इन्होंने भी अन्य जिन माताओं की तरह सोलह शुभ स्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखने के बाद गर्भ धारण किया था। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन इन्होंने जिन बालक को जन्म दिया जिसे इन्द्र ऐरावत हाथी पर सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ क्षीरसागर के जल से अभिषेक करने के बाद इनका नाम 'शान्तिनाथ' रखा। श्वेताम्बर परम्परा में इनके नामकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि इनके जन्म से पूर्व हस्तिनापुर में महामारी से

लोग भयाक्रान्त थे जो इनके गर्भ में आने के साथ ही शान्त हो गयी, फलस्वरूप इनका नाम 'शान्तिनाथ' रखा गयी।[१८८]

इनकी आयु एक लाख वर्ष व शरीर चालीस धनुष ऊँचा था। उत्तरपुराण में सर्वप्रथम शान्तिनाथ के चिह्नों का ही उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार उनके शरीर में ध्वज, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शंख तथा चक्र आदि चिह्न थे। अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए जब कुमारकाल के उनके पचीस हजार वर्ष बीत गये तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और राज्य का भी पचीस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्हें तेज को प्रकट करने वाले चौदह रत्न—चक्र, छत्र, खड्ग, दण्ड, काकिणी, चर्म, चूड़ामणि, पुरोहित, स्थपति, सेनापति, गृहपति, कन्या, गज तथा अश्व और नौ निधियाँ प्राप्त हुईं।[१८९] ये सभी चक्रवर्ती पद के सूचक हैं। ऋषभपुत्र भरत चक्रवर्ती के देवगढ़ से प्राप्त मूर्तियों में भी नव निधियों और १४ रत्नों का अंकन देखा जा सकता है।[१९०]

चक्रवर्ती रूप में अनेक प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए पुनः उनके पचीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब देखकर उन्हें संसार से विरक्ति हो गयी, तदुपरान्त नारायण नामक अपने पुत्र को राज्य सौंपकर ये दीक्षित हो गये। तत्पश्चात् शान्तिनाथ ने सहस्राम्रवन में जाकर पंचमुष्टियों से केशों का लुंचन किया और वस्त्रआदि समस्त उपकरण छोड़कर दिगम्बर मुद्रा धारण कर लिया। इन्द्र ने उनके केशों को पिटारे में रखकर क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। तदुपरान्त शान्तिनाथ ने मन्दिरपुर नगर के राजा सुमित्र से प्रासुक आहार प्राप्त किया। छद्मस्थ अवस्था में सोलह वर्ष व्यतीत करने एवं धर्म का उपदेश देने हेतु विहार करने के बाद आयु के एक माह शेष रहने पर सम्मेदशिखर पर इन्होंने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन निर्वाण प्राप्त किया।[१९१]

शान्तिनाथ की स्वतंत्र मूर्तियों का अंकन ल० ७वीं शती ई० से ही उत्तर भारत के विभिन्न श्वेताम्बर और दिगम्बर कला केन्द्रों पर लोकप्रिय था। देवगढ़, खजुराहो, चाँदपुर, कुंभारिया तथा कई अन्य स्थलों पर शान्तिनाथ के मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। शान्तिनाथ की स्वतंत्र मूर्तियों के उदाहरण मुख्यतः देवगढ़, खजुराहो चाँदपुर, कुंभारिया, विमलवसही, कौशाम्बी, मालादेवी मन्दिर (ग्यारसपुर), अहाड़, राजपारा (मिदनापुर), पक्बीरा (पुरुलिया) और बारभुजी एवं त्रिशूल

गुफाओं से मिलते हैं जिनमें मृग लांछन अंकित है किन्तु पारम्परिक यक्ष-यक्षी गरुड एवं निर्वाणी (या महामानसी) के स्थान पर अधिकांशतः कुबेर और अम्बिका निरूपित हैं। विमलवसही एवं कुंभारिया के शान्तिनाथ और महावीर मन्दिरों (११वीं–१२वीं शती ई०) के वितानों पर शान्तिनाथ के जीवन दृश्यों का विस्तारपूर्वक अंकन हुआ है जिसमें शान्तिनाथ के पूर्व जन्म की कथा को भी अभिव्यक्त किया गया है (चित्र ३८-३९,)।[१९२] उत्तरभारत में यद्यपि शान्तिनाथ का शिल्पांकन विशेष लोकप्रिय था किन्तु दक्षिण भारत से इनकी मूर्ति के उदाहरण नहीं मिले हैं। एलोरा में भी शान्तिनाथ की कोई मूर्ति नहीं है।

१७. **कुन्थुनाथ** :

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ चक्रवर्ती भी थे। इनका जन्म हस्तिनापुर के कौरववंशी काश्यपगोत्री राजा सूरसेन के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम श्रीकान्ता था जिन्होंने देवों द्वारा की गयी रत्नवृष्टि से पूजित होने, सोलह शुभस्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखने के बाद सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में जिन बालक का जन्म होने पर इन्द्र एवं अन्य देवों तथा धरणेन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और 'कुन्थु' नाम रखा।[१९३] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जन्म अवसर पर महाराज ने मित्रजनों के समक्ष कहा—"गर्भ समय में बालक की माता ने कुन्थु नामक रत्नों की राशि देखी अतः बालक का नाम 'कुन्थुनाथ' रखा जाता है।"[१९४]

इनकी आयु पंचानबे हजार वर्ष व शरीर पैंतीस धनुष ऊँचा था। कुमारकाल के तेइस हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत हो जाने पर इन्हें राज्य व इतना ही समय और व्यतीत हो जाने पर चक्रवर्ती लक्ष्मी प्राप्त हुई। एक दिन षडंग सेना सहित वन में क्रीड़ा को गये कुन्थुनाथ जब वापस नगर की ओर लौट रहे थे तभी मार्ग में एक मुनि को आतप-योग में स्थित देख व अपने पूर्वभव का स्मरण कर उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा से संसार के प्रति उन्हें विरक्ति हो गयी। उसी समय लौकान्तिक देवों ने उनका स्तवन किया। कुन्थु ने सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की। उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

कठिन तपश्चरण करते हुए सोलह वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक

दिन तिलक वृक्ष के नीचे चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अनेक देशों में धर्मोपदेश हेतु विहार करते हुए जब आयु का एक माह शेष रह गया तब सम्मेदशिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृतिका नक्षत्र में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[१९५] लगभग ११वीं शती ई० से कुन्थुनाथ की मूर्तियों के कुछ उदाहरण मिले हैं जो अलुअर (बिहार), बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं, राजपूताना संग्रहालय, अजमेर व विमल-वसही में देखे जा सकते हैं। कुन्थु का लांछन छाग (या बकरा) और यक्ष-यक्षी गन्धर्व एवं बला (या अच्युता या जया) हैं।[१९६] एलोरा में कुन्थुनाथ की मूर्ति नहीं है।

१८. **अरनाथ :**

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ चक्रवर्ती भी थे जिनका जन्म हस्तिनापुर के सोमवंशी काश्यपगोत्री राजा सुदर्शन के यहाँ हुआ था। इनकी माता मित्रसेना ने भी सोलह शुभस्वप्न देखे तथा देवों द्वारा गर्भकल्याणक उत्सव के बाद मृगशिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में तीन ज्ञानों से सुशोभित उत्तम पुत्रको जन्म दिया। उनके जन्म कल्याणक में विभिन्न उत्तमदेव अपने देवियों के साथ सम्मिलित हुए।[१९७]

अरनाथ तीर्थंकर की आयु चौरासी हजार वर्ष तथा शरीर तीस धनुष ऊँचा था। कुमारकाल के इक्कीस हजार वर्ष तथा इतना ही और समय बीत जाने पर इन्हें राज्य व चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। एक दिन शरद ऋतु के मेघों को अकस्मात् विलय होता देख कर इन्हें इस संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी और तभी अपने अरविन्द कुमार नामक पुत्र को राज्य देकर अरनाथ सहेतुक वन में चले गये और वहाँ एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये।[१९८] छद्मस्थ अवस्था में सोलह वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में आम्रवृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

विभिन्न देशों में धर्म का उपदेश देने के लिये विहार करते हुए जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया तब सम्मेदशिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। चक्रवर्ती होने के कारण अरनाथ को भी चौदह रत्नों व नौ निधियों का अधिपति माना गया है।[१९९]

अरनाथ का लांछन दिगम्बर परम्परा में मत्स्य बताया गया है जबकि यक्ष और यक्षी यक्षेन्द्र और धारिणी (या तारावती) हैं। १०वीं शती ई० की सहेठ-महेठ (गोंडा, उ० प्र०) से प्राप्त मत्स्य लांछन से युक्त अरनाथ की एक मूर्ति राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है। कुछ अन्य मूर्तियाँ मध्यप्रदेश के अहाड़, मदनपुर एवं बजरंगगढ़ तथा बारभुजी गुफा से प्राप्त हुई हैं।[२००] एलोरा में अरनाथ की कोई मूर्ति नहीं है।

१९. **मल्लिनाथ :**

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का जन्म मिथिला नगरी के इक्ष्वाकु-वंशी काश्यपगोत्री राजा कुम्भ के यहाँ हुआ था। इनकी माता प्रजावती थी। मृगशिर सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में माता प्रजावती ने जिन बालक को जन्म दिया जो सभी लक्षणों से युक्त थे और जिनका देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया व 'मल्लिनाथ' नाम रखा।[२०१] श्वेताम्बर परम्परा में मल्लिनाथ को नारी तीर्थंकर बताया गया है। नायाधम्मकहाओ में नारी तीर्थंकर मल्लिनाथ के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के विस्तृत उल्लेख हैं।[२०२] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता के गर्भकाल में पुष्यशय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ अतः महाराज कुम्भ ने नामकरण के समय इनका नाम 'मल्ली' रखा।[२०३]

मल्लिनाथ की आयु पचपन हजार वर्ष व शरीर पचीस धनुष ऊँचा था। कुमारकाल के सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर जब इनके विवाह के लिये नगर सजाया जा रहा था तभी इन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और संसार से विरक्ति हो गयी। छद्मस्थ अवस्था में छह दिन बीत जाने पर अशोक वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। धर्मोपदेश हेतु विहार करते हुए जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया तब सम्मेदाचल पर फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।[२०४]

नारी तीर्थंकर के रूप में उकेरित ११वीं शती ई० की एक श्वेताम्बर मूर्ति उन्नाव से मिली है और वर्तमान में राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है। मूर्ति में वक्षस्थल का उभार और वेणी के रूप में प्रदर्शित केश रचना द्रष्टव्य है। दिगम्बर परम्परा की तीन मूर्तियाँ क्रमशः

बारभुजी एवं त्रिशूल गुफाओं तथा रामवन संग्रहालय, सतना में हैं।[२०५] एलोरा में मल्लिनाथ की मूर्ति नहीं है।

२०. मुनिसुव्रत :

बीसवें तीर्थंकर 'मुनिसुव्रत' का जन्म राजगृह नगर के हरिवंशी काश्यपगोत्री राजा सुमित्र के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम सोमा था। इन्द्रों ने अन्य तीर्थंकरों की भाँति इनका भी सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया और 'मुनिसुव्रत' नाम रखा।[२०६] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार गर्भकाल में इनकी माता सम्यक् रीति से मुनि की तरह व्रत का पालन करती रहीं अतः महाराज सुमित्र ने इनका नाम 'मुनिसुव्रत' रखा।[२०७] उत्तरपुराण के ६७वें पर्व में आठवें बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण के रूप में रामकथा के तीनों प्रमुख चरितों राम, लक्ष्मण और रावण का भी उल्लेख हुआ है जो मुनिसुव्रत के समकालीन थे। इनकी आयु तीस हजार वर्ष, शरीर बीस धनुष ऊँचा और कान्ति मयूर के कण्ठ के समान नीली थी। आयु के पन्द्रह हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक दिन उनके भागहस्ती ने अपने पूर्वभव का स्मरण कर जब खाना-पीना छोड़ दिया तभी इन्हें भी नश्वर संसार के प्रति विरक्ति हो गयी और इन्होंने दीक्षा धारण कर लिया। तपश्चरण करते हुए छद्मस्थ अवस्था में ग्यारह माह व्यतीत हो जाने पर चम्पक वृक्ष के नीचे वैशाख कृष्ण नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। चिरकाल तक आर्यक्षेत्र में धर्म का उपदेश देते हुए जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया तब सम्मेद-शिखर पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।[२०८]

जैनकला में मुनिसुव्रत की मूर्तियाँ ९वीं शती ई० से ही मिलने लगती हैं, इनका लांछन कूर्म और यक्ष-यक्षी वरुण एवं नरदत्ता (या बहुरूपिणी) हैं। विमलवसही, कुम्भारिया, बजरामठ (ग्यारसपुर, म० प्र०), आगरा, खजुराहो, बारभुजी गुफा एवं राजगिर में मुनिसुव्रत की कई मूर्तियाँ मिली हैं (चित्र ७)। दिगम्बर स्थलों की मूर्तियों में मुनिसुव्रत की बहु-रूपिणी यक्षी को शय्या पर लेटे दिखाया गया है जबकि आगरा से मिली और राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित 'मुनिसुव्रत' लेख से युक्त मूर्ति के परिकर में जीवन्त स्वामी महावीर एवं बलराम और कृष्ण की आकृतियों के अतिरिक्त यक्ष-यक्षी के रूप में कुबेर और अम्बिका का

अंकन हुआ है। स्मरणीय है कि मुनिसुव्रत के समकालीन राम और लक्ष्मण रहे हैं जबकि बलराम और कृष्ण परवर्ती २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के समकालीन थे।[२०९] आश्चर्य है कि एलोरा में मुनिसुव्रत की एक भी मूर्ति नहीं बनी।

२१. **नमिनाथ** :

२१वें तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म मिथिला नगरी के वृषभदेव के वंशज, काश्यपगोत्री राजा विजय महाराज के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम वप्पिला था। जन्म के छह माह पूर्व से देवों ने इनके आँगन में रत्नवृष्टि द्वारा इनकी पूजा की व श्री, ह्री तथा धृति आदि देवियों ने विभिन्न प्रकार से इनकी सेवा की। इन्होंने भी अन्य जिन माताओं की तरह सोलह शुभ स्वप्न देखे थे। आषाढ़ कृष्ण दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र में इन्होंने जिन बालक को जन्म दिया जिसका देवों ने जन्मकल्याणक उत्सव किया तथा उनका नाम 'नमिनाथ' रखा।[२१०] श्वेताम्बर परम्परा में उल्लेख है कि गर्भावस्था में जब शत्रुओं ने मिथिला नगरी को घेर लिया था, तब राजप्रसाद की छत से जाकर उन शत्रुओं की ओर इनकी माता द्वारा सौम्य दृष्टि से देखने पर शत्रु राजा का मन बदल गया और वह महाराज विजय के चरणों में जाकर झुक गया। उसके इस अप्रत्याशित नमन के कारण ही बालक का नाम 'नमिनाथ' रखा गया।[२११] इनकी आयु दस हजार वर्ष व शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था। कुमारकाल के ढाई हजार वर्ष व्यतीत होने पर उन्हें राज्य पद प्राप्त हुआ और राज्य करते हुए जब पाँच हजार वर्ष बीत गये तब एक दिन वन में विहार के लिये गये नमिनाथ को, आकाश मार्ग से दर्शनार्थ आये दो देवकुमारों से, अपने तीर्थंकर होने के बारे में पता चला और उसी समय उन्हें संसार से विरक्ति हो गयी। तदनन्तर नमि सुपुत्र नामक पुत्र को राज्य सौंप कर चैत्रवन नामक उद्यान में एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने दीक्षा धारण की। छद्मस्थ अवस्था में नव वर्ष व्यतीत हो जाने पर मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन बकुल वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

तदनन्तर धर्म का उपदेश देते और विहार करते हुए जब उनकी वायु का एक माह शेष रह गया तब उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमा योग धारण कर मोक्ष प्राप्त किया।[२१२]

नमिनाथ की केवल कुछ ही मूर्तियाँ कुम्भारियाँ, लूणवसही, पटना

संग्रहालय एवं बारभुजी गुफा में देखी जा सकती हैं। नमि का लांछन नीलोत्पल और यक्ष-यक्षी भृकुटि एवं गान्धारी (या चामुण्डा) हैं।[२१३] एलोरा में इनकी भी कोई मूर्ति नहीं उत्कीर्ण है।

२२. **नेमिनाथ (या अरिष्टनेमि) :**

२२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म हरिवंश के काश्यपगोत्री शिखामणि राजा समुद्रविजय के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम शिव देवी था जिन्होंने सोलह शुभ स्वप्न व मुख में प्रवेश करता उत्तम हाथी देखने व गर्भ में तीर्थंकर के अवतीर्ण होने का समाचार राजा द्वारा जानने के बाद श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में तीन ज्ञान के धारक जिन बालक को जन्म दिया। ज्ञातव्य है कि ऋषभनाथ के बाद नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर ही सर्वाधिक लोकप्रिय तीर्थंकर रहे हैं। नेमिनाथ का बलराम और कृष्ण के चचेरे भाई होने के कारण विशेष महत्त्व रहा है। बलराम और कृष्ण को ६३ शलाकापुरुषों की सूची में क्रमशः ९वें बलभद्र और ९वें नारायण के रूप में निरूपित किया गया है। जन्म के बाद सौधर्म आदि नेमिनाथ को ऐरावत गज पर सुमेरु पर्वत पर ले गये और सुवर्णमय एक हजार आठ कलशों में भरे हुए क्षीरसागर के जल से इनका अभिषेक कर 'नेमि' नाम से सम्बोधित किया।[२१४] श्वेताम्बर परम्परा में उल्लेख है कि "गर्भकाल में महाराज सभी प्रकार के अरिष्टों से बचे रहे तथा माता ने अरिष्ट रत्ननाम चक्र-नेमि का दर्शन किया, इसलिये इस बालक का नाम 'अरिष्टनेमि' रखा गया।"[२१५]

इनकी आयु एक हजार वर्ष की तथा शरीर दस धनुष ऊँचा था। अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए वे द्वारावती नगरी में चिरकाल तक रहे। एक दिन शरद ऋतु में जब नेमिनाथ मनोहर नामक सरोवर में अन्तःपुर के अन्य लोगों के साथ सम्मिलित श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा के साथ जल-क्रीड़ा कर रहे थे तब उन दोनों के बीच चतुराई पूर्ण मनोहर वार्तालाप हुआ। स्नान के बाद जब नेमिनाथ ने सत्यभामा से अपने स्नान के वस्त्रों को धो डालने के लिये कहा तो सत्यभामा उनके आगे कृष्ण के साहस का परिचय देते हुए कहने लगीं कि "क्या आप वह श्रीकृष्ण हैं जिन्होंने नागशय्या पर चढ़कर शार्ङ्ग नामक दिव्य धनुष चढ़ा दिया था तथा शंख नाद किया था? सत्यभामा की इन बातों को सुनकर नेमिनाथ आयुधशाला में गये और वहाँ नागशय्या पर चढ़कर धनुष को प्रत्यंचा चढ़ा कर शंख बजा दिया। कृष्ण को

जब इसके बारे में सूचना मिली तो उन्होंने नेमिनाथ का विवाह कर देना उचित समझा क्योंकि बहुत समय बाद नेमिनाथ का चित्त राग से युक्त हुआ था।[२१६]

कृष्ण ने नेमिनाथ के विवाह के लिये राजा उग्रसेन से उनकी पुत्री राजीमती की याचना की और विवाहोत्सव आरम्भ किया। किन्तु दूसरे दिन कृष्ण के हृदय में यह लोभ उत्पन्न होने पर कि कहीं नेमिनाथ सारा राज्य न ले लें, उन्होंने नेमिनाथ के मन में विरक्ति उत्पन्न करने के उद्देश्य से आखेटकों द्वारा बहुत से मृगों को पकड़वा कर उन्हें एक स्थान पर बन्द करवा दिया और रक्षकों को यह आदेश दिया कि नेमिनाथ द्वारा मृगों के बारे में पूछे जाने पर उन्हें यह बताया जाय कि इन मृगों को उनके विवाहोत्सव के अवसर पर दिये जाने वाले भोज के लिये आहार स्वरूप लाया गया है।[२१७] दिशाओं का अवलोकन करने के लिये निकले नेमिनाथ ने जब करुण स्वर में आर्तनाद करते दौड़ते, प्यासे मृगों को देखा और यह भी जान लिया कि कृष्ण ने राज्य ग्रहण की आशंका से उनके साथ ऐसा कपट किया है तो उसी समय उन्हें इस संसार से विरक्ति हो गयी। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उन्हें पूर्वभव का स्मरण करवाया तथा इन्द्रों ने दीक्षा कल्याणक किया।

तत्पश्चात् नेमिनाथ ने सहस्राम्रवन में जाकर एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया और पारणा के लिये द्वारावती नगरी गये जहाँ वरदत्त से प्रासुक आहार प्राप्त किया। तपस्या करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब उनके छप्पन दिन व्यतीत हो गये तब एक दिन रैवतक (गिरनार) पर्वत पर एक बाँस के वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। अनेक देशों में विहार करने के बाद वे द्वारावती नगरी गये और वहाँ पर कृष्ण व बलदेव को धर्म के स्वरूप का उपदेश दिया। इस प्रकार ६९९ वर्ष ९ माह तक और चार दिनों तक विहार करने के बाद ५३३ मुनियों के साथ एक माह तक योग निरोधक कर नेमिनाथ ने मोक्ष प्राप्त किया।[२१८]

नेमिनाथ की मूर्तियाँ पहली शती ई० से ही बनने लगीं जिसके उदाहरण मथुरा से प्राप्त हुए हैं। नेमि का लांछन शंख है जो कृष्ण से उनके सम्बन्ध का सूचक है। नेमि के यक्ष-यक्षी गोमेध एवं अम्बिका हैं। कला में यक्ष के रूप में कुबेर का अंकन हुआ है। दिगम्बर स्थलों पर कुषाणकाल से ही नेमिनाथ के पार्श्वों में हलधर बलराम और शंख,

चक्रधारी कृष्ण का अंकन हुआ है जिसके परवर्ती उदाहरण मथुरा के अतिरिक्त देवगढ़ से भी मिले हैं (चित्र ८) । नेमिनाथ की मूर्तियाँ जहाँ पर लोकप्रियता के क्रम में ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के बाद रही हैं वहीं दक्षिण भारत में नेमिनाथ की मूर्तियों के उदाहरण लगभग नगण्य हैं । लूणवसही, कुम्भारिया तथा कई अन्य स्थलों पर नेमिनाथ के स्वतन्त्र मन्दिर भी बने हैं । सर्वाधिक मूर्तियाँ देवगढ़, खजुराहो, मथुरा से प्राप्त हुई हैं जिनमें शंख लांछन और यक्ष-यक्षी के रूप में कुबेर-अंबिका का अंकन हुआ । कुम्भारिया के शान्तिनाथ व महावीर मन्दिरों तथा विमलवसही व लूणवसही और कल्पसूत्र के चित्रों में नेमिनाथ के जीवन दृश्यों का विस्तारपूर्वक अंकन हुआ है (चित्र ३९-४०) । इन दृश्यों में पंचकल्याणकों के अतिरिक्त कृष्ण की आयुधशाला में नेमि के शक्ति प्रदर्शन और पिंजरे में बन्द पशुओं को देखकर नेमिनाथ के मन में उत्पन्न हुए विरक्ति के प्रसंगों को भी दर्शाया गया है ।[२१९]

एलोरा में नेमिनाथ की केवल एक मूर्ति मिली है जो गुफा सं० ३० में उत्कीर्ण है । नेमिनाथ की अम्बिका यक्षी की १२ स्वतन्त्र मूर्तियों के परिप्रेक्ष्य में नेमिनाथ की केवल एक मूर्ति का मिलना आश्चर्यजनक है । सिंहासन, त्रिछत्र, प्रभामण्डल, चामरधर जैसे प्रातिहार्यों से सेवित नेमिनाथ के साथ यक्षी रूप में अम्बिका (बालक सहित) की आकृति भी बनी है ।

२३. **पार्श्वनाथ :**

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति और जैनधर्म का संस्थापक माना गया है जिनके चातुर्याम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह) में महावीर ने केवल ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंचमहाव्रत का उपदेश दिया । यह भी सन्दर्भ मिलता है कि महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित जैनधर्म के अनुयायी थे । उत्तराध्ययनसूत्र (अध्याय २३) में पार्श्वनाथ और महावीर के दो शिष्यों केसी और गौतम के मध्य जैन संघ के सम्बन्ध में हुए वार्तालाप का उल्लेख[२२०] तथा महावीर की यह उक्ति कि 'जो कुछ पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है मैं वही कह रहा हूँ'[२२१] पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करते हैं । जैनपुराणानुसार उनका निर्वाण महावीर के निर्वाण से ३५० वर्ष पूर्व, तदनुसार ५२७ + २५० = ७७७ वर्ष ई० पू० में हुआ था ।[२२२]

पार्श्वनाथ का जन्म काशी के वाराणसी नगर के काश्यपगोत्री राजा

विश्सेन के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम ब्राह्मी था। अन्य जिन माताओं की तरह ब्राह्मी ने भी सोलह शुभ स्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखा था। तदनन्तर पति से उन स्वप्नों का फल जानकर व देवों द्वारा किये गये गर्भकल्याणक उत्सव से वे अति प्रसन्न हुईं। पौष कृष्ण एकादशी के दिन अनिल योग में इन्होंने जिन बालक को जन्म दिया। सौधर्म आदि इन्द्रों ने इन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर इनका जन्म-कल्याणक किया और 'पार्श्वनाथ' नाम रखा।[२२३] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार गर्भावस्था में इनकी माता ने एक रात पार्श्व में सर्प देखा था, इसी कारण इनका नाम 'पार्श्वनाथ' रखा गया।[२२४]

पार्श्वनाथ की आयु सौ वर्ष तथा शरीर नौ हाथ ऊँचा था। शरीर की कान्ति धान के छोटे पौधे के समान हरे रंग की थी तथा वे समस्त लक्षणों से सुशोभित थे।[२२५] कुमारकाल के तीस वर्ष व्यतीत होने पर एक दिन अयोध्या के राजा ने विभिन्न भेंट आदि के साथ अपने दूत को पार्श्वनाथ के पास भेजा। पार्श्वनाथ द्वारा अयोध्या के बारे में पूछे जाने पर सर्वप्रथम उसने वृषभदेव व तत्पश्चात् अयोध्या के बारे में बताया। वृषभदेव के बारे में सुनते ही उन्हें अतीत भवों का ज्ञान हो गया और संसार से विरक्ति हो गयी। तभी लौकान्तिक देव आये और इन्द्रादि देवों ने दीक्षा कल्याणक किया।[२२६] पार्श्वनाथ अश्ववन में तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षित हुए। पंचमुष्टियों से लुंचित केशों को इन्द्र ने आदर पूर्वक उठाकर क्षीरसागर में प्रवाहित किया।

छद्मस्थ अवस्था में चार माह व्यतीत होने के बाद जब वह वन में देवदास वृक्ष के नीचे विराजमान थे उसी समय पूर्वभव का शत्रु कमठ का जीव जो शम्बर नामक असुर था, आकाशमार्ग से उधर से कहीं जा रहा था। अकस्मात् अपने विमान के रुक जाने से उसे अपने पूर्वभव के वैर का स्मरण हो आया और फलस्वरूप पार्श्वनाथ का ध्यान भंग करने के लिये उसने कई प्रकार के उपसर्ग, महावृष्टि व छोटे-मोटे पर्वत खण्डों को उपस्थित किया किन्तु पार्श्वनाथ ध्यानमग्न और पूरी तरह अविचलित रहे। उपसर्गकाल में ही अतिवृष्टि से पार्श्वनाथ की रक्षा के लिए नागकुमार देवों के इन्द्र धरणेन्द्र अपनी पत्नी के साथ पृथ्वीतल से बाहर निकल आये और पार्श्वनाथ को अपने फणों के ऊपर उठा लिया तथा उसकी पत्नी (पद्मावती) ने वज्रमय छत्र के शीर्षभाग (पार्श्वनाथ के ध्यान के प्रभाव) से छायाकर पार्श्व की वर्षा से रक्षा की अन्ततः

पार्श्वनाथ के ध्यान के प्रभाव से सारा उपसर्ग दूर हो गया।[२२७] ज्ञातव्य है कि यही धरणेन्द्र और पद्मावती पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी हुए जिन्हें श्वेताम्बर और दिगम्बर स्थलों की मूर्तियों में पार्श्वनाथ के दोनों पार्श्वों में गुप्तकाल के बाद से ही निरूपित किया गया।

पार्श्वनाथ की तपस्या की अवधि में पूर्वजन्म के बैरी कमठ के शम्बर (या मेघमाली-श्वेताम्बर) नामक असुर के रूप में उपस्थित किये गये तरह-तरह के उपसर्गों का श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के ग्रन्थों में अत्यधिक विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। उत्तरपुराण के अतिरिक्त आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय काव्य (ल० ७८३ ई०) में भी कमठ के उपसर्गों का उल्लेख हुआ है। पार्श्वाभ्युदय में उपसर्गों के अन्तर्गत केवल सुन्दर अप्सराओं एवं पार्श्व के ऊपर विशाल शिला खण्डों के फेंके जाने का ही उल्लेख हुआ है।[२२८] उत्तरपुराण में इन उपसर्गों का किंचित् विस्तार हुआ और लगातार ७ दिनों तक शम्बर द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्गों का उल्लेख हुआ किन्तु शिलाखण्डों और अतिवृष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी उपसर्ग का सन्दर्भ नहीं दिया गया है। सर्वप्रथम पद्मकीर्ति के पासनाहचरिउ (१०७७ ई०) में विभिन्न उपसर्गों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।[२२९] इसके अन्तर्गत शम्बर के अलग-अलग स्वरूप धारण करने और पार्श्वनाथ का ध्यान भंग करने के लिये बज्र, बाण, शूल, मुद्गर और परशु जैसे घातक अस्त्रों द्वारा पीड़ित करने एवं शार्दूल, सिंह, सर्प, श्वान, कपि, रीछ, महिष, वराह, गज और वृषभ जैसे पशुओं का रूप धारण कर पार्श्वनाथ का ध्यान भंग करने की असफल चेष्टा का उल्लेख हुआ है। साथ ही वैताल, पिशाच, डाकिनी और विभिन्न ग्रहों द्वारा पार्श्व को भयाक्रान्त एवं विभिन्न अप्सराओं द्वारा आकर्षित करने की चेष्टा का भी सन्दर्भ है। अन्त में निराश होकर शम्बर ने महावृष्टि द्वारा पार्श्व का ध्यान भंग कर उन्हें जल में डुबो देना चाहा जिससे नागराज धरणेन्द्र ने उनकी रक्षा की। शम्बर ने नागराज धरणेन्द्र पर भी वज्र और शिलाखण्डों से आक्रमण किया। किन्तु किसी भी प्रकार पार्श्व का ध्यान भंग करने में सफल नहीं हुआ। अन्त में उसने पार्श्व से क्षमायाचना की।

श्वेताम्बर परम्परा में भी पार्श्वनाथ की साधना के मध्य उपस्थित विभिन्न उपसर्गों का वर्णन मिलता है। इसमें भी उल्लेख है कि पूर्व जन्म के वैरी कमठ के जीव, जो मेघमाली नामक असुर हुआ, ने सिंह, चीता,

मत्तहाथी, वृश्चिक, सर्प व वीभत्स वैताल का रूप धारण कर पार्श्वनाथ को अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं और उनके अविचलित रहने पर भयंकर वृष्टि की। जब वर्षा का जल चारों ओर से पार्श्व के नासाग्र तक पहुँच गया और तब भी उनका ध्यान भंग नहीं हुआ तो धरणेन्द्र ने वहाँ पहुँच कर दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एवं उनके शरीर को सप्तसर्पफणों के छत्र से ढक लिया। अन्त में मेघमाली ने अपनी पराजय स्वीकार कर पार्श्वनाथ से क्षमा माँगी।[२३०]

चैत्रकृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल विशाखा नक्षत्र में पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और उसी समय देवों ने चतुर्थकल्याणक की पूजा की। बारह सभाओं के साथ धर्मोपदेश करते हुए पाँच माह कम सत्तर वर्ष तक पार्श्वनाथ ने विहार किया और जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया तब सम्मेदाचल पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रों ने आकर इनकी निर्वाणकल्याणक पूजा की।[२३१] अन्य तीर्थंकरों की भाँति पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की साधना के फलस्वरूप तीर्थंकर पद प्राप्त किया। दिगम्बर परम्परा में इनके आठ व श्वेताम्बर परम्परा में दस पूर्व भवों का उल्लेख मिलता है।[२३२]

पार्श्वनाथ उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से लोकप्रिय रहे हैं जिनकी मूर्तियाँ ल० पहली शती ई० पू० से ही मथुरा के आयागपट पर एवं प्रिंस ऑव वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई में देखी जा सकती हैं। तीर्थंकरों में सर्वप्रथम पार्श्वनाथ के साथ ही लक्षण का निर्धारण हुआ और प्रारम्भिक मूर्तियों में पाँच (बादामी, अयहोल, प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बम्बई) या सात सर्पफणों के छत्र से इन्हें आच्छादित दिखाया गया (चित्र १०-१२) जिसकी पृष्ठभूमि शम्बर या मेघमाली के उपसर्गों के प्रसंग में धरणेन्द्र द्वारा सर्पफणों के छत्र की छाया के सन्दर्भ में देखी जा सकती है। पार्श्वनाथ के साथ तीन, सात और ११ सर्पफणों के प्रदर्शन का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है किन्तु मूर्तियों में अधिकांशतः सात सर्पफणों का छत्र ही दिखाया गया है। पार्श्वनाथ का लांछन सर्प और यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र और पद्मावती हैं।

कुषाणकाल में मथुरा में पार्श्व की सर्वाधिक स्वतंत्र मूर्तियाँ बनीं जिनमें पार्श्व को ध्यानमुद्रा में आसीन या कायोत्सर्ग में निरूपित किया गया है। ल० पाँचवीं शती ई० से पार्श्व की मूर्तियों में सर्प-फणों के छत्र

से युक्त धरणेन्द्र और छत्रधारिणी पद्मावती की स्थानक आकृतियों का रूपायन आरम्भ हुआ जो कालान्तर में सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। उत्तर भारत में पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ मथुरा, देवगढ़ एवं खजुराहो जैसे स्थलों पर बनीं। खजुराहो, कुम्भारिया एवं कई अन्य स्थलों पर पार्श्वनाथ के स्वतन्त्र मन्दिर भी बने। धरणेन्द्र-पद्मावती की पार्श्ववर्ती आकृतियों के साथ ही सिंहासन छोरों पर भी देवगढ़, खजुराहो, कुम्भारिया और देलवाड़ा की मूर्तियों में यक्ष-यक्षी का अंकन हुआ है। खजुराहो एवं देवगढ़ के दिगम्बर परम्परा की मूर्तियों में यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र एवं पद्मावती हैं जबकि कुम्भारिया और देलवाड़ा की श्वेताम्बर मूर्तियों में यक्ष-यक्षी के रूप में नेमिनाथ के कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष और अम्बिका यक्षी को आमूर्तित किया गया है। कुछ उदाहरणों में सर्वानुभूति और अम्बिका के शीर्षभाग में सर्पफणों का छत्र भी देखा जा सकता है। ओसियाँ और विमलवसही की देवकुलिका ४ की दो श्वेताम्बर मूर्तियों में सिंहासन छोरों पर पारम्परिक यक्ष-यक्षी पार्श्व एवं पद्मावती निरूपित हैं।[२३३]

कुम्भारिया, देलवाड़ा और ओसियाँ में पार्श्वनाथ के जीवनदृश्यों का विस्तारपूर्वक अंकन भी किया गया है जिनमें पंचकल्याणकों के साथ ही कमठ के विभिन्न उपसर्गों को भी पूर्व विस्तार के साथ दर्शाया गया है (चित्र ४१)।[२३४]

एलोरा में भी तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं जिसके ३१ से अधिक उदाहरण मिले हैं। मूर्ति संख्या की दृष्टि से अधिक होते हुए भी यह सर्वथा आश्चर्य की बात है कि किसी गुफा के गर्भगृह में पार्श्वनाथ की मूर्ति नहीं मिली है। एलोरा की जैन गुफाओं में गर्भगृह में सर्वदा महावीर की मूर्तियाँ ही उत्कीर्ण हैं। एलोरा में पार्श्वनाथ की लोकप्रियता न केवल उत्तरपुराण वरन् जिनसेन कृत पार्श्वाभ्युदय में पार्श्वनाथ के जीवन चरित एवं उपसर्गों आदि के विस्तृत उल्लेख के परिप्रेक्ष्य में विशेष महत्त्वपूर्ण है।[२३५]

पार्श्वनाथ की ३१ मूर्तियों में से ९ उदाहरणों में पार्श्व ध्यानमुद्रा में आसीन और शेष में कायोत्सर्ग में निर्वस्त्र निरूपित हैं। पार्श्व की मूर्तियाँ या तो मण्डप में या वीथिकाओं में उकेरी हैं। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से इन मूर्तियों में कोई लक्षणपरक भेद नहीं दिखाई देता है। पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ अधिकांश उदाहरणों में कठिन साधना और तपस्या के

प्रतीक बाहुबली-गोम्मटेश्वर की मूर्तियों के सामने उकेरी गयी हैं क्योंकि पार्श्व एवं बाहुबली, दोनों ही कठिन तपस और साधना के प्रतीक हैं।

पार्श्वनाथ की ध्यानस्थ मूर्तियों में त्रिछत्र, चामरधारी सेवक, सिंहासन, उड्डीयमान मालाधर एवं दुन्दुभिवादक जैसे प्रातिहार्यों की आकृतियाँ देखी जा सकती हैं, जबकि कायोत्सर्ग मूर्तियों में किसी भी प्रातिहार्य का अंकन नहीं हुआ है और उनमें शम्बर के उपसर्गों को पूरे विस्तार और विविधता के साथ दर्शाया गया है। यह तथ्य सम्भवतः इस बात का सूचक है कि कायोत्सर्ग मूर्तियाँ पार्श्व के कैवल्य प्राप्ति के पूर्व और तपस्या के समय को व्यक्त करती हैं।[२३६] ध्यानस्थ मूर्ति के केवल एक उदाहरण में यक्ष-यक्षी कुबेर और अम्बिका की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

पार्श्व की सभी ध्यानस्थ एवं कायोत्सर्ग मूर्तियों में सिर पर सात सर्पफणों का छत्र दिखाया गया है। गुफा संख्या ३२ में पार्श्व की सर्वाधिक मूर्तियाँ (१२) उत्कीर्ण हैं, जबकि गुफा सं० ३०, ३१, ३३ और ३४ में क्रमशः ५, २, १० और २ मूर्तियाँ उकेरी हैं (चित्र १३, १६)। परिकर में शम्बर के उपसर्गों के विस्तृत अंकन की दृष्टि से एलोरा की पार्श्वनाथ मूर्तियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ग्यारसपुर के मालादेवी मन्दिर (विदिशा, म० प्र०), भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता, हुम्मच (शिमोगा, कर्नाटक) एवं कुछ अन्य उदाहरणों के अतिरिक्त उपसर्गों का उकेरन पार्श्वनाथ की स्वतंत्र मूर्तियों में सामान्यतः नहीं हुआ है। कुम्भारिया की ११वीं शती ई० के महावीर और शांतिनाथ मन्दिरों (श्वेताम्बर) के वितानों पर पार्श्वनाथ के जीवन दृश्यों के अंकन के प्रसंग में विभिन्न उपसर्गों का भी चित्रण हुआ है।

एलोरा में उपसर्गों के सन्दर्भ में शम्बर की तीन से आठ आकृतियाँ विभिन्न आक्रामक मुद्राओं एवं शस्त्रों के साथ दिखाई गयी हैं। जैन महापुराण एवं पूर्ववर्ती मूर्त उदाहरणों में सर्पफणों के छत्र से युक्त धरणेन्द्र और पार्श्वनाथ के सिर के ऊपर छाया करते लम्बे छत्र को धारण करने वाली पद्मावती की आकृतियाँ एलोरा की मूर्तियों में दोनों पार्श्वों में आकारित हैं। एलोरा की कायोत्सर्ग मूर्तियों में, एक उदाहरण (गुफा सं० ३१) के अतिरिक्त, मानवदेहधारी धरणेन्द्र को नहीं दिखाया गया है। इन उदाहरणों में धरणेन्द्र को केवल पार्श्वनाथ के सिर पर दिखाये गये सर्पफणों के छत्र और सम्पूर्ण शरीर को परिवेष्ठित

करते सर्पफणों एवं कुण्डलियों के प्रतीक रूप में ही दिखाया गया है। शम्बर को विभिन्न उपसर्गों के प्रसंग में महिष, सिंह और हवा में तैरते हुए असुर तथा शूल, शूलिका, त्रिशूल, दण्ड, वज्र, सर्प और पर्वतखण्डों से पार्श्वनाथ के ऊपर भीषण आक्रमण करते हुए आकारित किया गया है (चित्र १३, १४, १५, १६)। शम्बर की उग्रता और पार्श्वनाथ का शांतभाव से अविचलित रूप में तपस्यारत बने रहना इन दो अलग-अलग स्थितियों को एलोरा के शिल्पियों ने बड़ी कुशलता के साथ मूर्तियों में अभिव्यक्त किया है। यक्षी पद्मावती की क्षीणकाय शरीर रचना में नारी सुलभ मृदुता एवं लोच तथा सुरुचिपूर्ण अलंकरण, विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। कुछ उदाहरणों में पद्मावती के एक या दोनों पार्श्वों में नागी की आकृतियाँ भी बनी हैं। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से एलोरा की पार्श्वनाथ मूर्तियाँ और उनमें दिखाये गये उपसर्ग स्पष्टतः बादामी और अयहोल की पार्श्वनाथ मूर्तियों का परवर्ती विकसित रूप दिखलाती हैं (चित्र ११, १२)। गुफा सं० ३२ के उदाहरणों में ही शम्बर के उपसर्गों का सर्वाधिक विस्तारपूर्वक उकेरन हुआ है (चित्र १४, १५, १६)।

२४. **महावीर :**

वर्तमान अवसर्पिणी युग के २४वें अन्तिम तीर्थंकर महावीर हैं। महावीर महान धर्म, व्याख्याता, लोकनायक, सुधारक एवं विश्व हित-चिन्तक भी थे। जैन शास्त्रों के अनुसार अन्य तीर्थंकरों के समान महावीर के जीव ने भी विभिन्न भवों में सत्कर्मों का संचय कर तीर्थंकर पद प्राप्त किया था। श्वेताम्बर परम्परा में उनके २७ दिगम्बर परंपरा में ३३ पूर्वभवों का वर्णन है।

महावीर का जन्म (ल० ५९९ ई० पू०) विदेह के कुण्डपुर नामक नगर के राजा सिद्धार्थ के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम प्रियकारिणी था।[२३७] कुण्डपुर कहाँ था, इस बात को लेकर पश्चात् कालीन जैन परम्परा में यद्यपि कुछ भ्रांति है किन्तु अन्त में दोनों ही परम्पराओं के अनुसार कुण्डपुर को विदेह में स्थित माना गया है। प्राचीन वैशाली[२३८] (बिहार) के समीपस्थ वासुकुण्ड नामक ग्राम से प्राप्त मुद्रा व कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने इसे ही प्राचीन कुण्डपुर और महावीर की जन्मभूमि माना है।[२३९]

सिद्धार्थ के भवन के आँगन में अन्य तीर्थंकरों की भाँति देवों ने छह

माह पूर्व से प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की वर्षा की तथा इनकी माता ने १६ शुभ स्वप्न व मुख में प्रवेश करता हाथी देखा। महारानी उन स्वप्नों का फल महाराज से जानकर प्रसन्न हुईं। उसी समय देवों द्वारा गर्भकल्याणक उत्सव किया गया।[२४०]

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का जीव पहले कुण्डपुर ग्राम के ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। अवधिज्ञानी इन्द्र को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने हरिणैगमेषी देव को बुलाकर महावीर के भ्रूण को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित करने का आदेश दिया क्योंकि चक्रवर्ती बलदेव आदि का जन्म सदैव क्षत्रियकुल में ही होता आया है।[२४१] फलस्वरूप हरिणैगमेषी ने इन्द्र के आदेश को क्रियान्वित किया।

चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन अर्यमा नामक शुभ योग में माता ने जिन बालक को जन्म दिया। सौधर्मेन्द्र ने मायामय बालक को माता के पास रखकर जिन बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर सिंहासन पर विराजमान किया और क्षीरसागर के जल से भरे कलशों द्वारा उसका अभिषेक किया तथा बालक का 'वीर' और 'वर्धमान' नाम रखा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार बालक के जन्म के बाद से धन, धान्य, कोष, भण्डार, बल तथा वाहन आदि समस्त राजकीय साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि होने के कारण ही बालक का नाम 'वर्धमान' रखा गया।[२४२] दिगम्बर परम्परा में इनके 'महावीर' नाम के सम्बन्ध में एक कथा वर्णित है। एक बार संगम नामक देव इनकी वीरता की परीक्षा लेने के उद्देश्य से सर्प का रूप धारण कर इनके पास आये। उस समय बालक वर्धमान अपने साथियों के साथ एक वृक्ष पर चढ़कर क्रीड़ा कर रहे थे। सर्प को देखकर उनके सभी साथी भाग गये किन्तु कुमार महावीर ने उस सर्प पर चढ़ कर निर्भय हो क्रीड़ा की। इस शौर्य पर संगम देव ने बालक की स्तुति की और उसका नाम 'महावीर' रखा।[२४३]

कुमारकाल के तीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर दूसरे ही दिन इन्हें आत्मज्ञान हो गया और पूर्वभव का स्मरण हो आया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने इनकी स्तुति की और देवों ने निष्क्रमण कल्याणक की क्रिया की। तदनन्तर महावीर षण्ड नामक वन में गये और रत्नमयी

शिला पर उत्तराभिमुख होकर बैठे और वस्त्र आभूषण तथा माला आदि का परित्याग किया। उन्होंने केशों का भी लुंचन किया जिसे इन्द्र ने उठाकर मणिमय पिटारे में रखकर क्षीरसागर में प्रवाहित किया।[२४४]

महावीर के जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाओं को लेकर दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्पराओं में थोड़ा मतभेद है जैसे दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे तीस वर्ष तक कुमार व अविवाहित रहे और फिर प्रव्रजित हुए। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में इनके विवाह तथा एक पुत्री की चर्चा है।[२४५] इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रव्रजित होते समय उन्होंने समस्त वस्त्रों का परित्याग कर दिगम्बर रूप धारण किया था किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उन्होंने प्रव्रजित होने के डेढ़ वर्ष बाद तक वस्त्र का पूरी तरह परित्याग नहीं किया था।[२४६]

जिस दिन इन्होंने संयम धारण किया था उसी दिन इन्हें चौथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। सभी देव इनकी स्तुति कर वापस अपने-अपने स्थान को चले गये। तदनन्तर महावीर एकान्त स्थान में विधि-पूर्वक तप करने की इच्छा से तपोवन में गये और वहाँ पर निशंक रीति से भोगों की निवृत्ति कर दस प्रकार के धर्मध्यान का चिन्तवन किया। एक दिन जब वे उज्जयिनी के अतिमुक्तक नामक श्मशान में प्रतिमायोग से विराजमान थे, महादेव नामक रुद्र ने इनकै धैर्य की परीक्षा लेने के उद्देश्य से विकराल वैतालों का रूप धारण कर इनके सामने अनेक प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये। उसने सर्प, हाथी, सिंह, अग्नि और वायु के साथ भीलों की सेना बनाकर अपनी विद्या के प्रभाव से भयंकर उपसर्गों द्वारा उन्हें समाधि से विचलित करने का प्रयत्न किया। किन्तु अन्ततः असफल होने पर उसने महावीर का 'महति' और 'महावीर' नाम रखकर उनकी अनेक प्रकार से स्तुति की तथा पार्वती के साथ नृत्य कर वहाँ से चला गया।[२४७] दिगम्बर परम्परा का उक्त प्रसंग स्पष्टतः शिव से सन्दर्भित है और शैव एवं जैनधर्मों के पारस्परिक संबंधों का सूचक है।

श्वेताम्बर परम्परा में भी इनके साधना के मध्य उत्पन्न किये गये विभिन्न उपसर्गों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—एक दिन महावीर जब कुमरिग्राम के बाहर ध्यानस्थ खड़े थे, एक ग्वाला वहाँ आया और अपने बैलों को वहाँ छोड़ गाय दुहने के लिये पास के

गाँव में चला गया। बैल चरते-चरते कहीं दूर निकल गये। वापस लौट कर आने पर जब उस ग्वाले ने उन बैलों को वहाँ नहीं देखा तो उसने महावीर से उनके बारे में पूछा। किन्तु उनसे कोई उत्तर न पाकर वह स्वयं बैलों को ढूँढने निकल पड़ा। प्रातः उसने जब बैलों को पुनः महावीर के पास बैठा देखा तो क्रोधित हो उन्हें बैल बाँधने की रस्सी से मारने चला। उसी समय इन्द्र वहाँ आ गये। दैवी प्रभाव से ग्वाले के हाथ ऊपर उठे रह गये। इस घटना के बाद इन्द्र ने इनके उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को इनके पास नियुक्त कर दिया।[२४८] इसी प्रकार शूलपाणि यक्ष के विभिन्न उपसर्गों का भी उल्लेख हुआ है। एक बार महावीर विहार कर किसी एकान्त स्थान की खोज में नगर के बाहर स्थित शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में ठहर गये। यद्यपि ग्रामवासियों ने यक्ष की क्रूरता आदि के बारे में महावीर को बता दिया था, तब भी महावीर ने स्वयं परिषह सहने और यक्ष को प्रतिबोध देने के लिये वहीं ठहरना उचित समझा। रात्रि के अंधकार में जब यक्ष वहाँ आया तो उसने अपना पराक्रम दिखलाने व ध्यानस्थ महावीर को विचलित करने के लिये भयंकर हाथी का रूप धारण कर महावीर को दाँतों से बुरी तरह गोदा व पैरों से रौंदा। फिर पिशाच का रूप बनाकर तीक्ष्ण नखों व दाँतों से इनके शरीर को नोचा, सर्प बन कर दंश किया तथा उनके आँख, नाक, कान, सिर, दाँत, नख व पीठ इन सात स्थानों पर भयंकर वेदना दी। इन सब उपसर्गों को शान्त भाव से सहता देखकर यक्ष ने अन्ततः महावीर के चरणों में गिरकर क्षमा याचना की।[२४९] इसी प्रकार कुछ और उपसर्गों का वर्णन भी श्वेताम्बर परम्परा में हुआ है।

कठोर तप करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब उनके बारह वर्ष व्यतीत हो गये तब वैशाख शुक्ला दशमी के दिन हस्त व उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में जृम्भिक ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे शाल वृक्ष के नीचे महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुयी। उसी समय सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र विभिन्न देवों के साथ वहाँ आया और उसने ज्ञानकल्याणक सम्बन्धी पूजा की। वर्धमान अब परमेष्ठी तथा अर्हन्त कहलाये।[२५०]

दोनों ही सम्प्रदायों के ग्रन्थों के अनुसार केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद तीस वर्ष तक इन्होंने विभिन्न प्रदेशों में विहार किया और

धर्मोपदेश देकर तीर्थ की स्थापना की। किन्तु दिगम्बर मान्यतानुसार उनका प्रथम उपदेश राजगृह के विपुलांचल पर्वत पर हुआ था जबकि श्वेताम्बर मान्यतानुसार पावा के निकट किसी स्थल पर।[२५१] अनेक देशों में विहार व धर्मदेशना के बाद महावीर ने पावापुर नगर के मनोहर वन के मध्य स्थित मणिमय शिला पर विराजमान हो कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम समय स्वातिनक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पद प्राप्त किया।[२५२] जैन मान्यतानुसार लगभग ५२७ ई० पू० में ७२ वर्ष की अवस्था में महावीर को निर्वाण पद प्राप्त हुआ।

सर्वप्रथम मथुरा में कुषाणकाल में महावीर की स्वतन्त्र मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ जिनमें किसी चिह्न या लांछन के स्थान पर पीठिका लेखों में दिये गये 'वर्धमान' और 'महावीर' नामों के आधार पर तीर्थंकर की पहचान की गयी। महावीर के सिंह लांछन का अंकन लगभग छठी शती ई० में प्रारम्भ हुआ जिसका प्राचीनतम ज्ञात उदाहरण वाराणसी से प्राप्त और भारत कला भवन, वाराणसी (क्रमांक १६१) में सुरक्षित है। महावीर के यक्ष-यक्षी मातंग एवं सिद्धायिका हैं। महावीर की मूर्तियों में लगभग नवीं शती ई० से यक्ष-यक्षी का अंकन प्रारम्भ हुआ जिनके सर्वाधिक उदाहरण उत्तर प्रदेश एवं मध्यप्रदेश स्थित मथुरा, देवगढ़, ग्यारसपुर एवं खजुराहो से मिले हैं (चित्र १८, १९,)। गुजरात और राजस्थान की महावीर मूर्तियों में यक्ष-यक्षी के रूप में नेमिनाथ के सर्वानुभूति और अम्बिका को आकारित किया गया है।

कुम्भारिया के महावीर और शान्तिनाथ मन्दिरों (११वीं शती ई०) और कल्पसूत्र के चित्रों में महावीर के पंचकल्याणकों तथा पूर्वभवों एवं तपस्या के समय शूलपाणि यक्ष, संगमदेव आदि के उपसर्गों, चन्दनबाला से महावीर के प्रथम भिक्षा ग्रहण के कथा प्रसंग दिखाये गये हैं (चित्र ४२-४३)।[२५३]

एलोरा में महावीर की लगभग १२ मूर्तियाँ हैं जिनमें से ६ गुफा सं० ३०, ४ गुफा सं० ३२ और २ मूर्तियाँ गुफा सं० ३३ में हैं। यह मूर्ति संख्या स्पष्टतः एलोरा में पार्श्वनाथ के बाद महावीर की सर्वाधिक लोकप्रियता को प्रकट करती हैं। एलोरा की महावीर मूर्तियों में लक्षण की दृष्टि से एकरूपता और बादामी तथा अयहोल की चालुक्यकालीन महावीर मूर्तियों का परवर्ती विकास देखा जा सकता है। बादामी तथा अयहोल

की मूर्तियों की भाँति एलोरा के सभी उदाहरणों में महावीर को ध्यान-मुद्रा में आसीन दिखाया गया है। ज्ञातव्य है कि उत्तर भारत के अधिकांश उदाहरणों में भी महावीर ध्यानमुद्रा में ही आमूर्तित हैं। एलोरा की महावीर मूर्तियाँ अधिकांशतः गर्भगृहों या मुख्य मण्डपों में उत्कीर्ण हैं जो एलोरा में महावीर की विशेष प्रतिष्ठा की सूचक हैं। लगभग सभी ध्यानस्थ मूर्तियों में सिंहासन के मध्य में सिंह लांछन (धर्मचक्र के स्थान पर), त्रिछत्र, देवदुन्दुभि, चामरधारी सेवक, उड्डीयमान मालाधर, चैत्यवृक्ष, भामण्डल जैसे प्रातिहार्य तथा उपासकों की आकृतियों को दिखाया गया है। महावीर के पीछे आधुनिक मसनद जैसा पीठासन पूरी तरह चालुक्य उदाहरणों के समान है। कुछ उदाहरणों में सिंहासन के सूचक सिंहों के समीप ही पश्चिम भारत की तीर्थंकर मूर्तियों के समान दो गज आकृतियाँ भी उकेरी हैं। गुफा सं० ३२ के एक उदाहरण में गजारूढ़ कुबेर यक्ष और सिंहवाहना अम्बिका यक्षी की आकृतियाँ रूपायित हैं। कुबेर के हाथों में फल और धन का थैला एवं अम्बिका के हाथों में आम्रलुम्बि एवं बालक प्रदर्शित है।

जैन पुराणों में यह स्वीकार किया गया है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के बाद उत्सर्पिणी काल आरम्भ होगा और पुनः २४ तीर्थंकरों का आविर्भाव होगा। इसी प्रकार वर्तमान अवसर्पिणी काल के पूर्व के उत्सर्पिणी काल में भी २४ तीर्थंकरों का जन्म हो चुका था। यू० पी० शाह ने पूर्व (अतीत) एवं पश्चात्कालीन (भविष्य के) उत्सर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों की अलग-अलग सूचियाँ दी हैं।[२५४] यह सूचियाँ श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के अनुसार हैं।

(क) पूर्वकालीन (अतीत) तीर्थंकरों की सूची :

क्रम सं०	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१.	केवलज्ञानी	निर्वाण
२.	निर्वाणी	सागर
३.	सागर	महासाधु
४.	महायशह्	विमलप्रभ
५.	विमल	श्रीधर
६.	सर्वानुभूति	सुदत
७.	श्रीधर	अमलप्रभ

८.	दत्त	उत्तर
९.	दामोदर	अंगिरा
१०.	सुतेजः	सन्मति
११.	स्वामि	सिन्धु
१२.	मुनिसुव्रत	कुसुमाञ्जलि
१३.	सुमति	शिवगण
१४.	शिवगति	उत्साह
१५.	स्ताग	ज्ञानेश्वर
१६.	निमिश्वर	परमेश्वर
१७.	अनिल	विमलेश्वर
१८.	यशोधर	यशोधर
१९.	कृतार्थ	कृष्ण
२०.	जिनेश्वर	ज्ञानमति
२१.	षुधमति	षुधमति
२२.	शिवाकरह	श्रीभद्र
२३.	स्यन्दन	अतिक्रान्त
२४.	सम्प्रति	शान्त

(ख) पश्चातकालीन (भविष्य के) उत्सर्पिणी युग के २४ तीर्थंकर

क्रम सं०	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१.	पद्मनाथ या महापद्म	महापद्म
२.	सूरदेव	सुरदेव
३.	सुपार्श्व	सुपार्श्व
४.	स्वयंप्रभ	स्वयंप्रभ
५.	सर्वानुभूति	सर्वात्मभूत
६.	देवश्रुत या देवगुप्त	देवपुत्र या श्रीदेव
७.	उदय या उदत	कुलपुत्र
८.	पेढाल या पेढ़ालपुत्र	उदंक
९.	पोत्तिल	प्रोष्ठिल
१०.	शतकीर्ति	जयकीर्ति
११.	मुनिसुव्रत सर्वविद्	मुनिसुव्रत
१२.	अमम	अरनाथ या अरह

१३.	निष्कषाय	निष्पाय या अपाय
१४.	निष्पुलाक	निष्कषाय
१५.	निर्मम	विपुल
१६.	चित्रगुप्त	निर्मल
१७.	समाधि	चित्रगुप्त
१८.	समवर	समाधिगुप्त
१९.	यशोधर या अनिवृत्ति	स्वयम्बर या स्वयंभू
२०.	विजय	अनिवर्ती
२१.	मल या विमल	जयनाथ या विजय
२२.	देव या देपोपपात	विमल
२३.	अनन्तवीर्य	देवपाल
२४.	भद्र	अनन्तवीर्य

दोनों ही परम्पराओं में राजा श्रेणिक को भावी प्रथम तीर्थंकर माना गया है। पूर्व, वर्तमान तथा भविष्य के पश्चात्कालीन ७२ तीर्थंकरों की उपासना जैन मन्दिरों में भी प्रचलित रही है जिसके मूर्त उदाहरण कुम्भारिया, देलवाड़ा, खजुराहो एवं देवगढ़ जैसे स्थलों पर देखे जा सकते हैं।

सन्दर्भ

१. समवायांगसूत्र १८; पउमचरिय १.१-२; ३८-४२।
२. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३०।
३. हस्तीमल, जैनधर्म का मौलिक इतिहास, खण्ड–१, जयपुर १९७१, भूमिका से उद्धृत, पृ० ४६-४७।
४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३०।
५. स्थानांग ४.३।
६. हस्तीमल, पू० नि०, भूमिका, पृ० ४४।
७. वहीं, पृ० ४८।
८. अट्ठसहस्सलक्खणधरो·····उत्तराध्ययन २२.५।
९. हस्तीमल, पू० नि०, अपनी बात से उद्धृत, पृ० १०।
१०. वहीं, पृ० ११।
११. तिलोयपण्णत्ति ४.९३४-३६, ९३७-३९।
१२. कल्पसूत्र २.१८४-२०३; समवायांगसूत्र १५७-१५८; भगवतीसूत्र २०.८-५८-५९, १६, ५; पउमचरिय १.१-७, ५.१४५-१४८।

१३. इस ग्रन्थ में १९वें जिन मल्लिनाथ को नारी रूप में निरूपित किया गया है। यह परम्परा केवल श्वेताम्बरों में ही मान्य है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में नारी को केवलज्ञान प्राप्ति की अधिकारिणी नहीं माना गया है, इसी कारण मल्लिनाथ को नारी तीर्थंकर नहीं बताया गया है। एम० विण्टरनित्ज, 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड-२, कलकत्ता १९३३, पृ० ४४७-४८।

१४. कल्पसूत्र १-१८३, २०४-२७।

१५. आदिपुराण प्रास्ताविक से उद्धृत, पृ० ३।

१६. आर० सी० शर्मा, 'आर्ट डेटा इन रायपसेणिय', सं० पु० प०, अं० ९, पृ० ३८।

१७. पउमचरिय ११.२-३; २८.३८-३९; ३३.८९।

१८. ऋषभ सदैव लटकती केशावलि से शोभित हैं (कल्पसूत्र १९५)। तीन उदाहरणों में मूर्ति लेखों में 'ऋषभ' नाम भी उत्कीर्ण है।

१९. राज्य संग्रहालय, कलकत्ता-जे १९; एक मूर्ति का उल्लेख यू० पी० शाह ने भी किया है, सं० पु० प०, अं० ९, पृ० ६।

२०. राज्य संग्रहालय, लखनऊ-जे० २०।

२१. राज्य संग्रहालय, लखनऊ-जे० ८

२२. पार्श्व सप्त सर्पफणों के छत्र से युक्त हैं (पउमचरिय १.६)।

२३. पीठिका लेखों में 'वर्धमान' नाम से युक्त ६ महावीर मूर्तियाँ राज्य संग्रहालय, लखनऊ में संकलित हैं।

२४. भगवतीसूत्र १६.५; २०.८, ५८-५९।

२५. वहीं, पृ० ८३।

२६. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ५०-५१; आर० पी० चन्दा, 'जैन रिमेन्स ऐट राजगिर', आ० स० ई० ऐ० रि०, १९२५-२६; पृ० १२५-२६।

२७. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३८

२८. तिलोयपण्णत्ति ४.६०४-६०५।

२९. प्रवचनसारोद्धार ३८१-८२।

३०. इसके पूर्व केवल आवश्यक निर्युक्ति में ही ऋषभ के शरीर पर वृषभ चिह्न का उल्लेख है—यू० पी० शाह, 'बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी', सं० पु० प०, अं० ९, पृ० ६।

३१. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ८४; मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २५४-५५; हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ५६७।

३२. श्वेताम्बर परम्परा में मल्लिनाथ को नारी तीर्थंकर बताया गया है।
३३. अभिधानचिन्तामणिकोश १.४९; तिलोयपण्णत्ति ४.५८८-८९।
३४. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ८७।
३५. वहीं, पृ० ८८।
३६. वहीं, पृ० ८९।
३७. द्रष्टव्य हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ५८२।
३८. वहीं, पृ ९०।
३९. पउमचरिय २.३६; ५.६०।
४०. हरिवंशपुराण ९.२१२; ५६.११५-११८।
४१. आदिपुराण २३.२५-७३।
४२. निर्वाणकलिका, पृ० २३-२४।
४३. प्रतिष्ठासारसंग्रह ५.७४-७६।
४४. प्रतिष्ठासारोद्धार १.७६-७९, पृ० ९।
४५. औपपातिकसूत्र, सूत्र १०।
४६. पउमचरिय २.५३।
४७. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ९५।
४८. तिलोयपण्णत्ति ४.५५०, खण्ड–१, पृ० २१०।
४९. अभिधानचिन्तामणि १.३५; आवश्यकनियुक्तिगाथा ३८१।
५०. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ९८।
५१. द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन तिवारी, खजुराहो का जैन पुरातत्व, पृ० ९२-९४।
५२. हरिवंशपुराण ८.५८-७४; आदिपुराण १२.५५, १०१-१९।
५३. विस्तार से दिक्कुमारियों के लिये द्रष्टव्य, यू० पी० शाह, 'माइनर जैन डिटीज', खण्ड–३१, अं० ३, पृ० २७७-८१, चित्र १।
५४. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन–१, पृ० ९९।
५५. वहीं, पृ० ९९।
५६. वहीं, पृ० ९९।
५७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, सूत्र ३३; आदिपुराण, पर्व ४७।
५८. जीवाजीवाभिगमसूत्र, सूत्र १३९, पृ० २३२-२३३।
५९. यू० पी० शाह, 'जैन स्टोरीज इन स्टोन ऐट आबू ऐण्ड कुम्भारिया', जैन युग जर्नल, बम्बई, सितम्बर १९५९, नवम्बर १९५९ तथा जनवरी १९६०, मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३८।
६०. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन–१ पृ० ८०।

६१. हीरालाल जैन, 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृ० १६ आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १३-१४।
६२. पउमचरिय १.१; २८.४९; ४.४।
६३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २.३०।
६४. शिवपुराण ४.४७, ४८।
६५. वही, पृ० ६।
६६. ऋषभ त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः।
६७. आदिपुराण २५.१००-२१७।
६८. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० १५।
६९. कर्कदवे वृषभोयुक्तआसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी, (ऋग्वेद १०.१०२, ६)।
७०. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० १७।
७१. वही।
७२. श्रीमद्भागवत १.३.१३ (हस्तीमल, पृ० ५४)।
७३. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५०.३९-४०, पृ० ५८-५९।
७४. कूर्मपुराण, अध्याय ४१.३७-३८।
७५. अग्निपुराण, अध्याय १०.१०-११।
७६. वायुमहापुराण पूर्वार्ध, अध्याय ३३.५०-५१।
७७. ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अध्याय १४.५९-६०।
७८. वाराहपुराण, अध्याय ७४।
७९. लिंगपुराण, अध्याय ४७.१९-२२।
८०. विष्णुपुराण, द्वितीयांश, अध्याय १.२७-२८।
८१. स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड के कौमारखण्ड, अध्याय ३७.५७।
८२. आदिपुराण १२.३-६।
८३. आदिपुराण १२.१०४-१२०; हरिवंशपुराण ८.५८-७४; महापुराण (पुष्पदन्त) ५८.५।
८४. कल्पसूत्र ३.३१-४६।
८५. आदिपुराण १२.१२०, (श्वे० व दि० दोनों ही परम्पराओं के अनुसार इनका लांछन भी वृषभ है)।
८६. आदिपुराण १२.१६१।
८७. आदिपुराण १२.१६३।
८८. आदिपुराण १३.२-३।
८९. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.२, २६४-६५।

९०. आदिपुराण १३.९-२०२, १४.५३-५५ ।
९१. आवश्यकचूर्णि (जिनदासकृत), पृ० १५१ ।
९२. आदिपुराण १४.१६०-१६१; हरिवंशपुराण ८.२०४-२११ ।
९३. हस्तीमल, पू० नि० पृ० १५ ।
९४. आवश्यकनिर्युक्तिगाथा १८६; निर्युक्ति दीपिकागाथा १८९ ।
९५. आदिपुराण १५.५०-७० ।
९६. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० १६ ।
९७. आवश्यकनिर्युक्तिगाथा, १९१, पृ० १९३ ।
९८. आदिपुराण १६.४-७; आदिपुराण १६.१३१-१४६, १७९-१८० ।
९९. हरिवंशपुराण ९.२५-३९ ।
१००. आदिपुराण १६.१८१-१८२ ।
१०१. आदिपुराण १६.१८९-१९० ।
१०२. आदिपुराण १६.१८३; हरिवंशपुराण ९.२५-३९ ।
१०३. आदिपुराण १७.१-९ ।
१०४. आदिपुराण १७.१०-२८ ।
१०५. आदिपुराण १७.४६-४७, ७२-७४ ।
१०६. आदिपुराण १७.७६-७७, ९४, १८२-१९०, १९४-२०१ । केशलोंच करते समय इन्द्र के कहने पर वृषभदेव ने कुछ केश छोड़ दिये थे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है ।
१०७. कल्पसूत्र १९५; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ३.६०-७० ।
१०८. मारुतिनन्दन तिवारी, एलिमेन्ट्स ऑव जैन आइकनोग्राफी, पृ० २४, ३२ ।
१०९. आदिपुराण १८.१-२ ।
११०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.६, ४५९-४९३ ।
१११. आदिपुराण १८.७३-७५ ।
११२. आदिपुराण २०.२१८-२६८ ।
११३. आदिपुराण २०.२६९-७० ।
११४. आदिपुराण २३.७५ ।
११५. आदिपुराण २४.१५-२९ ।
११६. आदिपुराण २४.१५५-६१ ।
११७. आदिपुराण २५.२८७; ४७.३२२-३२३ ।
११८. आदिपुराण ४७.३३८-३४२ ।
११९. आदिपुराण ४७.३४३-३५० ।

१२०. आदिपुराण ४७.३५७-३५९ ।
१२१. विस्तार के लिये द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ८६-९५ ।
१२२. वहीं, पृ० ९२-९५ ।
१२३. उत्तरपुराण ४८.१८.२० ।
१२४. पुष्पदन्त के महापुराण व श्वेताम्बर परम्परा में इनकी माता का नाम विजयादेवी है ।
१२५. उत्तरपुराण ४८.१८-२० ।
१२६. उत्तरपुराण ४८.२१-२२; स्वप्नों के सन्दर्भ में मुख में प्रवेश करते हुए हाथी का उल्लेख वृषभदेव को छोड़कर अन्य सभी के साथ है । अजितनाथ का लांछन भी श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के अनुसार गज माना गया है । यू० पी० शाह, रूपमण्डन, पृ० ८४ ।
१२७. उत्तरपुराण ४८.२५-२७ ।
१२८. हरिवंशपुराण ७.२३-२५ ।
१२९. हरिवंशपुराण ७.४५-४६ ।
१३०. उत्तरपुराण ४८.३२-३९ ।
१३१. तिलोयपण्णत्ति में पौष शुक्ल १४ का उल्लेख है ।
१३२. उत्तरपुराण ४८.४०-४२ ।
१३३. महापुराण ३८.२२ ।
१३४. उत्तरपुराण ४८.५१-५३ ।
१३५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ९६-९७ ।
१३६. तिलोयपण्णत्ति (गा० ५२६ से ५४९) तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (३.१, १०३-१११) में इनकी माता का नाम सेनादेवी व पिता का नाम जितारि है ।
१३७. उत्तरपुराण ४९.१४-१९ ।
१३८. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ६९ ।
१३९. उत्तरपुराण ४९.२६-५७ ।
१४०. उत्तरपुराण ५०.१६-२२ ।
१४१. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ७२ ।
१४२. उत्तरपुराण ५०.२६-६६ ।
१४३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ९८-९९ ।
१४४. उत्तरपुराण ५१.१९-२४ ।
१४५. हस्तीमल, पू० नि० ।

१४६. उत्तरपुराण ५१.५५-८५ ।
१४७. उत्तरपुराण ५१.८७ ।
१४८. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ९९ ।
१४९. उत्तरपुराण ५२.१८-२७, ३४ ।
१५०. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ७९ ।
१५१. उत्तरपुराण ५२.३५.५७ ।
१५२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०० ।
१५३. उत्तरपुराण ५३.१७-२४ ।
१५४. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ८२ ।
१५५. उत्तरपुराण ५३.३७-५४ ।
१५६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०१-१०२ ।
१५७. उत्तरपुराण ५४.१६३-१७३ ।
१५८. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ८५ ।
१५९. उत्तरपुराण ५४.२०३-२७३ ।
१६०. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०३-१०४ ।
१६१. उत्तरपुराण ५५.२७ ।
१६२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ३.७.४९-५० ।
१६३. उत्तरपुराण ५५.३६-५९ ।
१६४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०४ ।
१६५. उत्तरपुराण ५६.२५-२९ ।
१६६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ३.८.४७ ।
१६७. उत्तरपुराण ५६.३२-५८ ।
१६८. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०५ ।
१६९. उत्तरपुराण ५७.१७-३३ ।
१७०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.१.८६ ।
१७१. उत्तरपुराण ५७.३८-६३ ।
१७२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०५ ।
१७३. उत्तरपुराण १८.१७-२२ ।
१७४. उत्तरपुराण ३०-५८; इनके निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों परम्पराओं में एक मत नहीं है। हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ६०० ।
१७५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०६ ।
१७६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.३.४८ ।

१७७. उत्तरपुराण ५९.१४-५८।
१७८. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०६-१०७।
१७९. उत्तरपुराण ६०.२१-२२।
१८०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.४.४७।
१८१. उत्तरपुराण ६०.२५-३३।
१८२. उत्तरपुराण ६०.४३-४६।
१८३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०७।
१८४. उत्तरपुराण ६१.१३-१९।
१८५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.५.४९; आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि कृत), पूर्व भाग, पृ० ११।
१८६. उत्तरपुराण ६१.५१-५३।
१८७. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०७।
१८८. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ११७।
१८९. उत्तरपुराण ६३.४१३-४६०।
१९०. मारुतिनन्दन तिवारी, 'अनपब्लिश्ड इमेजेज ऑव भरत चक्रवर्ती ऐट देवगढ़', ज० ई० सो० ओ० आ०, खण्ड–१२-१३, १९८१-८३, पृ० २५-३०।
१९१. उत्तरपुराण ६३. ४७८-४८६।
१९२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १०८-११२।
१९३. उत्तरपुराण ६४.१२-२४।
१९४. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ११९।
१९५. उत्तरपुराण ६४.२६-५३।
१९६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ११२।
१९७. उत्तरपुराण ६५.१४-२२।
१९८. उत्तरपुराण ६५.२४-३४।
१९९. उत्तरपुराण ३८-५०।
२००. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ११३।
२०१. उत्तरपुराण ६६.१९-३४।
२०२. नायाधम्मकहाओ में १९वें जिन मल्लिनाथ को नारी रूप में निरूपित किया गया है। यह परम्परा केवल श्वेताम्बरों में ही मान्य है। एम० विण्टरनित्ज, ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड–२, कलकत्ता, १९३३, पृ० ४४७-४८।
२०३. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० १२६।

२०४. उत्तरपुराण ६६.२७-५३ ।
२०५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ११४ ।
२०६. उत्तरपुराण ६७.२०-२८ ।
२०७. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० १३४ ।
२०८. उत्तरपुराण ६७.३१-५७ ।
२०९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ११४-१५ ।
२१०. उत्तरपुराण ६९.१८-३१ ।
२११. हस्तीमल, पू० नि०, पृ० १३६ ।
२१२. उत्तरपुराण ६९.३३-६९ ।
२१३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ११७ ।
२१४. उत्तरपुराण ७१.२९-४६ ।
२१५. आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्ध, पृ० ११ ।
२१६. उत्तरपुराण ७१.१२९-१४३ ।
२१७. उत्तरपुराण ७१.१४६-१५७ ।
२१८. उत्तरपुराण ७१.१५८-१८१; ७२.२७१-२७४ ।
२१९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ११७-१२२ ।
२२०. एच० जैकोबी, जैन सूत्रज, भाग २, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, खंड-४५, दिल्ली, १९७३, (पु० मु०), पृ० ११९-२९ ।
२२१. व्याख्याप्रज्ञप्ति ५.९.२२७ ।
२२२. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २१ ।
२२३. उत्तरपुराण ७३.७४-९१ ।
२२४. आवश्यकणूर्णि, उत्तर भाग, पृ० ११; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ९.३.४५ ।
२२५. उत्तरपुराण ७३.९३-९४ ।
२२६. उत्तरपुराण ७३.११५-१२६ ।
२२७. उत्तरपुराण ७३.१३३-१४२ ।
२२८. पार्श्वाभ्युदय काव्य, सं० एम० जी० कोठारी. बम्बई, १९६५, सर्ग ४, श्लोक ४५-४८ ।
२२९. पासणहचरिय-सं० प्रफुल्लकुमार मोदी, वाराणसी, १९६५, सर्ग १४, श्लोक ४-३० ।
२३०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ९.३.२४१-२९५ ।
२३१. उत्तरपुराण ७३.१४३-१५९ ।
२३२. उत्तरपुराण ७३.१६९, हस्तीमल, पू० नि०, पृ० २८४ ।

२३३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १२५-१३० ।

२३४. वहीं, पृ० १३२-१३५ ।

२३५. विस्तार के लिये द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन तिवारी, 'पार्श्वनाथ इमेजेज इन एलोरा', अर्हत् पार्श्वनाथ पर वर्ष ८७ मार्च में दिल्ली में बी० एल० इन्स्टीच्यूट ऑव इन्डोलाजी द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया लेख ।

२३६. वहीं ।

२३७. श्वेताम्बर परम्परा में इनकी माता का नाम त्रिशला है, त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र १०.२.१७-२० ।

२३८. वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुल) डिवीजन में 'बनिया बसाढ़' के नाम से प्रसिद्ध है, हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ३५२ ।

२३९. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २२-२४ ।

२४०. उत्तरपुराण ७४.२५१-२६१ ।

२४१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०.२.८८-१२४ ।

२४२. कल्पसूत्र, सूत्र १०३ ।

२४३. उत्तरपुराण ७४.२८८-२९५; श्वेताम्बर परम्परा में संगमदेव द्वारा एक ही रात में २० उपसर्ग उपस्थित करने का उल्लेख है । त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र १०.४.१८४-२८१ ।

२४४. उत्तरपुराण ७४.२९६-३०९ ।

२४५. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २४; हस्तीमल, पू० नि०, पृ० ३५८ ।

१४६. उत्तरपुराण ७४.३०५; हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २४ ।

२४७. उत्तरपुराण ७४.३३१-३३७ ।

२४८. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०.३.१७-३३ ।

२४९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०.३.२१७, १११-१४६ ।

२५०. उत्तरपुराण ७४.३४८-३५६ ।

२५१. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २४ ।

२५२. उत्तरपुराण ७६.५०८-५१२ ।

२५३. द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० १३६-४४ ।

२५४. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० १०१ ।

●

चतुर्थ अध्याय

शलाकापुरुष

महापुराण (जिनसेन व गुणभद्रकृत) में २४ तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य ३९ शलाकापुरुषों के जीवन वृत्त भी वर्णित हैं। शलकापुरुषों की अभिव्यक्ति कला में भी हुई है। ज्ञातव्य है कि जैन कला में केवल भरत चक्रवर्ती, बलराम-कृष्ण एवं राम की ही मूर्तियाँ बनीं जबकि पाँचवें, छठे और सातवें चक्रवर्ती शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरनाथ (जो तीर्थंकर भी हैं) की मूर्तियों की चर्चा तीर्थंकर से सम्बन्धित पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

चक्रवर्ती :

जैन पुराणों में वर्तमान अवसर्पिणी युग के १२ चक्रवर्तियों का निरूपण हुआ है जिनमें भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन तथा ब्रह्मदत्त सम्मिलित हैं। इन चक्रवर्तियों के सम्बन्ध में कुछ बातें विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सभी चक्रवर्ती काश्यपगोत्री, स्वर्णवर्ण वाले तथा विश्व विजेता रूप में उल्लिखित हैं। सभी के वक्षःस्थल पर जिनों के समान श्रीवत्स का चिह्न पाया जाता है।[1] सभी चक्रवर्तियों की माताएँ गर्भधारण करते समय कुछ शुभ स्वप्न देखती हैं। आदिपुराण[2] व महापुराण[3] (पुष्पदन्तकृत) में भरत चक्रवर्ती की माता द्वारा पाँच तथा हेमचन्द्र[4] के अनुसार १४ शुभस्वप्नों के देखने का उल्लेख है। श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार सभी चक्रवर्तियों को १४ रत्न—चक्र, दण्ड, खड्ग, छत्र, चर्म, मणि, काकिणि (कौड़ी), अश्व, गज, सेनापति, गृहपति, शिल्पी, पुरोहित और स्त्री तथा ९ निधियाँ—नैसर्प, पाण्डुक, पिंगल, सर्परत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणव तथा शंख प्राप्त होती हैं।[5] ज्ञातव्य है कि चक्रवर्ती, विशेषतः भरत चक्रवर्ती की स्वतंत्र मूर्तियों में परम्परानुरूप १४ रत्नों एवं ९ निधियों का अंकन हुआ है।

(१) भरत चक्रवर्ती :

ऋषभनाथ के १०० पुत्रों में भरत ज्येष्ठ पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती

थे। इनकी माता का नाम यशस्वती था। माता यशस्वती ने गर्भधारण से पूर्व ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमा सहित सूर्य, हंस सहित सरोवर तथा चंचल लहरों वाला समुद्र स्वप्न में देखा था। इन स्वप्नों का फल ऋषभदेव से जानकर वह अत्यन्त हर्षित हुईं और नौ मास व्यतीत होने पर चैत्र कृष्ण नवमी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था इसलिये निमित्तज्ञानियों ने उसके समस्त पृथ्वी का अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होने की घोषणा की और समस्त भरतक्षेत्र के अधिपति होने वाले उस पुत्र को 'भरत' नाम दिया।[६] जैन पुराणों के अनुसार इन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतभूमि या भारतवर्ष पड़ा।[७] चक्रवर्ती सम्राट भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष थे कि जैन ग्रन्थों के साथ ही वैदिक मंत्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में भी उनका उल्लेख मिलता है।[८] भागवत में भरत का विस्तृत विवरण प्राप्त है। इसमें उल्लेख है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश 'भारत' कहलाया।[९] भरत चक्रवर्ती के ही नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा, इस बात की पुष्टि—'मार्कण्डेयपुराण' (५०.३९-४१), कूर्मपुराण (४१.३७-३८), अग्निपुराण (१०.१०-११), वायुमहापुराण, पूर्वार्ध (३३.५०-५२), ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्ध (अनुषंडपाद १४.५९-६१), वाराहपुराण (७४), लिंगपुराण (४७.१९-२३) तथा विष्णुपुराण द्वितीयांश (१.२७-२८) से भी होती है।[१०]

समस्त विधि को जानने वाले ऋषभदेव ने स्वयं उनका अन्नप्राशन, चौल (मुण्डन) और उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार किया था। भरत के चरणों में चक्र, छत्र, खड्ग, दण्ड आदि चौदह रत्नों के चिह्न बने थे। उनका हस्ततल शंख, चक्र, गदा, कूर्म व मीन आदि शुभ लक्षणों से शोभायमान था।[११]

संसार के प्रति विरक्त होने के पश्चात् तीर्थंकर ऋषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्र भरत को साम्राज्य पद पर आसीन किया। ऋषभदेव को जब केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तभी भरत चक्रवर्ती के आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। सर्वप्रथम भरत ने ही ऋषभदेव के समवसरण में जाकर उनके चरणों की और तदनन्तर वापस आकर चक्ररत्न की पूजा की और उसके साथ दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया।[१२]

भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम पूर्व में व्यन्तर देवों के अधिपति मागध देव और तदुपरान्त अङ्ग, बंग, कलिंग, मगध, कुरु, अवन्ती, पांचाल, काम्बी, कौशल, वैदर्भ, मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्म, पुण्ड्र, औण्ड्र, गौड़, दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर व मध्यदेश के राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया। दक्षिण में उसने त्रिकलिंग, ओद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर, पुन्नाग, कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाण्ड्य व अन्तर-पाण्ड्य के राजाओं को अपने अधीन किया। इसी प्रकार पश्चिम के सभी राज्यों को जीतने के बाद भरत ने उत्तर में विजयार्धपर्वत के स्वामी विजयार्ध नामक देव तथा अनेक म्लेच्छ राजाओं को अधीन करने के पश्चात् हिमवत्कूट पर निवास करने वाले देव को भी अपने अधीन कर लिया।[13] इस प्रकार चक्रवर्ती भरत ने हिमवान पर्वत से लेकर पूर्व दिशा के समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथ्वी को वश में करने के बाद वृषभाचल की शिलापट्ट पर अपने दिग्विजय के सन्दर्भ में स्वयं प्रशस्ति लिखी।[14]

दिग्विजय के पश्चात् भरत चक्रवर्ती अयोध्या आने को तत्पर हुए। नगर के प्रवेश-द्वार पर उनके चक्ररत्न के रुक जाने तथा मंत्रियों द्वारा उसका कारण पूछने पर जब उन्हें अपने भाईयों, विशेषरूप से बाहुबली के प्रणाम हेतु न आने व उनके मन के ईर्ष्या तथा द्वेषपूर्ण भावनाओं के बारे में पता चला तो भरत और बाहुबली के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। किन्तु बुद्धिमान मंत्रियों ने भाई-भाई के इस युद्ध में व्यर्थ ही सेना के संहार को रोकने के उद्देश्य से उनके लिये तीन प्रकार[15] के युद्ध-नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध तथा मल्लयुद्ध निश्चित किये। तीनों ही युद्धों में बाहुबली को विजयी होता देख कुपित भरत ने उन पर चक्ररत्न चला दिया। भरत के इस व्यवहार से बाहुबली को बहुत दुःख हुआ और इस संसार से विरक्त हो उन्होंने दीक्षा ले ली।

चक्रवर्ती भरत के चौसठ लक्षणों, चौदह रत्नों व नौ निधियों का उल्लेख आदिपुराण में मिलता है।[16] इसमें भरत चक्रवर्ती द्वारा ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि का भी उल्लेख हुआ है।[17] ऋषभदेव के मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद शोकाकुल भरत को ऋषभदेव के गणधर वृषभसेन द्वारा इस नश्वर संसार व पूर्वभवों के बारे में बतलाये जाने पर तथा एक दिन दर्पण में स्वयं के श्वेत केश देखकर संसार से विरक्ति हो गयी।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार किसी दिन दर्पण में अपने को आभूषण रहित देखकर व सुन्दरता को क्षणिक जानकर भरत को इस नश्वर संसार से विरक्ति हुई।[१८] उसी समय भरत को आत्मज्ञान व केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अनेक देशों में धर्म का उपदेश देते हुए विहार करने के बाद उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

जैन परम्परा में त्याग और साधना को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इसी कारण भरत की चक्रवर्ती रूप में पूजा नहीं की गयी किन्तु जब उन्होंने संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और कठिन साधना द्वारा कैवल्य और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त किया, उस अवस्था में भरत पूज्य या उपास्य हो गये। भरत के अनुज बाहुबली की विभिन्न दिगम्बर स्थलों पर पर्याप्त संख्या में स्वतंत्र मूर्तियाँ बनीं किन्तु भरत की देवगढ़ के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल पर कोई मूर्ति नहीं उकेरी गयी। एलोरा में भी जहाँ बाहुबली की किसी भी क्षेत्र से प्राप्त मूर्तियों की तुलना में अधिक मूर्तियाँ बनीं वहीं भरत की एक भी मूर्ति उत्कीर्ण नहीं है। पश्चिम भारत के कुंभारिया और देलवाड़ा जैसे श्वेताम्बर स्थलों पर ऋषभनाथ के जीवन दृश्यों के सन्दर्भ में भरत-बाहुबली के बीच युद्ध से संबंधित कथा प्रसंग को भी दिखलाया गया है।

देवगढ़ से भरत की १०वीं-११वीं शती ई० की पाँच मूर्तियाँ मिली हैं जो मन्दिर सं० १, २ और १२ में हैं (चित्र ३०)। सभी उदाहरणों में भरत कायोत्सर्गमुद्रा में निर्वस्त्र और तपस्यारत हैं। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न से युक्त भरत की मूर्तियों में जिन मूर्तियों के त्रिछत्र के स्थान पर एक छत्र उत्कीर्ण है तथा कुछ में प्रभामण्डल, चामरधारी सेवक, माला-धारीगन्धर्व, दुन्दुभिवादक जैसे प्रातिहार्य भी दिखाये गये हैं। ये लक्षण भरत के तीर्थंकर के समान प्रतिष्ठापरक स्थिति के परिचायक हैं। इन उदाहरणों में सबसे महत्त्वपूर्ण भरत के समीप ही नवनिधि के सूचक नवघटों एवं दण्ड, छत्र, चक्र, काकिणी (कौड़ी), गृहपति (हलयुक्त), सेनापति (वज्र युक्त), पुरोहित, छत्रयुक्त अश्व, गज एवं स्त्री जैसे रत्नों का दिखाया जाना है। नवघटों के ऊपर निधिपति कुबेर की आकृति बनी है जिनके एक हाथ में धन का थैला है।[१९]

(२) सगर चक्रवती :

इनका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा समुद्रविजय के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम सुबाला था। ये सभी लक्षणों से

परिपूर्ण तथा सुवर्ण के समान कान्ति वाले थे।[२०] इन्होंने भी चिरकाल तक दिग्विजय किया। उनके गुणवान साठ हजार पुत्र थे। एक दिन इन पुत्रों ने अपने योग्य साहसपूर्ण कार्य माँगा। बहुत विचार करने के बाद सगर चक्रवर्ती ने अपने पुत्रों को कैलास पर्वत पर भरत चक्रवर्ती द्वारा बनवाये गये अरहन्तदेव के चौबीस मंदिरों के चारों ओर गंगा नदी को परिखा रूप में बना देने का कार्य सौंपा। इस कार्य को पूर्ण करने के लिये जब इनके पुत्र कैलास पर्वत पर गये हुए थे, तभी मणिकेतु नामक देव ने जो सगर को सांसारिक भोगों से विमुख करना चाहता था, एक दुष्ट नाग का रूप धर कर इन्हें भस्म कर दिया। जब सगर को अपने पुत्रों की मृत्यु का समाचार मिला तो अत्यन्त शोकाकुल हो उन्हें इस नश्वर संसार से विरक्ति हो गयी और भगीरथ को राज्य सौंप कर उन्होंने दीक्षा धारण कर ली और विधि तपश्चरण करते हुए मोक्ष प्राप्त किया।[२१] भगीरथ और गंगा का प्रसंग स्पष्टतः ब्राह्मण परम्परा के गंगावतरण प्रसंग से सम्बन्धित है। सगर की एलोरा या अन्य किसी स्थल से कोई मूर्ति नहीं मिली है।

(३) **मघवा चक्रवर्ती :**

तीसरे चक्रवर्ती मघवा का जन्म धर्मनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में अयोध्यापुरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्र के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम भद्रारानी था। मनुष्य, विद्याधर व इन्द्र इनके चरणों में नतमस्तक होते थे। एक दिन अकस्मात् अभयघोष नामक केवली मनोहर नामक उद्यान में पधारे। उनसे धर्म के स्वरूप व तत्त्वों का ज्ञान होने पर मघवा को इस संसार से विरक्ति हो गयी। फलस्वरूप प्रियमित्र नामक पुत्र को राज्य सौंप कर इन्होंने दीक्षा धारण की और केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया।[२२]

(४) **सनत्कुमार चक्रवर्ती :**

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का जन्म अयोध्या अधिपति सूर्यवंशी राजा अनन्तवीर्य की रानी सहदेवी के गर्भ से हुआ था। इन्होंने भी समस्त पृथ्वी को अपने अधीन कर रखा था। सनत्कुमार सुवर्ण के समान कान्तिवाले और अत्यन्त रूपवान थे। इनके रूप के सम्बन्ध में कथा है कि—एक बार सौधर्म इन्द्र की सभा में इनके रूप की चर्चा हुई। फलस्वरूप कौतुहलवश इनके रूप को देखने के लिये देव पृथ्वी पर आये और हर्षित हुए। साथ ही उन देवों ने सनत्कुमार को इस ससार के

रोग, बुढ़ापा, दुःख तथा मरण का स्मरण दिला उनके रूप की प्रशंसा की। उसी समय इन्हें इस नश्वर संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गयी और वे दीक्षित हो गये। तत्पश्चात् कठोर तपश्चरण करते हुए उन्हें केवलज्ञान और अन्त में मोक्ष प्राप्त हुआ।[२३]

पाँचवें चक्रवर्ती शांतिनाथ, छठे चक्रवर्ती कुन्थुनाथ व सातवें चक्रवर्ती अरनाथ एक ही भव में तीर्थंकर व चक्रवर्ती दोनों हुए जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में तीर्थंकर के अन्तर्गत किया जा चुका है।

(८) सुभौम चक्रवर्ती :

आठवें चक्रवर्ती सुभौम का जन्म अरनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम चित्रमती था। बालक पृथ्वी को छूकर उत्पन्न हुआ था, इसीलिये चित्रमती के बड़े भाई शाण्डिल्य मुनि ने उसका नाम 'सुभौम' रखा।[२४] ये भी अन्य चक्रवर्तियों की तरह चक्र आदि शुभ लक्षणों, चौदह रत्नों व नौ निधियों से शोभित थे। सुभौम चक्रवर्ती ने अपने पिता का वध करने वाले उस परशुराम का वध किया था जिसने इक्कीस बार पृथ्वी से क्षत्रिय वंश को निर्मूल नष्ट किया था।[२५] एक बार किसी निमित्तज्ञानी से अपना शत्रु उत्पन्न हुआ जानकर परशुराम ने शत्रु को जाँचने के उद्देश्य से भोजन कराने के लिये एक दानशाला खुलवायी और अपने सेवकों को आदेश दिया कि जो भी भोजनाभिलाषी यहाँ पर आये, उसे पात्र में रखे मृत राजाओं के एकत्रित दाँत दिखलाकर ही भोजन करवाया जाये। एक दिन सुभौम भी उनकी दानशाला में आया और दाँतों को शालि चावलों के भात में बदल दिया। क्रुद्ध हो परशुराम ने उनसे युद्ध की तैयारी की किन्तु उनकी सेना सुभौम के आगे न ठहर सकी। उसी समय चक्ररत्न भी पास ही प्रकट हो गया जिससे सुभौम ने परशुराम का वध कर दिया।[२६] यह कथा ब्राह्मण परम्परा के परशुराम प्रसंग का जैन रूपान्तरण जान पड़ती है।

सुभौम चक्रवर्ती को अन्य चक्रवर्तियों के समान मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ।[२७]

(९) पद्म चक्रवर्ती :

१२ चक्रवर्तियों में पद्म नौवें चक्रवर्ती हैं। इनका जन्म भरत क्षेत्र में काशी के वाराणसी नामक नगरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्मनाभ के यहाँ

हुआ था। ये पद्म आदि समस्त लक्षणों से युक्त थे। इन्होंने पराक्रम से चक्रवर्ती पद प्राप्त कर चिरकाल तक दस प्रकार के भोगों का उपभोग किया। एक दिन आकाश में सुन्दर बादल को देख वह अत्यन्त हर्षित हुए, किन्तु सहसा उसको नष्ट होता देख उन्हें इस नश्वर संसार के प्रति विरक्ति हो गयी और उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर समाधिगुप्त नामक जिनराज के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया।[२८]

(१०) **हरिषेण चक्रवर्ती** :

दसवें चक्रवर्ती हरिषेण का जन्म मुनि सुव्रतनाथ के तीर्थ में भोगपुर नामक नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्मनाभ के यहाँ हुआ था। इनके पिता ने राजसीवृत्ति छोड़ कर संयम धारण कर लिया था। जिस दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ उसी दिन राजा हरिषेण की आयुधशाला में चक्र, छत्र, खड्ग और दण्ड ये चार रत्न प्रकट हुए। तत्पश्चात् श्रीगृह में काकिणी, चर्म और मणि ये तीन रत्न प्रकट हुए। चक्ररत्न की पूजा कर जब वह दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने को हुए उसी समय पुरोहित, गृहपति, स्थपति और सेनापति ये चार रत्न प्रकट हुए तथा विद्याधर विजयार्ध पर्वत से गज, अश्व और कन्या रत्न लेकर आये। इसी प्रकार गणबद्ध नामक देव उनके लिये नदी मुखों से नौ निधियाँ ले आये। इस प्रकार छह प्रकार की सेनाओं के साथ दिग्विजय को प्रस्थान कर, देव, मनुष्य तथा विद्याधर राजाओं द्वारा सेवित हो चिरकाल तक इन्होंने दस प्रकार के भोगों का उपभोग किया। एक दिन जब वह अपनी महल की छत पर बैठे हुए थे उसी समय चन्द्रग्रहण देखकर इन्हें विरक्ति हो गयी और अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर श्रीनाग नामक मुनिराज के पास जाकर संयम धारण कर लिया। अनेक प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त कर ये सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।[२९]

(११) **जयसेन चक्रवर्ती** :

जयसेन ग्यारहवें चक्रवर्ती थे। इनका जन्म २१वें तीर्थंकर 'नमिनाथ' के तीर्थ में कौशाम्बी नगरी के इक्ष्वाकुवंशी राजा 'विजय' के यहाँ हुआ था इनकी माता का नाम प्रभाकरी था। जयसेन चक्रवर्ती सर्वलक्षणों से युक्त, सुवर्ण के समान कान्ति वाले व चौदह रत्नों और निधियों के स्वामी थे।

विभिन्न प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए उनका समय सुख से व्यतीत हो रहा था कि एक दिन राजमहल की छत से उल्कापात देखकर उन्हें संसार के प्रति विरक्ति हो गयी तत्पश्चात् अपने पुत्र को राज्य सौंप कर उन्होंने राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। कुछ ही समय में श्रुत, बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध और चारण ऋद्धियों से विभूषित हो इन्होंने सम्मेदशिखर पर सन्यास धारण किया। अन्त में ये जयन्त नामक अनुत्तर विमान में जयसेन अहमिन्द्र हुए।[३०]

(१२) **ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती :**

जैन परम्परा के बारहवें तथा अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जन्म नेमिनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में हुआ था। इनके पिता का नाम ब्रह्मा तथा माता का नाम चूड़ादेवी था। इनका शरीर सात धनुष ऊँचा था तथा आयु सात सौ वर्ष थी।[३१]

९ बलभद्र या बलदेव :

श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक वासुदेव का एक सौतेला भाई होता है जो बलदेव नाम से जाना जाता है। इनकी संख्या नौ होती है। ये वासुदेव के पराक्रम से सदा जुड़े रहते हैं। इन्हें वासुदेवों से उत्तम दरशाया गया है। इन नौ बलदेवों में से प्रारम्भ के आठ बलदेव मोक्ष तथा नवें स्वर्ग को प्राप्त करते हैं,[३२] जबकि सभी वासुदेव मृत्यु के बाद किसी न किसी नरक में जाते हैं। दिगम्बर परम्परा के नौ बलदेवों के नाम क्रमशः विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दि, नन्दिमित्र, राम व पद्म हैं।[३३]

जैनधर्म के दोनों परम्पराओं में नौ बलदेवों को नील वस्त्र व ताल-वृक्ष अंकित ध्वजा को धारण करने वाला बतलाया गया है।[३४] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ये हल, मुसल, धनुष और बाण धारण करने वाले[३५] तथा दिगम्बर परम्परा के अनुसार गदा, रत्नमाला, मुसल व हल इन चार रत्नों के स्वामी बतलाये गये हैं।[३६] सभी बलभद्र श्वेत वर्ण होते हैं।[३७] तिलोयपण्णत्ति में हल, मुसल, रथ और रत्नमाला का इनके आयुधों के रूप में उल्लेख मिलता है।[३८] बलदेवों के लक्षण स्पष्टतः ब्राह्मण परम्परा के संकर्षण बलराम (तालवृक्ष, हल, मुसल) से ग्रहण किये गये हैं जिन्हें आदिशेष का अवतार माना गया है। बलदेवों के दो करों में धनुष और बाण का अंकन ब्राह्मण परम्परा के राम से सम्बन्धित जान पड़ता है।

८. नारायण या वासुदेव :

दोनों ही परम्पराओं में ९ नारायण अथवा वासुदेव का उल्लेख मिलता है। प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों में भी वासुदेव व बलदेव का उल्लेख हुआ है। पृथ्वी के तीन खण्डों पर विजय करने तथा चक्रवर्तियों के आधे अधिकार का उपभोग करने के कारण इन्हें अर्धचक्रवर्ती भी कहा गया है।[३९] समवायांगसूत्र[४०] में ९ वासुदेवों (या नारायणों) की जो सूची मिलती है उसे ही कालान्तर में दोनों परम्पराओं में स्वीकार किया गया। ९ वासुदेवों के नाम क्रमशः—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण हैं। दोनों ही परम्पराओं में वासुदेव का उल्लेख नील या कृष्ण वर्ण तथा पीत वस्त्र धारण करने वाले के रूप में किया गया है।[४१] इन्हें गरुड चिह्नांकित ध्वजा को धारण करने वाला बताया गया है। श्वेताम्बर परम्परा[४२] के अनुसार—शंख (पाञ्चजन्य), चक्र (सुदर्शन), गदा (कौमुदकी), धनुष (शार्ङ्ग), नन्दक (खड्ग), कौस्तुभ मणि और वनमाला तथा दिगम्बर परम्परा के अनुसार असि, शंख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड तथा गदा वासुदेव (या नारायण) के सात रत्न माने गये हैं। उपर्युक्त लक्षण स्पष्टतः ब्राह्मण परम्परा के कृष्ण का प्रभाव दरशाते हैं जिन्हें न केवल नेमिनाथ की मूर्तियों में वरन् विमलवसही एवं लूणवसही के जैन मन्दिरों में स्वतन्त्र रूप से भी शिल्पांकित किया गया।

आठवें वासुदेव को छोड़कर अन्य सभी का जन्म गौतम गोत्र में माना गया है। जैन परम्परा में मृत्यु के उपरान्त सभी वासुदेव नरक को प्राप्त होते हैं जबकि बलदेव को मोक्ष प्राप्त होता है। यह विचारधारा हिन्दू-परम्परा की परिकल्पना के सर्वथा विपरीत है।[४३] जैन परम्परा के वासुदेव, बलदेव और प्रति वासुदेव का अस्तित्व किसी न किसी रूप में ब्राह्मण देवकुल में था जिसे परिवर्तित कर तथा एक नयी पृष्ठभूमि देकर जैन पुराणों में सम्मिलित किया गया।[४४]

९. प्रतिनारायण या प्रतिवासुदेव :

६३ शलाकापुरुषों के अन्तर्गत आरम्भ में ९ प्रतिवासुदेवों, (वासुदेव के शत्रु) को सम्मिलित नहीं किया गया था। शीलांककृत चउप्पन्न महापुरिसचरियं, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[४५], स्थानांगसूत्र[४६] और आवश्यक-निर्युक्ति में ६३ के स्थान पर केवल ५४ शलाकापुरुषों का ही उल्लेख

हुआ है।[४७] इस प्रकार जैन परम्परा में ९ प्रतिवासुदेवों को शलाकापुरुषों की सूची में बाद में सम्मिलित किया गया।[४८] दोनों ही जैन परम्पराओं में प्रतिवासुदेवों की सूची समान है जिसमें अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रह्लाद, रावण और जरासन्ध के नामोल्लेख हैं।[४९] उत्तरपुराण में इनके नामों में किंचित् परिवर्तन मिलता है जिसमें अश्वग्रीव, तारक, मधु, मधुसुदन, मधुक्रीड़, निशुम्भ, बलीन्द्र, रावण व जरासन्ध का उल्लेख हुआ है।[५०] आरम्भिक आठ प्रतिवासुदेवों को विद्याधर एवं नौवें को पृथ्वी का मनुष्य बताया गता है।[५१] सभी प्रतिवासुदेव अपने उस चक्र से मारे गये जिसे उन्होंने वासुदेव को मारने के उद्देश्य से फेंका था।[५२]

ब्राह्मण पुराणों में इन प्रतिवासुदेवों का उल्लेख राक्षस अथवा असुर रूप में मिलता है। इसमें तारक, कुमार अथवा कार्त्तिकेय द्वारा मारा गया। मधु, बलि, रावण अथवा जरासन्ध देवताओं और मनुष्यों के प्रतिद्वन्द्वी थे जो सदैव विष्णु के विभिन्न अवतार स्वरूपों यथा राम, कृष्ण, विष्णु और वामन द्वारा मारे गये। जैन परम्परा में प्रह्लाद का उल्लेख वासुदेव के शत्रु के रूप में हुआ है जबकि ब्राह्मण परम्परा में उन्हें एक महान सन्त और भागवत सम्प्रदाय के प्रथम उपासक के रूप में स्वीकार किया गया है।[५३]

जैन मन्दिरों में बलदेवों अथवा वासुदेवों की प्रतिमाओं के पूजन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु कहीं-कहीं उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अंकन उपलब्ध है।[५४]

यहाँ ९ बलभद्रों, नारायणों एवं प्रतिनारायणों का एक साथ कुछ विस्तार से उल्लेख भी अपेक्षित है :

१. **विजय, त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव** :

विजय, त्रिपृष्ठ ओर अश्वग्रीव जैन परम्परा के प्रथम बलभद्र (या बलदेव), नारायण (या वासुदेव) और प्रतिनारायण (या प्रतिवासुदेव) हैं जो ग्यारहवें तीर्थंकर 'श्रेयांसनाथ' के समकालीन थे। इनके पूर्वभवों का उल्लेख जैन पुराणों में मिलता है। संक्षेप में इनका जीवनवृत्त निम्न प्रकार है—

प्रथम बलभद्र 'विजय' का जन्म भरतक्षेत्र के पोदनपुर नामक नगर के राजा प्रजापति की जयावती नामक महारानी के गर्भ से हुआ था।

इन्हीं की दूसरी महारानी मृगावती के गर्भ से प्रथम नारायण व अर्धचक्री 'त्रिपृष्ठ' का जन्म हुआ था।[५५] त्रिपृष्ठ को जन्म देने से पूर्व मृगावती ने कुछ शुभ स्वप्न भी देखे थे।[५६] बलभद्र विजय का शरीर शंख के समान सफेद तथा त्रिपृष्ठ का इन्द्र नीलमणि के समान नीला था। विजय के गदा, रत्नमाला, मुसल और हल तथा त्रिपृष्ठ के धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा क्रमशः चार और सात रत्न थे।[५७] वे दोनों ही सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तर देवों के आधिपत्य को प्राप्त हुए थे।

अश्वग्रीव इनका शत्रु था। इसका जन्म विजयार्ध पर्वत की उत्तर-श्रेणी की अलका नगरी के स्वामी मयूरग्रीव के यहाँ हुआ था। 'त्रिपृष्ठ' नारायण ने अश्वग्रीव का वध किया और फलस्वरूप सातवें नरक को प्राप्त हुए। इसी प्रकार 'अश्वग्रीव' प्रतिनारायण भी सातवें नरक गया। त्रिपृष्ठ की मृत्यु से दुःखी होकर बलभद्र विजय ने सुवर्णकुम्भ नामक योगिराज के पास संयम धारण कर लिया और अन्त में परमात्म अवस्था को प्राप्त हुए।[५८]

२. अचल, द्विपृष्ठ और तारक :

अचल, द्विपृष्ठ और तारक जैन परम्परा के क्रमशः दूसरे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण हैं। बलभद्र, 'अचल' का जन्म भरतक्षेत्र की द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म के सुभद्रा नामक महारानी के गर्भ से हुआ था। इन्हीं की दूसरी रानी उषा से 'द्विपृष्ठ' नामक पुत्र का जन्म हुआ। इन दोनों भाईयों का वर्ण क्रमशः कुन्द पुष्प और इन्द्रनीलमणि के समान था। ये दोनों बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य के समकालीन थे।

इसी समय भरतक्षेत्र के भोगवर्धन नामक राजा के यहाँ तारक नामक पुत्र हुआ। अपने चक्र के भय से उसने समस्त विद्याधर और भूमिगोचरियों को अपना दास बना रखा था। श्यामवर्ण वाला तारक सदैव शत्रुओं को ढूँढता रहता था और अखण्ड तीन खण्डों का स्वामित्व धारण करता था। वह द्विपृष्ठ नारायण और अचल बलभद्र की वृद्धि को सहन नहीं कर सका और उन दोनों को अपना शत्रु मान, उन्हें नष्ट करने के उद्देश्य से उनके पास एक दूत भेजा और कहलवाया कि उनके पास जो प्रसिद्ध ग्रन्थ हस्ती है वे उसे दे दें। फलस्वरूप तीनों के मध्य युद्ध हुआ। चिरकाल तक युद्ध करने के बाद भी द्विपृष्ठ के अपराजेय रहने पर उसने अपने चक्र को उन पर फेंका जो उनकी प्रदक्षिणा कर

दाहिनी भुजा पर स्थिर हो गया। उसी चक्र से द्विपृष्ठ ने तारक का वध किया और सात उत्तम रत्नों और तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी बन गया। मृत्यु के बाद द्विपृष्ठ सातवें नरक गया और बलभद्र ने 'अचल' संयम धारण कर मोक्ष पद प्राप्त किया।[५९]

३. धर्म, स्वयम्भू और मधु :

उत्तरपुराण में 'धर्म' का तीसरे बलभद्र 'स्वयम्भू' का तीसरे नारायण और 'मधु' का तीसरे प्रतिनारायण के रूप में उल्लेख है। 'धर्म' बलभद्र और 'स्वयम्भू' नारायण का जन्म भरतक्षेत्र की द्वारावती नामक नगरी के राजा भद्र की रानी सुभद्रा व पृथिवी से हुआ था।

इन्हीं के समय इनके शत्रु मधु का जन्म रत्नपुर नामक नगर में हुआ। पिछले जन्म में इसने सुकेतु नामक राजा का, जो बाद में स्वयम्भू नारायण हुए, राज्य द्यूत में जीत लिया था। अतः पूर्व वैर के कारण स्वयम्भू मधु का नाम सुनते ही क्रोधित हो जाता था। एक दिन किसी राजा ने जब मधु के लिये भेंट भेजी तो स्वयम्भू ने उनके दूतों को मार-कर उसे छीन लिया। परिणामस्वरूप मधु के साथ धर्म और स्वयम्भू का युद्ध हुआ। अन्त में कुपित होकर जब मधु ने स्वयम्भू पर अपना चक्र फेंका तो वह उनकी प्रदक्षिणा कर उनकी दाहिनी भुजा के अग्र भाग पर ठहर गया। क्रुद्ध हो स्वयम्भू ने उसी चक्र से मधु का वध कर दिया। भारी पाप का संयम करने के कारण अन्त में मधु सातवें नरक में और नारायण स्वयम्भू भी पूर्व बैर के संस्कार के फलस्वरूप पाप का संचय करने के कारण मृत्यु के उपरान्त सातवें नरक में प्रविष्ट हुए। बलभद्र धर्म ने भाई के वियोग से शोकसंतप्त हो विमलनाथ के पास जाकर संयम धारण कर लिया और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त किया।[६०]

४. सुप्रभ, पुरुषोत्तम एवं मधुसूदन :

'सुप्रभ', 'पुरुषोत्तम' व 'मधुसूदन' जैन परम्परा के चौथे बलभद्र, नारायण व प्रतिनारायण हैं जो चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ के सम-कालीन थे। बलभद्र सुप्रभ व नारायण पुरुषोत्तम का जन्म भरतक्षेत्र की द्वारवती नामक नगरी के राजा सोमप्रभ के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम क्रमशः जयवन्ती व सीता था। सुप्रभ शुक्ल और पुरुषोत्तम कृष्ण कान्ति के धारक थे।[६१] मधुसूदन काशी के वाराणसी नगरी का राजा था। उसका बल व पराक्रम प्रसिद्ध था। एक बार नारद ने

उसके सामने सुप्रभ व पुरुषोत्तम के वैभव और बल का वर्णन किया जिससे कुपित हो उसने उनके पास खबर भेजी कि वे उसके लिये गज व रत्न आदि कर के रूप में भेजें।[६२] फलस्वरूप बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण मधुसूदन के मध्य युद्ध हुआ। इस युद्ध में अन्त में मधुसूदन द्वारा फेंके गये चक्र से ही नारायण पुरुषोत्तम ने उसका वध कर दिया।[६३]

५. सुदर्शन, पुरुषसिंह व मधुक्रीड :

जैन परम्परा में सुदर्शन, पुरुषसिंह व मधुक्रीड का उल्लेख क्रमशः पाँचवें बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण के रूप में आता है जो पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ के समकालीन थे। सुदर्शन और पुरुषसिंह का जन्म खगपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा सिंहसेन के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम क्रमशः विजया व अम्बिका था।

इसी समय इनका शत्रु मधुक्रीड्[६४] हुआ जो हस्तिनापुर नामक नगर का राजा था। सुदर्शन और पुरुषसिंह के बढ़ते हुए तेज को न सह सकने के कारण मधुक्रीड् ने अपने प्रधानमंत्री को उनसे कर स्वरूप श्रेष्ठ रत्न मांगने के लिए भेजा जिसके फलस्वरूप दोनों के मध्य युद्ध हुआ और अन्त में मधुक्रीड् द्वारा चलाये गये चक्र से ही नारायण पुरुषसिंह ने उसका सिर काट डाला। चिरकाल तक दोनों भाइयों ने तीन खण्ड पृथ्वी के राज्यलक्ष्मी का उपभोग किया। आयु का अन्त होने पर नारायण पुरुषसिंह ने सातवें नरक और बलभद्र सुदर्शन ने धर्मनाथ के पास दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया।[६५]

६. नन्दिषेण, पुण्डरीक और निशुम्भ :

उत्तरपुराण में नन्दिषेण, पुण्डरीक और निशुम्भ का उल्लेख क्रमशः छठे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण के रूप में हुआ है। इनका जन्म अट्ठारहवें तीर्थंकर अरनाथ के तीर्थ में हुआ था। नन्दिषेण और पुण्डरीक का जन्म चक्रपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा वरसेन की वैजयन्ती और लक्ष्मीमती रानी से हुआ था।

इसी समय निशुम्भ[६६] इनका शत्रु हुआ जो चक्रपुर का तेजस्वी राजा था। इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने जब अपनी पद्मावती नामक कन्या को पुण्डरीक के विवाह के लिये प्रदान किया तो कुपित हो निशुम्भ ने अपनी सेना के साथ पुण्डरीक पर आक्रमण कर दिया। चिरकाल तक युद्ध के बाद अन्त में नारायण पुण्डरीक ने उसके ही द्वारा चलाये गये

चक्र से उसका वध कर दिया। आयु के अन्त में अत्यन्त आसक्ति के कारण पुण्डरीक ने सातवें नरक को और बलभद्र नन्दिषेण ने उनके वियोग में संसार से विरक्त हो और संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त किया।[६७]

७. नन्दिमित्र, दत्त और बलीन्द्र[६८] :

सातवें बलभद्र, नारायण व प्रतिनारायण का जन्म १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ के तीर्थ में हुआ था। बलभद्र 'नन्दिमित्र' और नारायण 'दत्त' वाराणसी के इक्ष्वाकुवंशी राजा अग्निशिख की अपराजिता और केशवती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। चन्द्रमा और इन्द्रनील मणि के समान वर्ण वाले ये दोनों ही तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे।

इसी समय इनका शत्रु प्रतिनारायण 'बलीन्द्र' हुआ जो विजयार्ध पर्वत पर स्थित मन्दरपुर नामक नगर का विद्याधर राजा था। यह पूर्व जन्म में भी इनका शत्रु था। एक दिन युद्ध करने की इच्छा से अहंकार-वश इसने अपने एक दूत को इनके पास भेज कर प्रसिद्ध गन्धगज मँगवाया। कुपित हो बदले में नन्दिमित्र और दत्त ने अपने लिए उसकी कन्या माँगी। फलस्वरूप दोनों के बीच युद्ध हुआ और अन्त में बलीन्द्र द्वारा चलाये गये चक्र से ही नारायण दत्त ने उसका वध कर दिया। चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का सुख भोगने के बाद मृत्यु के उपरान्त दत्त ने सातवें नरक को और भाई के वियोग से विरक्त नन्दिमित्र ने केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया।[६९]

८. राम (पद्म), लक्ष्मण (नारायण) और रावण :

आठवें बलभद्र 'राम', नारायण 'लक्ष्मण' तथा प्रतिनारायण 'रावण' बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समकालीन थे।[७०] प्रारम्भ से ही जन-भावना के प्रति सम्मान की वृत्ति रहने के कारण जैन आचार्यों ने हिन्दू धर्म के देव-ताओं को जैन देवकुल में औदार्यपूर्वक प्रवेश देकर महनीय कार्य किया है। राम जनमानस से जुड़े सर्वाधिक लोकप्रिय देवता रहे हैं जिनका विस्तृत उल्लेख वाल्मीकि के रामायण में मिलता है। जैन परम्परा में राम का प्रारम्भिक और विस्तृत उल्लेख नागेन्दु कुल के (श्वेताम्बर) विमलसूरि-कृत पउमचरिय (४७३ ई०) में मिलता है।[७१] पउमचरिय के पश्चात् जैन परम्परा में राम कथा पर आधारित जिन स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की गयी उनमें संघदास कृत वसुदेवहिण्डी (६०९ ई०), रविषेण-कृत पद्मपुराण (६७८ ई०), शीलांककृत चउप्पन्नमहापुरिसचरियं

(ल० ८वीं शती ई०), गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, पुष्पदन्तकृत महापुराण (९६५ ई०) एवं हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र मुख्य हैं।[७२]

रामायण के तीन प्रमुख पात्रों राम, लक्ष्मण और रावण (दशानन) को जैन देवमण्डल में लगभग ५वीं शती ई० में ६३ शलाकापुरुषों की सूची में सम्मिलित किया गया। पउमचरिय में राम की तुलना में रावण को अधिक जिनभक्त के रूप में निरुपित किया गया।[७३] इस ग्रन्थ में राम के साथ हल व मुसल और लक्ष्मण के साथ चक्र एवं गदा का उल्लेख मिलता है।[७४] कई स्थलों पर राम को पद्म, हलायुध और लक्ष्मण को नारायण, चक्रधर तथा चक्रपाणि नामों से भी अभिहित किया गया है।[७५]

पउमचरिय एवं परवर्ती ग्रन्थों में रामकथा के अनेकशः उल्लेख के बाद भी जैन स्थलों पर राम का मूर्त अंकन लोकप्रिय नहीं हो सका। इनके मूर्त अंकन का उदाहरण केवल खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर (ल० ९५०–७० ई०) पर मिला है।[७६]

उत्तरपुराण में ब्राह्मण धर्म के राम, लक्ष्मण और रावण की कथा का जो विवरण मिलता है वह कुछ स्थलों पर रामायण की कथा से सर्वथा भिन्न है जिसे यथास्थान स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

राम और लक्ष्मण का जन्म वाराणसी नगर के राजा दशरथ को क्रमशः सुबाला व कैकेयी रानी के गर्भ से हुआ था।[७७] लक्ष्मण के शरीर पर चक्र का चिह्न था। ये दोनों भाई अपरिमित शक्ति वाले थे। राम का वर्ण हंस के पंख के समान श्वेत और लक्ष्मण का नील कान्ति-वाला था।[७८]

राम और लक्ष्मण के कुमारकाल का जब काफी समय व्यतीत हो चुका तो दशरथ वंश परम्परा अनुसार अयोध्या में आकर रहने लगे। इसी समय मिथिला के राजा एवं सीता के पिता जनक एक ऐसा यज्ञ करने जा रहे थे जिसमें प्रतिपक्षियों, विशेष रूप से रावण, द्वारा विघ्न डालने का भय था (उत्तरपुराण में सीता को एक स्थल पर रावण की पुत्री उल्लिखित किया गया है, ६८.३४८-३५३)। मन्त्रियों से परामर्श करने पर महाराज जनक को रामचन्द्र के पराक्रम का पता चला। उन्होंने दशरथ के पास बहुमूल्य भेंट के साथ अपने दूत को भेजकर यज्ञ की रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को आमन्त्रित किया। साथ ही बदले में सीता को देने का भी प्रस्ताव रखा।[७९]

इस सन्दर्भ में अपने मन्त्रियों और पुरोहितों से परामर्श करने पर महाराज दशरथ को राम और लक्ष्मण के क्रमशः आठवें बलभद्र और नारायण होने का भी पता लगा।[६०] फलस्वरूप दशरथ ने राम और लक्ष्मण को सेना के साथ जनक के पास मिथिला भेज दिया। यज्ञ पूर्ण होने के बाद जनक ने राम को बड़े वैभव के साथ सीता प्रदान की। कुछ दिन वहीं व्यतीत करने के बाद राम, लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या लौट आये और सुख पूर्वक रहने लगे। बाद में राजा दशरथ ने अन्य सात सुन्दर कन्याओं के साथ राम का तथा पृथ्वी देवी आदि सोलह राज-कन्याओं के साथ लक्ष्मण का विवाह किया।[६१] राम-लक्ष्मण के बहुपत्नीक होने का सन्दर्भ जैन परम्परा का निजत्व है।

इस समय रावण, जो उनका शत्रु था और जिसका उल्लेख इनके प्रतिनारायण अथवा प्रतिवासुदेव के रूप में हुआ है, का जन्म लंका के विद्याधर राजा पुलस्त्य के यहाँ हुआ। इनकी माता का नाम मेघश्री था। एक बार क्रीड़ा के लिये किसी वन में गये हुए रावण ने अमितवेग की पुत्री मणिमती को विद्या सिद्ध करने में संलग्न देखा और उस पर मोहित हो उसे अपने अधीन करने के उद्देश्य से उसकी विद्या का हरण कर लिया। फलस्वरूप उसने भविष्य में रावण की ही पुत्री होकर उसके वध करने का निश्चय किया।[६२] आगे चलकर रावण की पत्नी मन्दोदरी के गर्भ से उसका जन्म हुआ। जब रावण को निमित्त ज्ञानियों से इस बात का पता चला कि इसी पुत्री द्वारा उसका विनाश होगा तो उसने मारीच नामक मन्त्री को उसे कहीं ले जाकर छोड़ आने को कहा। किन्तु मारीच ने मन्दोदरी के कहने पर उस कन्या को एक पेटिका में रखकर मिथिला नगरी के उद्यान के निकट भूमि के भीतर रख दिया। वहाँ पर हल चला रहे कुछ लोगों को जब वह पेटिका मिली तो उन्होंने इसकी सूचना राजा जनक को दी। जनक ने उस कन्या का नाम 'सीता' रख-कर उसका पालन-पोषण किया।[६३] यह सब इतना गुप्त रखा गया कि रावण को भी इस बात का पता न चला।

एक दिन नारद द्वारा सीता के सौन्दर्य के बारे में सुनकर उसका हरण करने के उद्देश्य से रावण पुष्पक विमान में बैठ चित्रकूट वन में पहुँचा, जहाँ राम-सीता के साथ भ्रमण कर रहे थे। वहीं पर रावण की आज्ञा से मारीच श्रेष्ठ मणियुक्त मायावी हिरण के बच्चे का रूप धर कर सीता के सन्मुख प्रकट हुआ। सीता को उस पर मोहित होता देख उसे

पकड़ कर लाने के उद्देश्य से राम उस हिरण के पीछे गये। इधर रावण छल से राम का रूप धर कर सीता के सामने आया और पुष्पक विमान को पालकी रूप में परिवर्तित करके उसका हरण कर लिया।[८४]

शोकाकुल राम को जब एक दूत द्वारा भेजे गये दशरथ के पत्र से लंका के विद्याधर राजा रावण द्वारा सीता के हरण का पता चला तो वे अत्यधिक क्रोधित हुए और सीता को लाने का उपाय सोचने लगे। उसी समय उनके सन्मुख सुग्रीव व अणुमान (हनुमान) नामक दो विद्याधर आये। उनके पराक्रम व शक्ति के बारे में सुनकर राम ने अणुमान को अपने नाम से चिह्नित एक मुद्रिका देकर लंका भेजा। लंका में नन्दन नामक वन में शिशंपा वृक्ष के नीचे शोकाकुल सीता को देख अणुमान उनके सामने 'प्लवग' नामक विद्या द्वारा कपि का रूप धर कर प्रकट हुए और उन्हें राम की मुद्रिका दी। तत्पश्चात् वापस आकर राम को सीता व अहंकारी रावण एवं उसके पास चक्ररत्न के प्रकट होने की सूचना दी।[८५]

अंगद के परामर्श पर राम ने पुनः अणुमान को रावण को समझाने के लिये लंका भेजा। अणुमान तथा विभीषण ने अनेक प्रकार से रावण को समझाया और सीता को वापस लौटा देने का परामर्श दिया किन्तु अहंकारी रावण के किसी भी प्रकार न मानने पर राम और रावण के मध्य युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।[८६]

इसी बीच किलकिल नामक नगर के विद्याधर राजा वालि के एक दूत ने राम के पास आकर उसके शौर्य और पराक्रम की प्रशंसा की और उसे अपना दूत बनाकर लंका भेजने का परामर्श दिया। अपने मंत्रियों से परामर्श करने के बाद राम ने वालि का वध करने का निश्चय किया और दूत द्वारा यह कहलवा भेजा कि वह अपने महामेघ नामक श्रेष्ठ हाथी हो समर्पित करे। यह सुन वालि अति कुपित हुआ और उसने रामचन्द्र को युद्ध का आमंत्रण दिया। फलस्वरूप राम ने लक्ष्मण को सुग्रीव आदि की सेना के साथ वालि से युद्ध करने के लिये भेजा। इस युद्ध में लक्ष्मण ने अपने तीक्ष्ण बाण से वालि का वध किया।[८७]

वालि का वध करने के बाद लक्ष्मण ने जगत्पाद नामक पर्वत पर सात दिनों तक निराहार रहकर प्रज्ञप्ति नामक विद्या सिद्ध की। इसके अतिरिक्त सुग्रीव और हनुमान ने भी राम और लक्ष्मण को अपनी सिद्ध

की हुई गरुडवाहिनी, सिंहवाहिनी, बन्धमोचिनी एवं हननवरणी नामक विद्याएँ दीं।[८८] रावण से युद्ध करने के लिये राम और लक्ष्मण की चतुरंगी सेना ने प्रस्थान किया। दोनों भाईयों ने प्रज्ञप्ति नामक विद्या द्वारा अनेक विमानों का निर्माण कर उसके द्वारा अपनी सेना को लंका में उतारा। राम और लक्ष्मण अंजन पर्वत और विजय पर्वत नामक हाथी पर आरूढ़ थे। लक्ष्मण के ध्वज पर वलयाकार साँप को पकड़े हुए गरुड का चिह्न अंकित था।[८९] रावण का भाई विभीषण जिसे रावण ने देश निकाला दे दिया था, रामचन्द्र के पास आकर रहने लगा था।

लंका पहुँचने पर राम को जब इन्द्रजीत (रावण का पुत्र) द्वारा राक्षस आदि महाविद्याओं के सिद्ध करने के बारे में पता चला तो उन्होंने उसमें अनेक विद्याधर कुमारों द्वारा विघ्न डलवाना आरम्भ किया। फलस्वरूप इन्द्रजीत ने अनेक विद्याधर राजाओं और सिद्ध किये हुए देवताओं को इनसे युद्ध करने के लिये कहा। किन्तु उनके अस्वीकार कर देने पर रावण स्वयं राम व लक्ष्मण से युद्ध करने चल पड़ा।[९०] राम के साथ बहुत दिनों तक युद्ध करने के बाद रावण मायावी युद्ध करने के उद्देश्य से अपने पुत्रों के साथ आकाश में पहुँचा। रावण को दुरीक्ष्य (जो देखा न जा सके) देखकर चतुर राम और लक्ष्मण भी सिंहवाहिनी व गरुडवाहिनी विद्याओं से निर्मित सिंह और गरुड पर सवार हो आकाश में पहुँचे। युद्ध में रावण को परास्त होता देख, पुत्र इन्द्रजीत आया जिसे राम ने शक्ति की चोट से गिरा दिया। यह देख रावण ने लक्ष्मण पर चक्ररत्न फेंकने का आदेश दिया किन्तु वह चक्र लक्ष्मण के चारों ओर प्रदक्षिणा कर दाहिने हाथ पर स्थिर हो गया। अन्त में उसी चक्ररत्न से लक्ष्मण ने रावण का सर काट दिया और रावण अधोगति (नरकगति) को प्राप्त हुआ। राम व लक्ष्मण आठवें बलभद्र और नारायण होकर तीन खण्ड के बलशाली स्वामी हुए।[९१]

रावण का वध करने के बाद राम और लक्ष्मण ने सोलह हजार पट्टबन्ध राजाओं, एक सौ दस नारियों के स्वामी विद्याधरों तथा तीन खण्ड के निवासी देवों को जीतकर बयालीस वर्षों में दिग्विजय पूर्ण किया। राम और लक्ष्मण, सीता के साथ अयोध्या आये जहाँ तीर्थजल से भरे एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया गया।

राम के अपराजित हलायुध, अमोघबाण, कौमुदी गदा और रत्ना-

चंतसिका नामक माला ये चार रत्न तथा लक्ष्मण के सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा, सौनन्दक खड्ग, अमोधमुखी शक्ति, शार्ङ्ग धनुष, पाञ्चजन्य शंख और कौस्तुभ मणि ये सात रत्न थे जिनकी एक-एक हजार यक्षदेव पृथक्-पृथक् रक्षा करते थे।[९२] राम और लक्ष्मण के लक्षण स्पष्टतः विष्णु (शंक, चक्र, गदा), बलराम (हल) एवं राम (धनुष-बाण) से सम्बन्धित हैं।

अनेक वर्षों तक सुख पूर्वक राज्य का उपभोग करने के बाद एक दिन नागवाहिनी शय्या पर सोये हुए लक्ष्मण ने तीन स्वप्न देखे। पुरोहितों ने उसका अर्थ लक्ष्मण की असाध्य बीमारी, उनकी मृत्यु और राम का तपोवन में जाना बताया। कुछ ही दिनों बाद लक्ष्मण को महा-रोग उत्पन्न हुआ और उसी से मृत्यु का वरण कर भोगों में आसक्त रहने वाले लक्ष्मण चौथी पंकप्रभा नामक पृथ्वी (नरक) में गये। लक्ष्मण की मृत्यु से शोकाकुल राम ने पुत्रों को राज्य आदि देकर स्वयं सुग्रीव, अणुमान, विभीषण तथा अन्य ५०० राजाओं और १८० पुत्रों के साथ संयम धारण कर लिया और कालान्तर में केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।[९३]

खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर की उत्तरी भित्ति पर सीता सहित राम की आलिंगन मूर्ति उत्कीर्ण है जिसमें त्रिभंग में अवस्थित राम चतुर्भुज हैं। राम के दो हाथों में एक लम्बा शर है जबकि एक दाहिना हाथ पालित-मुद्रा में कपिमुख हनुमान के सिर पर रखा है और दूसरा बायाँ हाथ आलिंगनमुद्रा में है। पीठ पर तूणीर और किरीट-मुकुट आदि से शोभित राम के वाम पार्श्व में सीता निरूपित हैं जिनके वाम कर में नीलोत्पल है जबकि दक्षिण कर राम के कन्धे पर आलिंगनमुद्रा में देखा जा सकता है। उत्तरपुराण एवं अन्य जैन ग्रन्थों के विवरण के अनुरूप पार्श्वनाथ जैन मन्दिर के शिखर पर दक्षिण भाग में अशोक वाटिका में बैठी क्लांतमुखी सीता और समीप ही असुर आकृतियों से घिरे हनुमान को दिखाया गया है।[९४] एलोरा में राम-लक्ष्मण या अन्य किसी बलभद्र, नारायण या प्रतिनारायण की कोई मूर्ति नहीं उकेरी है।

६. पद्म (या बलराम), कृष्ण और जरासन्ध :

'पद्म' (या बलराम), 'कृष्ण' और 'जरासन्ध' जैन परम्परा के क्रमशः नौवें बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण हैं जो बाईसवें तीर्थंकर

नेमिनाथ के समकालीन थे। ज्ञातव्य है कि कृष्ण और पद्म (या बलराम) नेमिनाथ के चचेरे भाई थे।

पद्म बलभद्र कृष्ण के अग्रज थे जिनका जन्म वसुदेव की पत्नी रोहिणी तथा कृष्ण का देवकी के गर्भ से हुआ था। कृष्ण जन्म के सम्बन्ध में उत्तरपुराण में वर्णित कथा के अनुसार—एक बार अतिमुक्त नामक एक मुनि भिक्षा के लिये कंस के राजभवन में गये। वहाँ कंस की पत्नी जीवद्यशा ने उनसे हँसी में कुछ कटु वचन कह दिये जिससे क्रोधित हो अतिमुक्त मुनि ने देवकी के पुत्र द्वारा कंस व जीवद्यशा के पिता के मारे जाने का शाप दिया और देवकी पुत्र के चक्रवर्ती रूप में समस्त पृथ्वी के पालन करने के बारे में भी बताया। इस पर भयभीत कंस ने वसुदेव से कहा कि देवकी (कंस की बहन) के प्रसूति की सारी विधि उसके ही घर पर करें। वसुदेव ने कंस के छल को न समझ सकने के कारण प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अतिमुक्त मुनि द्वारा देवकी और वसुदेव को भी सात पुत्रों के जन्म और अन्तिम पुत्र के चक्रवर्ती होने का पता चला।[९५]

इस प्रकार देवकी ने तीन बार में दो-दो युगल पुत्रों को जन्म दिया जिन्हें इन्द्र द्वारा प्रेरित नैगमेषी देव ने भद्रिलपुर नगर के अलका नामक वैश्यपुत्री के आगे डाल दिया और उनके स्थान पर मृत पुत्रों को देवकी के पास रख दिया। किन्तु जब देवकी ने सातवें पुत्र को जन्म दिया तो उसका पालन-पोषण कंस से छुपाकर करने के उद्देश्य से वसुदेव व पद्म (बलराम) उसे नन्दगोप के घर ले गये। मार्ग में पुत्र की इच्छा रखने वाली पत्नी की उत्पन्न कन्या को भूतदेवताओं को समर्पित करने के उद्देश्य से आ रहे नन्दगोप मिले। अपना मनोरथ सिद्ध होता देख वसुदेव व पद्म पुत्र को उन्हें सौंप स्वयं उनकी कन्या को देवकी के पास ले आये। जब कंस को यह पता चला कि देवकी को कन्या उत्पन्न हुई है तो उसने सर्वप्रथम उसकी नाक चपटी कर एक धाय द्वारा तलघट में रखकर बड़े प्रयत्न से बढ़ाया। किन्तु बड़े होने पर अपनी विकृत आकृति के कारण वह विन्ध्याचल पर्वत पर सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर रहने लगी।[९६]

मथुरा में कुछ निमित्तज्ञानियों द्वारा जब कंस को कृष्ण के जीवित होने का पता चला तो उसने अनेक प्रकार से उनको मारने का प्रयास किया। इस प्रयास के अन्तर्गत कंस द्वारा पूर्वभव में सिद्ध किये सात

व्यन्तर देवताओं द्वारा विविध रूप धारण कर कृष्ण को मारने का प्रयास करने से सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं, उदाहरणार्थ किसी देवी द्वारा पूतना के रूप में कृष्ण को विषपूर्ण स्तनपान कराने का प्रयास, किसी का अर्जुन वृक्ष, किसी का ताड़ वृक्ष, किसी का गर्दभी अथवा अश्व रूप में कृष्ण को मारने आना इत्यादि। किन्तु अपने प्रयासों में पूर्णतः असफल होने पर वे सभी कंस के सामने अपनी असमर्थता प्रकट कर विलीन हो गये।[९७] उपर्युक्त सन्दर्भ स्पष्टतः महाभारत, हरिवंश-पुराण एवं भागवतपुराण में वर्णित कृष्ण जन्म की कथा से प्रभावित हैं।

किसी दिन मथुरापुरी के जैन मन्दिर के पूर्व में स्थित दिक्पाल मंदिर में कृष्ण के प्रताप से नागशय्या, धनुष और शंख ये तीन रत्न प्रकट हुए। निमित्तज्ञानियों से यह ज्ञात होने पर कि जो इसे सिद्ध कर लेगा वह चक्ररत्न से सुरक्षित राज्य प्राप्त करेगा, कंस ने स्वयं उसे सिद्ध करना चाहा। किन्तु इस कार्य में असमर्थ होने पर उसने यह घोषणा करवाई कि जो भी नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से शंख बजाएगा और दूसरे से धनुष को चढ़ा देगा, उसे वह अपनी पुत्री देगा। यह घोषणा सुनकर अनेक राजाओं के साथ-साथ स्वयं कृष्ण भी मथुरा पहुँचे और उन तीनों कार्यों को करने के बाद वापस व्रज आ गये। जब कंस को यह पता चला कि इन तीनों कार्यों को करने वाले स्वयं कृष्ण ही हैं तो उसने शत्रु की शौर्य परीक्षा के उद्देश्य से नन्दगोप के पास यह सूचना भेजी कि उसे वह सहस्रदल पद्म चाहिये जिसकी रक्षा स्वयं नागराज करते हैं। शोकाकुल पिता नन्दगोप की समस्या जानकर कृष्ण महासर्पों से युक्त सरोवर में प्रवेश कर, वह पद्म सहज ही ले आये।[९८] प्रस्तुत प्रसंग किंचित् परिवर्तित रूप में कालिय नाग के दमन की कथा से संबंधित है।

बाद में कंस ने नन्दगोप को अपने मल्लों के साथ मल्लयुद्ध देखने के लिए मथुरा आमन्त्रित किया। जब वे मथुरा में प्रविष्ट हुए तो कंस ने उन पर एक मत्त हाथी छोड़ा। कृष्ण ने गज के एक दाँत को उखाड़ कर उसी से उसको इतना पीटा कि वह भयभीत हो भाग गया। इसके पश्चात् कंस की सभा में सर्वप्रथम कृष्ण ने चाणूर नामक कंस के प्रमुख मल्ल का और इसके बाद कंस का वध किया।[९९]

इन सारी घटनाओं की सूचना जब मगध के राजा जरासन्ध (नौवाँ प्रतिनारायण) को प्राप्त हुई तो उसने यादवों से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए जब उसने अपने पुत्र कालयवन

को भेजा तो यादवों का कुलदेवता एक बूढ़ी स्त्री के रूप में मार्ग में अग्नि जलाकर बैठ गया और कालयवन द्वारा पूछे जाने पर बता दिया कि उसके भय से समस्त यादवों ने इस अग्नि में जलकर अपने प्राण दे दिये हैं। यह सुन कर कालयवन आश्वस्त हो वापस चला गया।[100] तत्पश्चात् कृष्ण, वसुदेव, पद्म एवं यादवों सहित इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा समुद्र में निर्मित द्वारावती नगरी में सुखपूर्वक रहने लगे। किसी दिन कुछ वैश्य पुत्रों द्वारा जब जरासन्ध को, कृष्ण व द्वारावती नगरी के बारे में पुनः सूचना मिली तो यादवों का नाश करने के उद्देश्य से वह चल पड़ा। कुरुक्षेत्र में दोनों पक्ष की सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। जरासन्ध ने कृष्ण को मारने के उद्देश्य से जिस चक्र को चलाया वह कृष्ण की प्रदक्षिणा कर उनकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया और उसी चक्र से कृष्ण ने जरासन्ध का वध कर दिया।[101] इसके पश्चात् अनेक राजाओं को अपने अधीन कर और आधे भारत का स्वामी हो कृष्ण ने बलदेव पद्म व सेना के साथ द्वारावती नगरी में प्रवेश किया जहाँ देव व विद्याधर राजाओं ने चक्रवर्ती रूप में कृष्ण का राज्याभिषेक किया।[102]

उत्तरपुराण में कृष्ण को नीलवर्ण का पीताम्बर, मयूरपिच्छ, नीलकमल की माला, गले में उत्तम कंठी, सिर पर ऊँचा मुकुट व कलाइयों में सुवर्ण के देदीप्यमान कंटक से सज्जित बताया गया है। चक्र, शक्ति, गदा, शंख, धनुष, दण्ड तथा नन्दक खड्ग—इनके सात प्रमुख रत्न माने गये हैं। इसी प्रकार रत्नमाला, गदा, हल और मुसल बलभद्र पद्म के चार प्रमुख रत्न बताये गये हैं।[103] कृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, सुसीमा, लक्ष्मण, गान्धारी, गौरी व प्रिया नामधारी आठ प्रमुख पट्टरानियाँ एवं कुल सोलह हजार रानियाँ थीं। बलदेव पद्म के आठ हजार रानियाँ थीं। कृष्ण ने नागशय्या पर आरूढ़ हो, गरुडवाहिनी विद्या सिद्ध की थी। इनकी पताका गरुड चिह्न से युक्त थी।[104] एक दिन बलदेव द्वारा तीर्थंकर नेमिनाथ से कृष्ण के राज्य आदि के बारे में पूछने पर ज्ञात हुआ कि बारह वर्ष बाद द्वारावती नगरी के नष्ट होने पर कौशाम्बी वन में जरत्कुमार द्वारा कृष्ण की मृत्यु होगी। उसी के अनुरूप कृष्ण की मृत्यु हुई। कृष्ण के वियोग में बलभद्र पद्म ने संयम धारण कर लिया।[105]

यद्यपि एलोरा में बलराम और कृष्ण को आमूर्तित नहीं किया गया

है किन्तु विभिन्न श्वेताम्बर व दिगम्बर स्थलों पर स्वतंत्र और नेमिनाथ मूर्तियों के परिकर तथा नेमिनाथ के जीवन दृश्यों के अन्तर्गत इनका अंकन हुआ है।[१०६] सर्वप्रथम मथुरा की कुषाणकालीन नेमिनाथ मूर्तियों में हलधर, बलराम और चक्रधारी कृष्ण का निरूपण हुआ। मध्यकाल में देवगढ़ (चित्र ८) एवं मथुरा की दो नेमिनाथ मूर्तियों (१०वीं–११वीं शती ई०), बटेश्वर की नेमिनाथ मूर्ति, मथुरा संग्रहालय की अम्बिका मूर्ति (क्रमांक डी० ७), आगरा की मुनिसुव्रत और मथुरा के कंकाली टीला की ऋषभनाथ मूर्ति (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे० ७८) में बलराम और कृष्ण को दोनों पार्श्वों में दिखाया गया है। इनमें द्विभुज या चतुर्भुज बलराम और कृष्ण की आकृतियाँ उकेरी हैं। पाँच या सात सर्पफणों के छत्र वाले बलराम के हाथों में हल, मुसल और चषक दिखाया गया है जबकि वनमाला और किरीट-मुकुट से शोभित कृष्ण के करों में गदा, चक्र और शंख प्रदर्शित हैं।[१०७] इन दिगम्बर मूर्तियों में बलराम-कृष्ण के लक्षण पूरी तरह उत्तरपुराण के विवरण पर आधारित हैं।

खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मंदिर यमलार्जुन कृष्ण मूर्ति के अतिरिक्त हलधर बलराम की रेवती सहित आलिंगन मूर्ति भी उत्कीर्ण है। देलवाड़ा के विमलवसही व लूणवसही (ल० ११५०–१२५० ई०) में कृष्ण के कालियनाग मर्दन (चित्र ३१), गोप-गोपिकाओं के साथ होली खेलने, कृष्ण जन्म एवं विभिन्न बाल-लीलाओं एवं असुरों के संहार से संबंधित दृश्यों का विस्तारपूर्वक अंकन हुआ है जो जैन ग्रन्थों की बलराम-कृष्ण कथा की पृष्ठभूमि में विशेष महत्त्वपूर्ण है। लूणवसही में कृष्ण-जन्म का अत्यधिक विस्तारपूर्वक अंकन विशेषतः उल्लेखनीय है।

पाद-टिप्पणी

१. आदिपुराण २६.६२ क्रमशः; आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ३९१; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पृ० २१२, २५६, २६२; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.४२, पृ० १ ०-१८१।

२. आदिपुराण १५.१००-१०१।

३. महापुराण (पुष्पदन्तकृत), ५९.१७।

४. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.२.८८५-८८७।

५. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ७३; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ७.१३.१९-१३; १.४.५६८-५८७; आदिपुराण ३७.७४, ८३-८४।

६. आदिपुराण १५.१००-१०१, १४२, १५८।
७. आदिपुराण १५.१५९; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.४१-७१; आवश्यकचूर्णि पृ० १८२ एवं क्रमशः; वसुदेवहिण्डी १, पृ० १८६ एवं क्रमशः।
८. आदिपुराण, प्रस्तावना, पृ० १३-१४।
९. "येषां खलु" महायोगो भरतो ज्येष्ठः गुण आसोत।
येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ भागवत ५.४-९।
१०. द्रष्टव्य, आदिपुराण प्रस्तावना, पृ० १४।
११. आदिपुराण १५.१६४, १९७, २०८।
१२. आदिपुराण २६.५९।
१३. आदिपुराण २८.११९-१६६; २९.८०-९६; ३१.१५६।
१४. आदिपुराण ३२.१४५-१५४, १९९।
१५. श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध तथा चक्रयुद्ध का उल्लेख है—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.५.५१९-७९८।
१६. आदिपुराण ३७.७३-७४, ८३-८४; हरिवंशपुराण ११.१०८-१११।
१७. आदिपुराण ३८.४-२४; ४७.३२४-३९३।
१८. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.६.७१५-७४५।
१९. मारुतिनन्दन तिवारी, 'अनपब्लिश्ड इमेजेज ऑव भरत चक्रवर्ती ऐट देवगढ़', जं० ई० सी० ओ० आ०, खण्ड १२-१३, वर्ष १९८१-८३, पृ० २५-२९।
२०. उत्तरपुराण ४८.६९-७३।
२१. उत्तरपुराण ४८.७६-१४३।
२२. उत्तरपुराण ६१.८८-१०२।
२३. उत्तरपुराण ६१.१०४-१२९।
२४. उत्तरपुराण ६५.११८-१२५।
२५. श्वेताम्बर परम्परा में परशुराम द्वारा सात बार पृथ्वी से क्षत्रियों को निर्मूल नष्ट करने व सुभौम द्वारा उत्तर में इक्कीस बार पृथ्वी से ब्राह्मणों के नाश का उल्लेख मिलता है—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ६.४.७०-११०।
२६. उत्तरपुराण ६५.१२६-१५०।
२७. उत्तरपुराण ६५.१५६-१६९।
२८. उत्तरपुराण ६६.७६-९७।
२९. उत्तरपुराण ६७.६१-८८।
३०. उत्तरपुराण ६९.७८-९२।

३१. उत्तरपुराण ७२.२८७-१८८। उपरोक्त विवरण के अतिरिक्त चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के सम्बन्ध में उत्तरपुराण में और कोई विवरण नहीं मिलता।
३२. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ७४-७५।
३३. वारांगचरित २७.४३, पृ० २६८; तिलोयपण्णत्ति, १.४.१४११, पृ० ३२८ त्रिलोकसारगाथा ८२७; उत्तरपुराण ११, पर्व ५७-७१।
३४. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७५।
३५. अभिधानचिन्तामणी, २.१३८; समवायांगसूत्र, सूत्र १५८; स्थानांगसूत्र, सूत्र ६७२।
३६. उत्तरपुराण ५७.९३।
३७. उत्तरपुराण ५७.९०।
३८. तिलोयपण्णत्ति १.४.१४३५, पृ० ३३२।
३९. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७३-७४।
४०. समवायांगसूत्र, पृ० १५२-१५८, सूत्र १५८-५९।
४१. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७४; आवश्यकनिर्युक्तिगाथा ४०२; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.६.३३८; ४.१.२४०-४१; उत्तरपुराण ५७.९०; हरिवंशपुराण ३५.३५; ४१.३६-३७।
४२. अभिधानचिन्तामणि २.१२८-३७; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.१. ६२४-२५।
४३. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७४।
४४. एम० विण्टरनित्ज, पू० नि, पृ० ४८७।
४५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, खण्ड १, पृ० १६४।
४६. स्थानांगसूत्र, खण्ड–१, पृ० ७५, १२३।
४७. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७७।
४८. वहीं, पृ० ७६।
४९. वहीं, पृ० ७६।
५०. उत्तरपुराण ५७-७२।
५१. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७६।
५२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.१.४१५-७६१; उत्तरपुराण ५८.८४-११८।
५३. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ७६।
५४. वहीं, पृ० ७५।
५५. उत्तरपुराण ५७.८३-८६।
५६. श्वेताम्बर परम्परा में बलदेव की माता चतुर्दन्त, गज, वृषभ, चन्द्र और नीलोत्पल युक्त सरोवर व वासुदेव की माता द्वारा सिंह, लक्ष्मी, सूर्य,

कलश, समुद्र, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि, क्रमशः इन चार और सात शुभ स्वप्नों के देखने का उल्लेख मिलता है—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.१.१६९-२१५ ।

५७. उत्तरपुराण ५७.९०-९३ ।

५८. उत्तरपुराण ५७.८७-९९ ।

५९. उत्तरपुराण ५८.८३-८६, ९०-११९ ।

६०. उत्तरपुराण ५९.७१-१०६ ।

६१. उत्तरपुराण ६०.६३-६८ ।

६२. नारद सम्बन्धी यह वर्णन श्वेताम्बर परम्परा में भी मिलता है—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.४.१११-१९१ ।

६३. उत्तरपुराण ६०.७१-८१ ।

६४. श्वेताम्बर परम्परा में इनके शत्रु का नाम 'निशुम्भ है—त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र ४.५.७२-७४ ।

६५. उत्तरपुराण ६१, ६९-८३ ।

६६. श्वेताम्बर परम्परा में 'निशुम्भ' पाँचवें प्रतिवासुदेव के रूप में उल्लिखित है—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.५.७२-७४ ।

६७. उत्तरपुराण ६५.१७४-१९१ ।

६८. श्वेताम्बर परम्परा में इनका नाम क्रमशः नन्दन, दत्त और प्रह्लाद है—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ६.५.१-२२ ।

६९. उत्तरपुराण ६६.१०२-१२३ ।

७०. उत्तरपुराण ६७.८९ ।

७१. पउमचरिय में राम का मुख्यतः पद्म और कहीं-कहीं राम (७८.३५, ४१, ४२), राघव (१.८२; ३९.१२६) एवं हलधर (३५.२२, ३९.२०, ३१) नामों से भी उल्लेख हुआ है ।

७२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ४१; 'आइकौनिकल डीटीज़ इन जैन पैन्थीयान ऐण्ड रिलीजस आर्ट', सावनियर (आस्पेक्ट्स आव जैन फिलासफी ऐण्ड कल्चर), फोर्थ वर्ल्ड जैन कांग्रेस (सं० सतीश कुमार जैन), नई दिल्ली, १९८७, पृ० ३४-३७ ।

७३. पउमचरिय ५.१४५-१५६; ८.२०; ९.८७-८९; १०.४६-४७, ५३; ११.३ ।

७४. पउमचरिम ५९.८६; ७८. ४१; दोनों ही जैन परम्पराओं में हल और मुसल का बलदेव के चार रत्नों में एवं चक्र व गदा का वासुदेव के सात रत्नों में उल्लेख आता है ।

७५. पउमचरिय ३५.२२; ३९.२०, ३१, १२६; ७०.३३, ३६; ७२.२२; ७३.३, ५, १९; ७६.३६; ७७.१; ७८.३२; ८०.२।

७६. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमल गिरि, 'विमलसूरि कृत पउमचरिय में प्रतिमाविज्ञान परक सामग्री', पं० दलसुख मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी, १९९१, पृ० १५४। मारुतिनन्दन तिवारी 'ए नोट ऑन ऐन इमेज ऑव राम एण्ड सीता ऑन दि पार्श्वनाथ टेम्पल, खजुराहो', जैन जर्नल, खण्ड–८, अं० १, पृ० ३०-३२।

७७. उत्तरपुराण ६७.१४८-१५२; रामायण में राम की माता का नाम कौसल्या व लक्ष्मण की माता का नाम सुमित्रा है और दशरथ अयोध्यापुरी के राजा उल्लखित हैं—रामायण (बाल्मीकिकृत), गीता प्रेस, गोरखपुर, (बालकाण्ड) १८.८-१४, पृ० ६८।

७८. उत्तरपुराण ६७.१५२-१५४।

७९. उत्तरपुराण ६७.१६५-७८; रामायण में सीता के विवाह के लिये धनुष यज्ञ से सम्बन्धित दूसरी कथा वर्णित है—रामायण ६६.९-१५, पृ० १५८-१५९।

८०. उत्तरपुराण ६७.४६५-७०।

८१. उत्तरपुराण ६८.३१-४८।

८२. उत्तरपुराण ६८.१०-१६।

८३. उत्तरपुराण ६८.१७-२८; रामायण में जनक द्वारा हल चलाने पर हल के अग्रभाग से 'सीता' के मिलने का उल्लेख है—रामायण ६६.१३-१४, पृ० १५८।

८४. उत्तरपुराण ६८.१९०-२२५।

८५. उत्तरपुराण ६८.२६९-३८२।

८६. उत्तरपुराण ६८.३९०-४३९।

८७. उत्तरपुराण ६८.४४०-४६४।

८८. उत्तरपुराण ६८.४६८-४६९, ५२१-५२२।

८९. उत्तरपुराण ६८.५४०-५४७।

९०. उत्तरपुराण ६८.५१६-५३३।

९१. उत्तरपुराण ६८.६११-६३४।

९२. उत्तरपुराण ६८.६४३-६७७।

९३. उत्तरपुराण ६८.६९२-७२०।

९४. मारुतिनन्दन तिवारी, एलिमेन्ट्स ऑव जैन आइकनोग्राफी, पृ० ११५-१६।

९५. उत्तरपुराण ७०.३६९-३८३।

९६. उत्तरपुराण ७०.३८४-४०८; आगे चलकर जैन परम्परा में यही विन्ध्यवासिनी देवी के रूप में मान्य हुई।
९७. उत्तरपुराण ७०.४१२-४२४।
९८. उत्तरपुराण ७०.४४०-४७२; हरिवंशपुराण में उल्लेख है कि कृष्ण ने विषम सर्पों से युक्त सरोवर में जाकर कालिय नामक नाग का मर्दन किया। ३६.६-७।
९९. उत्तरपुराण ७०.४९१-४९४।
१००. उत्तरपुराण ७१.६-२८; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ८.५.३२१-४००; हरिवंशपुराण ४०.२५-४३।
१०१. उत्तरपुराण ७१.५२-११५; हरिवंशपुराण ५२.५९-८३; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ८.७.१३४-४५७।
१०२. उत्तरपुराण ७१.११७-१२२।
१०३. उत्तरपुराण ७१.१२३-१२५; हरिवंशपुराण ३५.२०।
१०४. उत्तरपुराण ७१.१२३-१२८; हरिवंशपुराण ४४.११-४८; इस ग्रन्थ के अनुसार गौरी को छोड़कर कृष्ण ने सभी का हरण किया था।
१०५. उत्तरपुराण ७१.१७८-८३, १२२।
१०६. मारुतिनन्दन तिवारी, 'वैष्णव थीम्स इन देलवाड़ा जैन टैम्पुल्स', वाजपेय—के० डी० बाजपेयी फेलिसिटेशन, वाल्यूम, दिल्ली; १९८७, पृ० १९५-२००
१०७. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ११९-१२०।

●

पंचम अध्याय

यक्ष-यक्षी एवं विद्यादेवी

प्राचीन भारतीय ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साहित्य में यक्षों के प्रभूत उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा उपनिषद ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर यक्ष शब्द प्रयुक्त हुआ है। रामायण (३.११.९४) में देवों द्वारा यक्षत्व एवं अमरत्व का वरदान देने का उल्लेख मिलता है। महाभारत (६.४१.४) में उल्लेख आता है कि सात्विक वर्ग के लोग देवों की, राजसिक वर्ग के लोग यक्ष व राक्षस तथा तामसिक वर्ग के लोग भूत-प्रेत की उपासना करते हैं।[१] बौद्ध साहित्य में यक्षों का उल्लेख नैतिक शिक्षक के रूप में आया है।[२] यक्षों को उपकार व अपकार दोनों का कर्त्ता माना गया है। कुमारस्वामी के अनुसार यक्षों व देवों के बीच कोई विशेष भेद नहीं था और 'यक्ष' शब्द एक प्रकार से देव का ही पर्यायवाची था।[३] पवाया (म० प्र०) की मणिभद्र यक्ष मूर्ति (पहली शती ई० पू०) भगवान् के रूप में पूजित थी।[४] जैन ग्रन्थों में भी यक्षों का अधिकांशतः देव के रूप में उल्लेख आता है।[५] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार संचित सत्कर्मों के प्रभाव को भोगने के बाद यक्ष पुनः मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं।[६]

जैन ग्रन्थों में यक्ष एवं यक्षियों का उल्लेख जिनों के शासन व उपासक देवों के रूप में हुआ है।[७] प्रत्येक जिन के यक्ष-यक्षी युगल उनके चतुर्विध संघ के शासक एवं रक्षक देव हैं।[८] जैन ग्रन्थों के अनुसार समवसरण में जिनों के धर्मोपदेश के बाद, इन्द्र ने प्रत्येक जिन के साथ सेवक देवों के रूप में एक यक्ष और एक यक्षी को नियुक्त किया था।[९] सदैव जिनों के समीप रहने के कारण जैन देवकुल में यक्ष एवं यक्षियों को जिनों के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली।[१०]

२४ यक्षों एवं २४ यक्षियों की सूची में अधिकांश के नाम एवं उनकी लाक्षणिक विशेषताएँ ब्राह्मण और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवकुल के देवों से प्रभावित हैं। जैन देवकुल पर ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के देवों का प्रभाव दो प्रकार का है। प्रथम, जैनों ने इन धर्मों के देवों के केवल नाम ग्रहण किये हैं और स्वयं उनकी स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ निर्धारित कीं। गरुड, वरुण, कुमार यक्षों और गौरी, काली, महाकाली, अंबिका

एवं पद्मावती यक्षियों के सन्दर्भ में इसी प्रकार का प्रभाव दृष्टिगत होता है। द्वितीय, जैनों ने देवताओं के एक वर्ग की लाक्षणिक विशेषताएँ इतर धर्मों के देवों से ग्रहण कीं। कभी-कभी इनके नाम भी हिन्दू और बौद्ध देवों के नामों से प्रभावित हैं। इस वर्ग में मुख्य रूप से ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र एवं कुबेर यक्ष और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, तारा एवं वज्रशृंखला यक्षियाँ आती हैं।[११] हरिवंशपुराण में उल्लेख है कि जिन शासन के भक्त देवों (शासन देवताओं) के प्रभाव से हित (शुभ) कार्यों की विघ्नकारी शक्तियाँ (ग्रह, नाग, भूत, पिशाच व राक्षस) शान्त हो जाती हैं।[१२] जैन ग्रन्थों में यक्ष जिनों के चामरधर सेवकों के रूप में निरूपित हैं।[१३] भगवतीसूत्र में वैश्रमण के प्रति पुत्र के समान आज्ञाकारी १३ यक्षों की सूची दी है।[१४] ये पुन्नभद्द, मणिभद्द, शालिभद्द, सुमणभद्द, चक्क, रक्ख, पुण्णरक्ख, सव्वन, सव्वजस, समिध्ध, अमोत, असंग और सव्वकाम हैं। तत्वार्थसूत्र[१५] में भी जिन १३ यक्षों के नाम हैं वे पूर्णभद्र, मणिभद्र, सुमनोभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष एवं यक्षोतम हैं।

जैन आगमों में विभिन्न चैत्यों का उल्लेख आता है जहाँ अपने भ्रमण के दौरान महावीर विश्राम करते थे। इनमें दूतिपलाश, कोष्ठक, चन्द्रावतरन, पूर्णभद्रे, जम्बूक, बहुपुत्रिका, गुणशील, बहुशालक, कुण्डियायन, नन्दन, पुष्पवती, अंगमंदिर, प्राप्तकाल, शंखवन, छत्रपलाश आदि प्रमुख हैं।[१६] इनमें पूर्णभद्र, बहुपुत्रिका एवं गुणशील जैसे चैत्य निश्चित ही यक्ष चैत्य थे क्योंकि आगम ग्रन्थों में अन्यत्र इनका यक्षों के रूप में उल्लेख हुआ है।[१७]

जैन ग्रन्थों में मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षों एवं बहुपुत्रिका यक्षी को विशेष महत्त्व दिया गया है। मणिभद्र और पूर्णभद्र को व्यन्तर देवों के यक्ष वर्ग का इन्द्र बताया गया है। ऐसा उल्लेख है कि इन यक्षों ने चम्पा में महावीर के प्रति श्रद्धा व्यक्त की थी।[१८] अंतगड्दसाओ[१९] और औपपातिकसूत्र[२०] में चम्पानगर के पुण्णभद्द (पूर्णभद्र) चैत्य का, पिण्डनिर्युक्ति[२१] में सम्मिलनगर के बाहर मणिभद्र यक्ष के आयतन तथा पउमचरिय[२२] में पूर्णभद्र और मणिभद्र यक्षों का शान्तिनाथ के सेवक के रूप में उल्लेख है। इसी प्रकार भगवतीसूत्र में विशला (उज्जैन या वैशाली) के समीप स्थित बहुपुत्रिका के मंदिर का उल्लेख है।[२३] इस ग्रन्थ में

बहुपुत्रिका को मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षेन्द्रों की चार प्रमुख रानियों में एक बताया गया है।[२४] यू० पी० शाह के अनुसार जैन देवकुल के प्राचीनतम यक्ष-यक्षी, सर्वानुभूति (या मातंग या गोमेध) और अंबिका की कल्पना निश्चित रूप से मणिभद्र-पूर्णभद्र यक्ष और बहुपुत्रिका यक्षी के पूजन की प्राचीन परम्परा पर आधारित है।[२५]

कल्पसूत्र एवं पउमचरिय जैसे प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में २४ यक्ष-यक्षियों में से किसी का उल्लेख नहीं मिलता। छठी-सातवीं शती ई० के टीका, निर्युक्ति एवं चूर्णि ग्रन्थों में भी इनका कोई उल्लेख नहीं है।[२६]

ल० आठवीं-नवीं शती ई० में २४ यक्ष-यक्षी युगलों की सूची नियत हुयी। प्रारम्भिक सूचियाँ कहावली (श्वेताम्बर),[२७] तिलोयपण्णत्ति[२८] (दिगम्बर) एवं प्रवचनसारोद्धार[२९] (श्वेताम्बर) में मिलती हैं। कृष्ण वर्ण वाले यक्षों की ध्वजा पर वट वृक्ष अंकित होता था। सुन्दर अंगों व सौम्यरूप वाले किरीट मुकुट व अन्य आभूषण धारण करते थे।[३०] दोनों ही परम्पराओं में पूर्णभद्र व मणिभद्र को इनका यक्षेन्द्र माना गया है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार प्रत्येक इन्द्र की तारा, बहुपुत्रा, कुण्डा एवं उत्तमा नामक चार रानियाँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा और तारका नाम से जाना जाता है।[३१]

ल० छठी शती ई० में जिनों के साथ यक्ष-यक्षी युगलों (शासन-देवताओं) को सम्बद्ध करने की धारणा का विकास हुआ।[३२] यक्ष-यक्षी युगल से युक्त प्राचीनतम जिन मूर्ति छठी शती ई० की है।[३३] ल० आठवीं-नवीं शती ई० तक २४ जिनों के स्वतंत्र यक्ष-यक्षी युगलों की सूची निर्धारित हो गयी।[३४] २४ यक्ष-यक्षी युगलों की स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ ११वीं-१२वीं शती ई० में निर्धारित हुईं जिनका उल्लेख निर्वाणकलिका, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र एवं प्रतिष्ठासारसंग्रह में मिलता है। इन ग्रन्थों में उल्लखित यक्ष-यक्षी के नामों एवं प्रारम्भिक सूची के नामों में कई स्थल पर भिन्नता है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर व श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी इनके नामों व लाक्षणिक विशेषताओं में पर्याप्त अन्तर मिलता है।[३५]

सर्वप्रथम निर्वाणकलिका (११वीं-१२वीं शती ई०) में २४ यक्ष-यक्षी युगलों की स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ विवेचित हुईं। इसके अतिरिक्त त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (श्वेताम्बर, १२वीं शती ई०), प्रवचनसारोद्धार पर सिद्धसेनसूरि की टीका (श्वेताम्बर) एवं प्रतिष्ठासारसंग्रह

(दिगम्बर) में भी २४ यक्ष-यक्षी की लाक्षणिक विशेषताओं का उल्लेख है।[३६] १२वीं शती ई० के बाद कई अन्य ग्रन्थों में २४ यक्ष-यक्षी युगलों के प्रतिमानिरूपण से सम्बन्धित उल्लेख मिलते हैं, जिनमें पद्मानन्दमहाकाव्य (या चतुर्विंशति जिनचरित्र, श्वेताम्बर, १२४१ ई०), मन्त्राधिराजकल्प (श्वेताम्बर, १२वीं-१३वीं शती ई०), आचारदिनकर (श्वेताम्बर, १४११ ई०), प्रतिष्ठासारोद्धार (दिगम्बर, १२७८ ई०) एवं प्रतिष्ठातिलकम् (नेमिचन्द्र संहिता या अर्हत् प्रतिष्ठासारसंग्रह, दिगम्बर, १५४३ ई०) प्रमुख हैं।[३७]

कुछ जैनेतर ग्रन्थों जैसे—अपराजितपृच्छा (दिगम्बर परम्परा पर आधारित, ल० १३वीं शती ई०) एवं रूपमण्डन व देवतामूर्तिप्रकरण, (श्वेताम्बर परम्परा पर आधारित, ल० १५वीं शती ई०) में भी २४ यक्ष एवं यक्षियों की लाक्षणिक विशेषताओं का निरूपण मिलता है।[३८] उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर २४ यक्ष-यक्षी की सूची इस प्रकार है।

२४ यक्ष—गोमुख, महायज्ञ, त्रिमुख, यक्षेश्वर (या ईश्वर),[३९] तुम्बरु (या तुम्बर), कुसुम (या पुष्प), मातंग (या वरनन्दि), विजय (श्याम दिगम्बर), अजित, ब्रह्म, ईश्वर, कुमार, षण्मुख (चतुर्मुख-दिगम्बर), पाताल, किन्नर, गरुड, गन्धर्व, यक्षेन्द्र (रविन्द्र-दिगम्बर), कुबेर (या यक्षेश), वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व[४०] (धरण-दिगम्बर) एवं मातंग।

२४ यक्षियाँ—चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा), अजिता (रोहिणी-दिगम्बर), दुरितारी (प्रज्ञप्ति-दिगम्बर), कालिका[४१] (वज्रशृंखला-दिगम्बर), महाकाली (पुरुषदत्ता-दिगम्बर), अच्युता (मनोवेगा-दिगम्बर), शान्ता (काली-दिगम्बर),भृकुटि (ज्वालामालिनी-दिगम्बर), सुतारा (महाकाली-दिगम्बर), अशोका (मानवी-दिगम्बर), मानवी (गौरी-दिगम्बर), चण्डा (गान्धारी-दिगम्बर), विदिता (वैरोटी-दिगम्बर), अंकुश (अनन्तमती-दिगम्बर), कन्दर्पा (मानसी), निर्वाणी (महामानसी-दिगम्बर), बला (जया-दिगम्बर), धारणी (तारावती-दिगम्बर), वैरोट्या (अपराजिता-दिगम्बर), नरदत्ता (बहुरुपिणी-दिगम्बर), गान्धारी (चामुण्डा-दिगम्बर), अंबिका (या आम्रा या कुष्माण्डिनी), पद्मावती एवं सिद्धायिका (या सिद्धायिनी) २४ यक्षियाँ हैं।[४२]

यह सर्वथा आश्चर्य का विषय है कि जिनसेन व गुणभद्रकृत

महापुराण में २४ यक्ष-यक्षी युगलों के नामों या लाक्षणिक विशेषताओं का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। केवल कुछ स्थानों पर तीर्थंकरों के समीप चामर डुलाते एवं बलभद्र व नारायण आदि के रक्षक के रूप में यक्षों का उल्लेख मिलता है। नवीं-दसवीं शती ई० अर्थात् जैन महापुराण के रचनाकाल के समय तक २४ तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी की सूची श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में नियत हो चुकी थी। दिगम्बर सूची विस्तार में तिलोयपण्णत्ति में वर्णित है। यक्ष-यक्षी की सूची के साथ ही चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती जैसी यक्षियों एवं कुबेर या सर्वानुभूति और धरणेन्द्र यक्षों की लाक्षणिक विशेषताएँ भी निर्धारित हो चुकी थीं। तदनुरूप मथुरा, देवगढ़, खजुराहो, अकोटा, धांक, ओसियाँ जैसे स्थलों पर उपर्युक्त यक्ष और यक्षियों की मूर्त अभिव्यक्ति भी दी गयी। ज्ञातव्य है कि यक्षों की अपेक्षा यक्षियों का अंकन और उनकी पूजा जैन परम्परा में अधिक लोकप्रिय थी। २४ यक्षियों के सामूहिक अंकन का प्रारम्भिकतम उदाहरण देवगढ़ (ललितपुर, उ० प्र०) के शान्तिनाथ मन्दिर (मन्दिर सं० १२-८६२ ई०) की भित्ति पर देखा जा सकता है। यहाँ केवल चक्रेश्वरी, अंबिका और पद्मावती ही स्वतन्त्र लक्षणों वाली निरूपित हैं जबकि अन्य यक्षियों के निरूपण में स्पष्टतः पूर्ववर्ती विद्यादेवियों के लक्षणों का प्रभाव दिखायी देता है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में जैन महापुराण में यक्ष-यक्षी के सन्दर्भों का अभाव कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है, विशेषतः एलोरा की समकालीन जैन गुफाओं में चक्रेश्वरी, अंबिका, पद्मावती, यक्षियों तथा कुबेर यक्ष की स्वतन्त्र एवं जिन-संयुक्त मूर्तियों की उपलब्धता के सन्दर्भ में।

जैन शिल्प में ल० दसवीं शती ई० से जिन मूर्ति के साथ पारम्परिक एवं स्वतन्त्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण आरंभ हो गया। इसके उदाहरण मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश में देवगढ़, मथुरा, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, ग्यारसपुर, खजुराहो एवं कुछ अन्य स्थलों से प्राप्त होते हैं। ल० ९वीं शती ई० के अन्त तक सर्वानुभूति यक्ष एवं अंबिका यक्षी का अंकन ही सर्वाधिक लोकप्रिय था जिन्हें सभी तीर्थंकरों के साथ रूपायित किया गया है।[४३]

यक्ष एवं यक्षी की आकृतियाँ जिन मूर्तियों के सिंहासन या सामान्य पीठिका पर क्रमशः दाहिने और बायें छोर पर अंकित होती हैं। सामान्यतया ललितमुद्रा में किन्तु कभी-कभी इन्हें ध्यानमुद्रा में आसीन और

स्थानकमुद्रा में खड़ा भी दिखलाया गया है। ६ठी शती ई० से ही यक्ष-यक्षियों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी मिलने लगती हैं।[४४]

यक्ष एवं यक्षी के उत्कीर्णन की दृष्टि से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग स्थिति रही है जिसका संक्षेप में विश्लेषण निम्नवत् है।[४५]

गुजरात-राजस्थान :

इस क्षेत्र में श्वेताम्बर स्थलों पर महाविद्याओं की लोकप्रियता के कारण यक्ष एवं यक्षियों की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम बनीं। सर्वाधिक उदाहरणों में यक्षी अंबिका हैं। अंबिका के अतिरिक्त चक्रेश्वरी, पद्मावती (कुम्भारिया, विमलवसही) एवं सिद्धायिका की भी मूर्तियाँ मिली हैं। यक्षों में केवल वरुण, सर्वानुभूति, गोमुख एवं पार्श्व की ही मूर्तियाँ मिली हैं। इस क्षेत्र में सर्वानुभूति एवं अंबिका सर्वाधिक लोकप्रिय यक्ष-यक्षी युगल थे जिन्हें सभी जिनों के साथ निरूपित किया गया। केवल कुछ ही उदाहरणों में ऋषभ (गोमुख-चक्रेश्वरी), पार्श्व (पार्श्व या धरणेन्द्र-पद्मावती) एवं महावीर (मातंग-सिद्धायिका) के साथ पारम्परिक व स्वतन्त्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी आमूर्तित हैं। दिगम्बर जिन मूर्तियों में स्वतन्त्र लक्षणों वाले पारम्परिक यक्ष और यक्षियों के चित्रण अधिक लोकप्रिय थे।[४६]

उत्तर प्रदेश-मध्य प्रदेश :

इस क्षेत्र में ल० ७वीं-८वीं शती ई० में जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षियों का अंकन प्रारम्भ हुआ। इस क्षेत्र की १०वीं शती से १२वीं शती ई० के मध्य की जिन मूर्तियों में अधिकांशतः पारम्परिक या स्वतन्त्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी निरूपित हैं। ऋषभ, नेमि एवं पार्श्व के साथ पारम्परिक यक्ष-यक्षी एवं सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, शान्ति एवं महावीर के साथ कभी-कभी स्वतन्त्र लक्षणों वाले किन्तु अपारम्परिक यक्ष-यक्षी आमूर्तित हैं। अन्य जिनों के साथ अधिकांशतः सामान्य लक्षणों वाले द्विभुज यक्ष-यक्षी निरूपित हैं। सामान्य लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी के हाथों में अभय (या वरद)-मुद्रा और कलश (या फल या पुष्प) प्रदर्शित हैं। इस क्षेत्र में अंबिका की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त रोहिणी,[४७] पद्मावती[४८] एवं सिद्धायिका[४९] की कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यक्षों में केवल सर्वानुभूति एवं धरणेन्द्र की ही कुछ स्वतन्त्र मूर्तियाँ मिली हैं।[५०]

बिहार-उड़ीसा-बंगाल :

इस क्षेत्र में यक्ष-यक्षी युगलों के चित्रण की परम्परा अधिक लोकप्रिय नहीं थी। केवल दो उदाहरणों में यक्ष-यक्षी निरूपित हैं।[५१] उड़ीसा में नवमुनि एवं बारभुजी गुफाओं [११वीं-१२वीं शती ई०] की क्रमशः सात और २४ जिन मूर्तियों में, जिनों के नीचे उनकी यक्षियाँ निरूपित हैं। इस क्षेत्र से चक्रेश्वरी व अंबिका की कुछ स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी मिली हैं।[५२]

ऐसा प्रतीत होता है कि यक्ष-यक्षी की सूची और उनके लक्षण पूर्व-परम्परा में ज्ञात होने के बाद भी किसी विशेष कारण से महापुराण में अनुल्लखित रहे। ६३ शलाकापुरुषों से सम्बन्धित दिगम्बर पुराणों में जहाँ २४ यक्ष-यक्षी का कोई उल्लेख नहीं मिलता है वहीं श्वेताम्बर परम्परा के ६३ शलाकापुरुषों से सम्बन्धित चरित ग्रन्थों में यक्ष-यक्षी युगलों के प्रतिमानिरूपण से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं, उदाहरण के लिये हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और अमरचन्द्रसूरिकृत पद्मानन्दमहाकाव्य देखे जा सकते हैं।

यद्यपि आदिपुराण या उत्तरपुराण में यक्ष-यक्षी का उल्लेख नहीं है किन्तु एलोरा की जैन गुफाओं में जैन देवकुल की तीन प्रमुख यक्षियों-चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावती एवं कुबेर (या सर्वाण्ह) यक्ष की मूर्तियाँ मिली हैं जो तत्कालीन शिल्प परम्परा के अनुरूप हैं। एलोरा की जैन यक्ष-यक्षी मूर्तियों का स्वतन्त्र उल्लेख यहाँ अपेक्षित है।

चक्रेश्वरी :

चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा) प्रथम तीर्थंकर व ऋषभनाथ की यक्षी हैं जिनके निरूपण में स्पष्टतः ब्राह्मण धर्म की वैष्णवी का प्रभाव देखा जा सकता है। दिगम्बर परम्परा में चक्रेश्वरी को चार और बारह भुजाओं वाला बताया गया है। गरुडवाहना चतुर्भुजा यक्षी के दो हाथों में चक्र और शेष दो में मातुलिंग व वरदमुद्रा का उल्लेख हुआ है। १२ हाथों वाली देवी के आठ हाथों में चक्र, दो में वज्र और दो में मातुलिंग एवं वरदमुद्रा का उल्लेख है।[५३] देवगढ़ की चतुर्भुजा चक्रेश्वरी मूर्ति के चारों हाथों में चक्र और ऐसे ही मथुरा से प्राप्त १०वीं शती ई० की दस हाथों वाली मूर्ति (मथुरा संग्रहालय डी०-६) में यक्षी के सभी हाथों में चक्र देखा जा सकता है। शास्त्रीय विवरण के अनुसार गरुडवाहना देवी के हाथों में चक्र के अतिरिक्त गदा, पद्म और शंख

देवगढ़, खजुराहो एवं मथुरा आदि स्थलों की मूर्तियों में देखे जा सकते हैं।

एलोरा में चक्रेश्वरी की कुल चार मूर्तियाँ हैं जो स्वतन्त्र मूर्तियों के रूप में उत्कीर्ण हैं। ये मूर्तियाँ गुफा सं० ३० और ३२ में हैं। गुफा सं० ३० की अष्टभुजा यक्षी ध्यानमुद्रा में विराजमान है और उसके अवशिष्ट करों में से तीन में चक्र (छल्ले के रूप में), वज्र और शंख हैं जबकि दो हाथों से वरद और अभयमुद्रा व्यक्त है। करण्डमुकुट से शोभित चक्रेश्वरी के शीर्ष भाग में ऋषभनाथ की लघु मूर्ति भी उत्कीर्ण है। गुफा सं० ३० की दूसरी मूर्ति प्रवेश-द्वार के समीप उत्कीर्ण है। इस उदाहरण में बारह हाथों वाली चक्रेश्वरी ध्यानमुद्रा में गरुड (मानवदेहधारी) पर आसीन है। यक्षी के पाँच दक्षिण कर खंडित हैं जबकि एक में खड्ग है। वाम करों में दो में चक्र तथा तीन में पद्म, शंख और गदा स्पष्ट हैं। शीर्ष भाग में पूर्ववत् तीर्थंकर आकृति उकेरी है। एलोरा की गुफा सं० ३२ के एक उदाहरण में चतुर्भुज चक्रेश्वरी ध्यानमुद्रा में बैठी हैं और उनके अवशिष्ट करों में चक्र और वज्र स्पष्ट हैं। दूसरी मूर्ति प्रथम तल के मण्डप में उकेरी है। इस उदाहरण में केवल एक हाथ में वज्र ही स्पष्ट है।

अम्बिका :

अम्बिका २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी है जिसका विकास मातृपूजन की प्राचीन परम्परा और जैन परम्परा की बहुपुत्रिका यक्षी से हुआ। दिगम्बर परम्परा में सिंहवाहना अम्बिका (या कुष्माण्डिनी) को दो और चार हाथों वाला निरूपित किया गया है। किन्तु लक्षण केवल दो हाथों के ही वर्णित हैं। उल्लेखनीय है कि खजुराहो, देवगढ़, मथुरा एवं देलवाड़ा की कुछ चतुर्भुजी मूर्तियों को छोड़कर अम्बिका को सर्वदा द्विभुजा ही निरूपित किया गया है। दिगम्बर ग्रन्थों के वर्णन के अनुरूप अम्बिका के एक हाथ में आम्रलुम्बि और दूसरे में पुत्र (प्रियंकर– गोद में आसीन) दिखाया गया है (चित्र सं० २३, २४, २५)। अम्बिका का दूसरा पुत्र (शुभंकर) भी देवी के समीप ही आमूर्तित हुआ है।[५४]

एलोरा में यक्षियों में सर्वाधिक मूर्तियाँ अम्बिका की ही मिली हैं जिनके कुल १८ उदाहरण प्राप्त हुए हैं (चित्र सं० २८)। इनमें अम्बिका की स्वतन्त्र मूर्तियों के साथ ही जिन-संयुक्त मूर्तियाँ भी हैं। इनमें

अम्बिका को नेमिनाथ के अतिरिक्त महावीर और पार्श्वनाथ की यक्षी के रूप में भी आमूर्तित किया गया है। गुफा सं० ३० और ३१ में एक-एक, गुफा सं० ३२ में १२ एवं गुफा सं० ३३ और ३४ में क्रमशः दो-दो मूर्तियाँ उकेरी हैं। सभी उदाहरणों में मनोहारी रूपराशि एवं अलंकरणों वाली अम्बिका को द्विभुजा और ललितासीन दिखाया गया है। इकहरे बदन-वाली अम्बिका की शरीर रचना पूरी तरह अनुपातिक, मृदु एवं संयत है। धम्मिल्ल के रूप में बनी उनकी केशरचना भी चित्ताकर्षक है। आम्रवृक्ष के नीचे आसीन अम्बिका के दाहिने हाथ में आम्रलुम्बि है जबकि बायें हाथ से उन्हें गोद में आसीन पुत्र को पकड़े दिखाया गया है। देवी के समीप ही दूसरा पुत्र भी देखा जा सकता है। गुफा सं० ३१ और ३२ की कुछ मूर्तियों में देवी के समीप यज्ञोपवीत एवं श्मश्रु से युक्त साधु की आकृति भी उकेरी है जिसे अम्बिका के पूर्व जन्म की कथा से सन्दर्भित ब्राह्मण पति (सोम) का अंकन माना जा सकता है। कुछ उदाहरणों में इस आकृति को छत्र लिये हुए दिखाया गया है। इस प्रकार एलोरा में अन्यत्र की भाँति अम्बिका के निरूपण में दिगम्बर शिल्पशास्त्रीय परम्परा का पालन किया गया है जिसमें लक्षण की दृष्टि से एकरूपता दिखायी देती है।

पद्मावती :

पद्मावती पार्श्वनाथ की यक्षी है। दिगम्बर परम्परा में पद्मावती को चार, छह या चौबीस हाथों वाला बताया गया है। देवी या तो पद्मवाहना या कुक्कुट (या कुक्कुट-सर्प) पर आरूढ़ निरूपित हैं। चतुर्भुजा यक्षी के तीन हाथों में अंकुश, अक्षसूत्र एवं पद्म तथा षड्भुजा यक्षी के हाथों में खड्ग, शूल, गदा और मुसल का उल्लेख मिलता है। २४ हाथों वाली यक्षी के करों में शंख, खड्ग, चक्र, अर्ध-चन्द्र (बालेन्दु), पद्म, उत्पल, धनुष (शरासन), शक्ति, पाश, अंकुश, घण्टा, बाण, मुसल, खेटक, त्रिशूल, परशु, कुन्त, भिण्ड, माला, फल, गदा, पत्र, पल्लव एवं वरदमुद्रा के प्रदर्शन का निर्देश है।[५५]

पार्श्वनाथ की मूर्तियों में पद्मावती को अधिकांशतः वाम या दक्षिण पार्श्व में एक लम्बे छत्र से युक्त दिखाया गया है जिसका छत्र भाग पार्श्वनाथ के सिर पर छाया करता हुआ रहता है (चित्र ११–१५, १७)। देवगढ़, मथुरा एवं खजुराहो की दिगम्बर मूर्तियों में पार्श्ववर्ती छत्रधारिणी पद्मावती के अतिरिक्त सिंहासन छोरों पर भी धरणेन्द्र और

पद्मावती की आकृतियाँ उकेरी हैं जिनमें सर्पफणों के छत्र वाली पद्मावती के हाथो में सर्प के अतिरिक्त पद्म, अंकुश, पाश जैसे आयुध प्रदर्शित हैं और वाहन के रूप में कुक्कुट सर्प का अंकन हुआ है जो दिगम्बर ग्रन्थों के विवरणों के अनुरूप है।[५६] ज्ञातव्य है कि उत्तर और दक्षिण भारत में पद्मावती सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियों में एक रही हैं।

एलोरा में तीर्थंकरों में पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ (३०) मिली हैं। अतः स्वाभाविक रूप से यहाँ पद्मावती की सर्वाधिक मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियों में परम्परानुरूप छत्र-धारिणी पद्मावती की मनोज्ञ आकृतियाँ उकेरी हैं (चित्र ११–१६)। साथ ही पद्मावती की एक स्वतंत्र मूर्ति एलोरा की गुफा सं० ३२ में उत्कीर्ण है। यह मूर्ति इन्द्र सभा के पूर्वी मण्डप में उकेरी है। आठ हाथों वाली यक्षी समभंग में द्विपद्मासन पर खड़ी हैं जिसके नीचे कुक्कुट-सर्प स्पष्टतः देखा जा सकता है। देवी के अवशिष्ट करों में पद्म, मुसल, खड्ग, खेटक और धनुष स्पष्ट हैं। यक्षी के शीर्ष भाग में पार्श्वनाथ की छोटी आकृति भी उकेरी है।

कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष :

२२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष के रूप में प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों में त्रिमुख एवं षड्भुज गोमेध यक्ष का उल्लेख हुआ है जिसका वाहन नर या पुष्प बताया गया है। किन्तु मूर्त अंकनों में नेमिनाथ के साथ सर्वदा धन के थैले से युक्त कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष को आमूर्तित किया गया है। दिगम्बर परम्परा में गोमेध के हाथों में मुद्गर (या धन का थैला या नकुल), परशु, दण्ड, फल, वज्र एवं वरदमुद्रा के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।[५७] किन्तु देवगढ़, खजुराहो, कुंभारिया एवं देलवाड़ा के स्वतन्त्र एवं जिन संयुक्त उदाहरणों में गजारूढ़ यक्ष को सामान्यतः द्विभुज और धन के थैले एवं फल से युक्त निरूपित किया गया है। श्वेताम्बर स्थलों की चतुर्भुज मूर्तियों में दो अतिरिक्त हाथों में पाश और अंकुश भी प्रदर्शित हैं।

एलोरा में कुबेर यक्ष की १० से अधिक स्वतन्त्र एवं जिन-संयुक्त मूर्तियाँ मिली हैं। जिन-संयुक्त मूर्तियों में नेमिनाथ के अतिरिक्त पार्श्वनाथ एवं महावीर की मूर्तियों में भी कुबेर यक्ष आकारित हुए हैं। एलोरा की गुफा सं० ३१ में एक, गुफा सं० ३२ में सात और गुफा सं० ३३ एवं ३४ में दो मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सभी उदाहरणों में गजारूढ़ यक्ष को धटोदर

और द्विभुज तथा मुकुट आदि से सज्जित दिखाया गया है। कुबेर के करों में पात्र (या फल) एवं धन का थैला प्रदर्शित हैं। अधिकांश उदाहरणों में कुबेर के आयुध खण्डित हैं। गुफा सं० ३२ के प्रथमतल के मण्डप की मूर्ति में शीर्ष भाग में लघु जिन आकृति एवं पार्श्वों में गदा और धन का थैला लिए दो सेवक आकृतियाँ भी रूपायित हैं।

विद्यादेवियां :

विद्याओं के नामों एवं लाक्षणिक स्वरूपों की चर्चा प्रारम्भिक ग्रन्थों में मिलती है। किन्तु जैन शिल्प में इनका अंकन ८वीं-९वीं शती ई० से ही प्राप्त होता है। आगम ग्रन्थों में विद्याओं का आचरण जैन आचार्यों के लिये वर्जित था, परन्तु कालान्तर में विद्यादेवियाँ जैन ग्रन्थ एवं शिल्प की सर्वाधिक लोकप्रिय विषयवस्तु बन गयीं। जैन परम्परा में इन विद्याओं की संख्या ४८ हजार तक बतायी गयी है।[५८]

बौद्ध एवं जैन साहित्य बुद्ध एवं महावीर के समय में जादू, चमत्कार, मन्त्रों एवं विद्याओं का उल्लेख करते हैं।[५९] औपपातिकसूत्र के अनुसार महावीर के अनुयायी थेरों (स्थविरों) को विज्जा (विद्या) और मंत (मन्त्र) का ज्ञान था।[६०] इसी प्रकार नायाधम्मकहाओ में भी महावीर के प्रमुख शिष्य सुधर्मा को मन्त्र एवं विद्या का ज्ञाता बताया गया है।[६१] स्थानांगसूत्र[६२] में जांगोलि एवं मातंग तथा सूत्रकृतांगसूत्र[६३] में वैताली, अर्धवैताली, अवस्वपनी, तालुध्धादणी, श्वापाकी, सोवारी, कलिंगी, गौरी, गान्धारी, अवेदनी, उत्पतनी एवं स्तंभिनी आदि विद्याओं के उल्लेख हैं। इनमें से गौरी एवं गान्धारी को कालान्तर में १६ महा-विद्याओं की सूची में सम्मिलित किया गया।

पउमचरिय विद्यादेवियों के प्रारम्भिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न स्थलों पर प्रज्ञप्ति, कौमारी, लघिमा, वज्रोदरी, वरुणी, विजया, जया, वाराही, कौबेरी, योगेश्वरी, चण्डाली, शंकरी, बहुरूपा तथा सर्वकामा विद्याओं का नामोल्लेख हुआ है।[६४] एक स्थल पर महालोचन देव द्वारा पद्म (राम) को सिंहवाहिनी एवं लक्ष्मण को गरुडाविद्या दिये जाने का उल्लेख आया है[६५] जिनसे कालान्तर में गरुडवाहिनी, अप्रतिचक्रा और सिंहवाहिनी, महामानसी महाविद्याओं की धारणा का विकास हुआ। एक स्थल पर ऋषभदेव के पौत्र नमि और विनमि को धरणेन्द्र द्वारा बल एवं समृद्धि की अनेक विद्याएँ प्रदान किये जाने का भी उल्लेख है।[६६] इस ग्रन्थ में राम, लक्ष्मण,

रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण आदि द्वारा अनेक प्रकार की विद्याओं को सिद्ध करने की भी चर्चा मिलती है। एक अन्य स्थल पर रावण द्वारा शान्तिनाथ के मन्दिर में बहुरूपा (या बहुरूपिणी) महाविद्या को सिद्ध करने एवं इस विद्या द्वारा रावण के त्रिलोक साध्य होने का उल्लेख हुआ है।[६७] पउमचरिय में एक स्थल पर रावण द्वारा सिद्ध अनेक विद्याओं में से ५५ विद्याओं की सूची भी दी गयी है।[६८]

पउमचरिय में उल्लिखित विद्यादेवियों का कालान्तर में ल० ८वीं-९वीं शती ई० में १६ महाविद्याओं की सूची के निर्धारण की दृष्टि से विशेष महत्त्व रहा है। उल्लेखनीय है कि जैनधर्म में विद्यादेवियों की कल्पना यक्ष-यक्षी युगलों (या शासन देवताओं) से प्राचीन है। इसी कारण दिगम्बर परम्परा के २४ यक्षियों में अधिकांश जैसे—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, पुरुषदत्ता, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, वैरोट्या, मानसी एवं महामानसी यक्षियों के नाम पूर्ववर्ती महाविद्याओं के नामों से प्रभावित हैं।[६९] इसके अतिरिक्त पउमचरिय की विद्यादेवियों की सूची में प्रज्ञप्ति, गरुड, सिंहवाहिनी, दहनीय (या अग्निस्तंभनी), शंकरी, योगेश्वरी, भुजंगिनी, सर्वरोहिणी, वज्रोदयी जैसे नाम ऐसे हैं जिन्हें कालान्तर में १६ महाविद्याओं की सूची में या तो उसी रूप में या थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया गया।[७०]

विद्यादेवियों से सम्बन्धित अनेक उल्लेख वसुदेवहिण्डी (ल० छठी शती ई०), आवयकचूर्णि (ल० ६७७ ई०), आवश्यकनिर्युक्ति (८वीं शती ई०), हरिवंशपुराण, चउपन्नमहापुरिसचरियम् (८६८ ई०) एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में मिलते हैं। हरिवंशपुराण[७१] एवं त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र[७२] में उल्लेख है कि धरण ने नमि और विनमि को विद्याधरों पर स्वामित्व और ४८ हजार विद्याओं का वरदान दिया। हरिवंशपुराण में प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अंगारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्या-प्रकर्षिणी, महाश्वेता, मायूरी, हारी, निर्वज्रशाङ्वला, तिरस्कारिणी, छायासंक्रामिणी, कुष्माण्ड, गणमाता, सर्वविद्याविराजिता, आर्यकूष्माण्ड देवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निर्वृत्ति, दण्डाध्यक्षगण, दण्ड-भूत-सहस्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली एवं कालमुखी आदि विद्याओं के नामोल्लेख हुए हैं।[७३]

वसुदेवहिण्डी में विद्याओं को गन्धर्वों एवं पन्नगों से सम्बद्ध बताया गया है और महारोहिणी, प्रज्ञप्ति, गौरी, महाज्वाला, बहुरूपा,

विद्युन्मुखी एवं वेयाल आदि विद्याओं का उल्लेख किया गया है। आवश्यकचूर्णि एवं आवश्यकनिर्युक्ति में गौरी, गान्धारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति का प्रमुख विद्याओं के रूप में उल्लेख है।[७४] पद्मचरित (रविषेणकृत–६७६ ई०) में भी नमि-विनमि की कथा एवं प्रज्ञप्ति विद्या का उल्लेख है। चतुर्विंशतिका (बप्पभट्टिसूरिकृत–७४३-८३८ ई०) में २४ जिनों के साथ २४ यक्षियों के स्थान पर महाविद्याओं[७५] वाग्देवी एवं कुछ यक्षियों तथा अन्य देवों के उल्लेख हैं।

गुणभद्रकृत उत्तरपुराण में प्रज्ञप्ति, कामरूपिणी, अग्निस्तम्भिनी, उदकस्तम्भिनी, विश्वप्रवेशिनी, अप्रतिघातगामिनी, आकाशगामिनी, उत्पादिनी, वशीकरणी, दशमी, आवेशनी, माननीयप्रस्थापिनी, प्रमोहिनी, प्रहरणी, संक्रामणी, आवर्तनी, संग्रहणी, अंजनी, विपाटिनी, प्रावर्तनी, प्रमोदिनी, प्रहापणी, प्रभावती, प्रलापिनी, निक्षेपणी, शर्बरी, चाण्डाली, मातंगी, गौरी, षडंगिका, श्रीमत्कन्या, शतसंकुला, कुभाण्डी, विरलबेगिका, रोहिणी, मनोवेगा, चण्डवेगा, चपलवेगा, लघुकरी, पर्णलघु, बेगावती, शीतदा, उष्णदा, बेताली, महाज्वाला, सर्वविद्याछेदिनी, युद्धवीर्या, बन्धमोचनी, प्रहारावरणी, भ्रामरी तथा अभोगिनी विद्याओं के नामोल्लेख हैं।[७६]

उत्तरपुराण में ही एक अन्य स्थल पर लक्ष्मण द्वारा सात दिनों तक निराहार व्रत रखकर जगत्पाद पर्वत पर प्रज्ञप्ति नामक विद्या की सिद्धि का उल्लेख आया है।[७७] एक अन्य स्थल पर उल्लेख है कि हनुमान ने अपनी महाज्वाला नामक विद्या से रावण की लंका नगरी के रक्षकों व सेना को भस्म कर दिया।[७८] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर सुग्रीव व हनुमान द्वारा गरुडवाहिनी, सिंहवाहिनी, बन्धमोचिनी और हननवरणी नामक चार विद्याएँ राम व लक्ष्मण को दिये जाने का भी उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।[७९] सिंहवाहिनी व गरुडवाहिनी विद्याओं द्वारा निर्मित आकाशगामी सिंह तथा गरुड पर आरूढ़ होकर राम और लक्ष्मण रावण से युद्ध करने के लिये उद्यत हुए।[८०]

महापुराण (पुष्पदन्तकृत–१०वीं शती ई०) एवं उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) में उल्लखित उपरोक्त विद्याओं के अतिरिक्त जलस्तम्भिनी, बन्धिनी, अन्धीकरिणी, प्रहारावरणी, आवेशिनी, अप्रतिगामिनी, विविधप्रलयिनी, पाशविमोचिनी, ग्रहनिरोधिनी, बलनिक्षेपिणी, चण्डप्रभाविनी, मोहिनी, जम्भनी, पातनी, प्रभावती, प्रविरलगति,

भीमावर्तनी, प्रबलप्रवर्तनी, लघुकारिणी, भूमिविदारणी, अग्निवेगा, बहुलेपिनी, शत्रुनिवारिणी, अक्षरसंकुला, दुष्टगलशृंखला, मायाबह्नी, पर्णलघ्वी, हिमवेताली, शिखीवेताली, चलचाण्डाली एवं भ्रमरश्यामांगी नामक विद्याओं के भी उल्लेख मिलते है।[८१]

१६ महाविद्याओं की सूची ल० ९वीं शती ई० के अन्त तक निश्चित हुई। इनमें अधिकांशत: पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उल्लखित विद्याएँ ही सम्मिलित हैं। तिजयपहुत्त (मानवदेवसूरिकृत–९वीं शती ई०), संहितासार (इन्द्रनन्दिकृत–९३९ ई०) एवं स्तुतिचतुर्विंशतिका (या शोभनस्तुति-शोभनमुनिकृत–ल० ९७३ ई०) में १६ महाविद्याओं की प्रारम्भिक सूची वर्णित है जिसे बाद में उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है।[८२] १६ महाविद्याओं की अन्तिम सूची में निम्नलिखित नाम हैं—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा, जाम्बुनदा–दिगम्बर), नरदत्ता (या पुरुषदत्ता), काली (या कालिका), महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्र–महाज्वाला (या ज्वाला, ज्वाला-मालिनी–दिगम्बर), मानवी, वैरोट्या (वैरोटी–दिगम्बर), अच्छुप्ता (अच्युता–दिगम्बर), मानसी एवं महामानसी।[८३] ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत सूची की रोहिणी, प्रज्ञप्ति, गरुडवाहना (अप्रतिचक्रा), सिंहवाहिनी (महामानसी), महाज्वाला, गौरी, मनोवेगा, महाविद्याओं के नामोल्लेख उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) में मिलते हैं। किन्तु उत्तरपुराण में इन विद्याओं के लक्षणों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। केवल गरुडवाहना और सिंहवाहिनी के रूप में अप्रतिचक्रा एवं महामानसी के वाहनों का ही संकेत दिया गया है। महाविद्याओं के लाक्षणिक स्वरूपों का निरूपण सर्वप्रथम बप्पभट्टि की चतुर्विंशतिका एवं शोभनमुनि की स्तुतिचतुर्विंशतिका में किया गया है।

जैन शिल्प में ल० ८वीं-९वीं शती ई० से महाविद्याओं का रूपायन मिलने लगता है। महाविद्याओं के स्वतन्त्र उत्कीर्णन का प्राचीनतम उदाहरण ओसियाँ (जोधपुर, राजस्थान) के महावीर मन्दिर (ल० ८वीं-९वीं शती ई०) से प्राप्त होता है। ९वीं शती ई० के बाद गुजरात एवं राजस्थान के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों पर महाविद्याओं का नियमित चित्रण मिलता है। गुजरात व राजस्थान के बाहर इनका उकेरन लोकप्रिय नहीं था।[८४] १६ महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण के उदाहरण कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर (११वीं शती ई०), विमलवसही (दो समूह : रंगमण्डप एवं देवकुलिका ४१, १२वीं

शती ई०) एवं लूणवसही (रंगमण्डप, १३३२–४० ई०) से प्राप्त होते हैं (चित्र ३२–३४)।[८५] दिगम्बर स्थलों पर महाविद्याओं के मूर्त उदाहरणों का न मिलना सर्वथा आश्चर्यजनक है। दिगम्बर स्थलों पर महाविद्याओं की मूर्तियों के अंकन की परम्परा न होने के कारण ही एलोरा की जैन गुफाओं में भी महाविद्या मूर्ति का कोई उदाहरण नहीं मिला है। दिगम्बर स्थलों पर महाविद्याओं के स्थान पर यक्षियों का अंकन लोकप्रिय था। सम्भव है तान्त्रिक देवियाँ होने के कारण ही इन्हें एलोरा एवं अन्य दिगम्बर स्थलों पर आमूर्तित नहीं किया गया।

पाद-टिप्पणी

१. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० २०५-२०६।
२. वहीं, पृ० २०५।
३. कुमारस्वामी, यक्षज, भाग–१, दिल्ली १९७१ (पु० मु०), पृ० ३६-३७।
४. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३४।
५. कुमारस्वामी, पू० नि०, पृ० ११, २८।
६. उत्तराध्ययनसूत्र ३.१४-१८।
७. हरिवंशपुराण ६६.४३-४४; प्रवचनसारोद्धार (बी० सी० भट्टाचार्य, दि जैन आइकनोग्राफी. लाहौर, १९३९, पृ० ९२)।
८. आचारदिनकर, प्रतिष्ठाकल्प, पृ० १३ (बी० सी० भट्टाचार्य, पू० नि०, पृ० ९२-९३)।
९. बी० सी० भट्टाचार्य, पु० नि०, पृ० ९३।
१०. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १५४।
११. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १५५।
१२. हरिवंशपुराण ६६.४५।
१३. आदिपुराण २३.४८; यू० पी० शाह, 'यक्षज वर्शिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', ज० ओ० ई०, खण्ड–३, अं० १, पृ० ६०-६४।
१४. भगवतीसूत्र ३.७.१६८; कुमारस्वामी, पू० नि०, पृ० १०-११।
१५. तत्त्वार्थसूत्र, सं० सुखलाल संघवी, बनारस १९५२, पृ० ११९।
१६. यू० पी० शाह, पु० नि०, पृ० ६२-६३।
१७. आगमग्रन्थों में कहीं भी महावीर द्वारा जिनमूर्ति के पूजन या जिनमंदिर में विश्राम का उल्लेख नहीं मिलता–यू० पी० शाह, 'बिगिनिंग्स ऑव जैन-आइकनोग्राफी', 'सं०पु०प०, अं० ९, पृ० २।

१८. यू० पी० शाह, 'यक्षज वर्शिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', पृ० ६०-६१; जैन रूपमण्डन, पृ० २०८।
१९. अंतगड्दसाओ, पृ० १, पा० टि० २।
२०. औपपातिक सूत्र २।
२१. पिण्डनिर्युक्ति ५.२४५।
२२. पउमचरिय ६७.२८-४९।
२३. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ६१, २०८।
२४. भगवतीसूत्र १८.२६, १०.५।
२५. यू० पी० शाह, 'यक्षज वर्शिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', पृ० ६१-६२।
२६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १५५।
२७. यू० पी० शाह, 'इन्ट्रोडक्शन ऑव शासनदेवताज इन जैन वर्शिप'। प्रो० ट्रा० ओ० का०, २०वाँ अधिवेशन, भुवनेश्वर १९५९, पृ० १४७।
२८. तिलोयपण्णत्ति ४.९३४-९३६।
२९. प्रवचनसारोद्धार ३७५-७८।
३०. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ५८।
३१. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ५८।
३२. यू० पी० शाह, 'इन्ट्रोडक्शन ऑव शासनदेवताज इन जैन वर्शिप,' प्रो० ट्रा० ओ० कां०, २०वाँ अधिवेशन १९५९, पृ० १४१-४३।
३३. यू० पी० शाह, अकोटा ब्रोन्जेज, बम्बई १९५९, पृ० २८-२९, फलक १०-११।
३४. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव चक्रेश्वरी दि यक्षी आव ऋषभनाथ', ज० ओ० इ०, खण्ड-२, अं० ३, पृ० २०६।
३५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३९, १५७।
३६. वही, पृ० १५७।
३७. वही।
३८. वही।
३९. श्वेताम्बर परम्परा में ईश्वर और यक्षेश्वर तथा दिगम्बर परम्परा में केवल यक्षेश्वर नाम से उल्लेख है।
४०. प्रवचनसारोद्धार में यक्ष का नाम वामन है।
४१. श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसे काली भी कहा गया है।
४२. श्वेताम्बर ग्रन्थों में यक्षियों के नामों में भिन्नता है जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में इनके नामों में एकरूपता है।

४३. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० २१३ ।
४४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १५५ ।
४५. यक्ष-यक्षी मूर्तियों का क्षेत्रीय आधार पर वर्णन मुख्यतः मारुतिनन्दन तिवारी की पुस्तक जैन प्रतिमाविज्ञान (पृ० १५९-६०) पर आधारित है ।
४६. वही, पृ० १५९ ।
४७. देवगढ़ एवं ग्यारसपुर (मालादेवी मन्दिर) ।
४८. खजुराहो, देवगढ़, मथुरा व शहडोल ।
४९. खजुराहो एवं देवगढ़ ।
५०. खजुराहो, देवगढ़ एवं ग्यारसपुर (मालादेवी मन्दिर) ।
५१. एक मूर्ति बिहार और बंगाल से मिली है ।
५२. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १६० ।
५३. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान; प्रतिष्ठासारसंग्रह ५.१५-१६ एवं प्रतिष्ठासारोद्धार ३.१५६, पृ० १६६ ।
५४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २२२-२३; प्रतिष्ठासारसंग्रह ५.६४, ६६; प्रतिष्ठासारोद्धार ३.१७६ ।
५५. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २३५-३६; प्रतिष्ठासारसंग्रह ५.६७-७१; प्रतिष्ठासारोद्धार ३.१७४ ।
५६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २३७-४० ।
५७. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २१८-१९; प्रतिष्ठासारसंग्रह ५.६५; प्रतिष्ठासारोद्धार ३.१५० ।
५८. यू० पी० शाह, 'आइकनोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज', ज० ई० सो० ओ० आ०, खण्ड-१५, पृ० ११४-११७ ।
५९. वही, पृ० ११४ ।
६०. औपपातिकसूत्र १६ ।
६१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३६ ।
६२. स्थानांगसूत्र ८.३.६११; ९.३.६७८ ।
६३. सूत्रकृतांगसूत्र २.२.१५ ।
६४. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ११७ ।
६५. पउमचरिय ५९.८३-८४ ।
६६. पउमचरिय ३.१४४-१४९ ।
६७. पउमचरिय १०९.३ ।
६८. पउमचरिय ७.१३५-१४२ ।

६९. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमलगिरि, 'विमलसूरिकृत पउमचरिय में प्रतिमाविज्ञानपरक सामग्री', पं० दलसुख मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ I, वाराणसी १९७१, पृ० १५७।

७०. वही।

७१. हरिवंशपुराण २२.५४-७३।

७२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.३.१२४-२२६।

७३. हरिवंशपुराण २२.६१-६६।

७४. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ११६-१७।

७५. यक्ष-यक्षी युगलों के स्थान पर महाविद्याओं का निरूपण इस ओर संकेत देता है कि १६ महाविद्याओं की सूची २४ यक्ष-यक्षियों की अपेक्षा कुछ प्राचीन थी। दिगम्बर परम्परा में अधिकांश यक्षियों के नाम भी महाविद्याओं से ग्रहण किये गये।

७६. उत्तरपुराण ६२.३८७-४०१, ४११।

७७. उत्तरपुराण ६८.४६८-४६९।

७८. उत्तरपुराण ६८.५१३-५१४।

७९. उत्तरपुराण ६८.५२०-५२१; महापुराण (पुष्पदंतकृत) ७.४।

८०. उत्तरपुराण ६८.६१८-६१९।

८१. महापुराण (पुष्पदन्तकृत) ६१.१।

८२. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ११९-२०।

८३. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ४१।

८४. गुजरात व राजस्थान के बाहर १६ महाविद्याओं के सामूहिक शिल्पांकन का एकमात्र सम्भावित उदाहरण खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर (११वीं शती ई०) के मण्डोवर पर देखा जा सकता है (चित्र ३५, ३६)।

८५. मारुतिनन्दन तिवारी, 'दि आइकनोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज ऐज डिपिक्टेड इन दि शान्तिनाथ टेम्पल, कुम्भारिया', सम्बोधि, खण्ड-२, अं० ३, पृ० १५-२२।

●

षष्ठ अध्याय

अन्य देवी-देवता

आगम ग्रन्थों में जैन देवताओं को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है—भवनवासी (एक स्थल पर निवास करने वाले), व्यन्तर या वाणमन्तर (भ्रमणशील), ज्योतिष्क (आकाशीय नक्षत्र से सम्बन्धित) तथा वैमानिक या विमानवासी (स्वर्ग के देव)।[1] पहले वर्ग में १०, दूसरे में ८, तीसरे में ५ तथा चौथे में २० देवताओं के नाम मिलते हैं। देवताओं का यह विभाजन निरन्तर मान्य रहा तथा श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने जैन देवकुल के इस वर्गीकरण को सामान्य रूप से स्वीकार किया।[2] आदिपुराण में भी कल्पवासी, ज्योतिष्क, व्यंतर तथा भवनवासी देवों के चार वर्गों का वर्णन मिलता है।[3] पुष्पदन्त ने महापुराण में भवनवासी वर्ग में दस, व्यन्तर में आठ, ज्योतिष्क में पाँच तथा कल्पवासी वर्ग में सोलह प्रकार के देवों का उल्लेख किया है।[4]

भवनवासी देव :

भवनवासी देवों के कुल सात करोड़, बहत्तर लाख भवन हैं।[5] इन्हें नाना प्रकार का शरीर धारण करने वाला माना गया है।[6] भवनवासी देवों का निवास रत्नप्रभा पृथ्वी में उत्तर और दक्षिण की ओर बताया गया है।[7] श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में भवनवासी देवों के अन्तर्गत असुर, नाग, सुवर्ण, द्वीप, उदधि, स्तनित, विद्युत, दिक्कुमार, अग्नि तथा वायुकुमार देव आते हैं। इन सभी देवों के अपने कुछ चिह्न होते हैं जो उनके मुकुट के अग्रभाग पर अंकित होते हैं।[8] दोनों परम्पराओं में इन चिह्नों के सन्दर्भ में पर्याप्त भिन्नता मिलती है जिसे निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है—

भवनवासी देव दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार[९] :

वर्ग	मुकुट पर चिह्न (दिगम्बर)	मुकुट पर चिह्न (श्वेताम्बर)
१–असुरकुमार	चूड़ामणि	चूड़ामणि
२–नागकुमार	सर्प	सर्प
३–सुपर्णकुमार	चील	चील
४–द्वीपकुमार	गज	सिंह
५–उदधिकुमार	घड़ियाल	अश्व
६–स्तनितकुमार	स्वस्तिक	वर्धमानक
७–विद्युतकुमार	वज्र	वज्र
८–दिक्कुमार	सिंह	गज
९–अग्निकुमार	कलश	जलपात्र
१०–वायुकुमार	अश्व	मकर

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार सभी असुरकुमार देव काले वर्ण के होते हैं, उनके होंठ लाल, दाँत श्वेत तथा केश काले होते हैं। उनके बायें कान में कुण्डल तथा शरीर चन्दन के लेप से आच्छादित होता है। वे लाल वस्त्र धारण करते हैं एवं सदैव सुन्दर और यौवनपूर्ण होते हैं। उनका वक्ष मणिरत्न हारों से तथा केश अनेक आभूषणों से विभूषित रहता है। उनकी दसों अँगुलियों में मुद्रिका व मुकुट पर चूड़ामणि होता है।[१०]

व्यन्तर देव :

व्यन्तर देवों को दोनों परम्पराओं में आठ प्रमुख वर्गों में विभक्त किया गया है तथा इनका निवास रत्नप्रभा पृथ्वी में माना गया है। ये क्रमशः पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग तथा गन्धर्व हैं।[११] दिगम्बर परम्परा के अनुसार पिशाच को पुनः १४ वर्गों—कुष्माण्डा, यक्ष, राक्षस, समोह, तारक, असुसिनामक, काल, महाकाल, सुचि, सतालक, देह, महादेह, तुष्णिक तथा प्रवचन; भूत को ७ स्वरूपों-प्रतिरूप, भूतोत्तम, महाभूत, प्रतिचन्न तथा आकाशभूत[१२], यक्ष को १२–मणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, सरूप, यक्षोत्तम तथा मनोहरण;[१३] राक्षस को ७—भीम, महाभीम, विनायक, उदक, राक्षस, राक्षस-राक्षस तथा ब्रह्मराक्षस; किन्नर के ९—किन्नर, किम्पुरुष, हृदयंगम, रूपपालि, किन्नर-किन्नर, अनिन्दित, मनोरम, किन्नरोत्तम तथा रतिप्रिय;[१४]; किम्पुरुष को १०—पुरुष,

पुरुषोत्तम, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, मरु, मरुदेव, मरुप्रभ तथा यशस्वान; महोरग को १०—भुजग, भुजंगशालि, महातनु, अतिकाय, स्कंधशालि, मनोहर, अशिनजव, महेश्वर, गंभीर तथा प्रियदर्शन एवं गन्धर्व[१५] को ६०—हाहा, हुहू, नारद, तुम्बर, वासव, कदम्ब, महास्वर, गीतरति, गीतरस व वज्रवान वर्गों में विभक्त किया गया है।[१६]

दोनों ही परम्पराओं के अनुसार व्यन्तर देवों के अन्तर्गत आने वाले पिशाच देव काले वर्ण के किन्तु देखने में सुन्दर तथा विभिन्न प्रकार के रत्नों के आभूषणों से सुसज्जित होते हैं। काल व महाकाल इनके दो इन्द्र हैं।

दोनों ही परम्पराओं के अनुसार भूत वर्ग के सभी देवों का वर्ण काला है। यक्ष काले वर्ण के, सुदर्शन, किरीटमुकुट तथा अन्य आभूषणों से सज्जित होते हैं। पूर्णभद्र तथा मणिभद्र यक्ष इनके दो प्रमुख इन्द्र हैं। ज्ञातव्य है कि पूर्णभद्र एवं मणिभद्र जैन परम्परा के प्राचीनतम यक्ष हैं जिनसे कालान्तर में कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष का विकास हुआ है।

राक्षस वर्ग के देव काले वर्ण के, सुवर्ण के आभूषणों से अलंकृत तथा भयंकर दर्शन वाले होते हैं। इनके इन्द्र भीम व महाभीम हैं।[१७] दोनों ही परम्पराओं में किन्नर वर्ग के देवों को सुदर्शन और श्याम वर्ण बताया गया है। मुकुटधारी किन्नरों की ध्वजा पर अशोक वृक्ष चिह्नित होता है।[१८] किम्पुरुष श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार श्वेतवर्ण के होते हैं तथा इनके हाथ व पैर देखने में सुन्दर होते हैं। ये विभिन्न आभूषण धारण करते हैं तथा चंदन से अपने ऊपर अनेक चिह्न अंकित करते हैं।[१९]

महोरग वर्ग के देव काले वर्ण के होते हैं। दिगम्बर परंपरा के अनुसार नागवृक्ष उनका चैत्य वृक्ष है और श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार उनके आगे नाग का चिह्न होता है।[२०] दिगम्बर परंपरा के अनुसार गन्धर्व के देव सुवर्ण वर्ण के तथा श्वेताम्बर के अनुसार काले वर्ण के होते हैं। ये देखने में सुन्दर तथा मुकुट व हार से सज्जित होते हैं। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार तुम्बरू उनका चिह्न है। देवताओं के चतुर्वर्ग की उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि लोकपूजन से सम्बन्धित यक्ष, नाग आदि तथा गंधर्व-किन्नर जैसे देवताओं को भी जैन देवकुल में सम्मानजनक स्थान दिया गया। खजुराहो, देवगढ़, कुंभारिया, देलवाड़ा एवं एलोरा जैसे स्थलों पर यक्षों, नागों, गन्धर्वों, किन्नरों आदि का बहुतायत से अंकन हुआ है।

श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि तथा लक्ष्मी को प्रमुख व्यन्तर देवियों के अन्तर्गत रखा गया है और इनका निवास पद्म, महापद्म, तिगछ, केसरी, महापुण्डरीक तथा पुण्डरीक नामक ह्रदों में माना गया है। इन सभी व्यन्तर देवियों का उल्लेख जिनमाता की विभिन्न प्रकार से सेवा करने के संदर्भ में आता है।[२१] पुष्पदंत के महापुराण में यक्षेश्वरी, चित्रवेगा, धनवती तथा धनश्री नामक व्यन्तर देवियों का उल्लेख आया है।[२२] ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर स्थलों पर तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक के प्रसंग में कलश एवं चामरधारी व्यन्तर देवियों का अंकन हुआ है।

ज्योतिष्क देव :

दोनों ही परम्पराओं के अनुसार ज्योतिष्क देव को क्रमशः सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारा इन प्रमुख पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है।[२३] इनका वास आकाश में ७९० योजन की ऊँचाई पर माना गया है तथा ये मनुष्य लोक के ऊपर विचरण करते हैं।[२४] हेमचन्द्र के अनुसार ज्योतिष्क वर्ग के सभी देव रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर निवास करते हैं।[२५] प्रत्येक चन्द्रमा के ८८ ग्रह होते हैं तथा नक्षत्रों की संख्या २८ है। नवग्रहों को जैन शिल्प में जिन-प्रतिमाओं की पीठिकाओं पर लगभग सभी स्थलों पर उत्कीर्ण किया गया।[२६]

वैमानिक देव :

ऊर्ध्वलोक में स्थित विभिन्न कल्पों में निवास करने वाले वैमानिक देवों को कल्पदेव भी कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में इन देवों की संख्या १२ है जो क्रमशः सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्त्रार, आनत्, प्राणत्, आरण और अच्युत हैं।[२७]

लोक एवं ब्राह्मण परम्परा के देवी-देवता :

जैन ग्रन्थों में ऐसे अनेक देवों के भी उल्लेख मिलते हैं जिनकी पूजा लोक परम्परा में प्रचलित थी और जो ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्मों में भी सामान्यरूप से लोकप्रिय थे।[२८] इनमें इन्द्र, रुद्र, शिव, स्कन्द, मुकुन्द, वासुदेव, नारद, वैश्रमण (या कुबेर), गन्धर्व, पितर, नाग, भूत, पिशाच, लोकपाल (सोम, यम, वरुण, कुबेर), अग्निदेव, ब्रह्मा, विष्णु, वामनदेव, नरसिंह, कामदेव, नक्षत्र, सूर्य एवं तिथि देवों तथा श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, अज्जा (पार्वती या आर्या या चण्डिका), कोट्टकिरिया (महिषा-

सुरवधिका), विंध्यवासिनी देवी, गंगा व सिंधु देवी तथा सरस्वती आदि देवियाँ प्रमुख हैं।[२९]

इन्द्र :

आगम तथा परवर्ती ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इन्द्र का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा में इन्द्र[३०] को जिनों का प्रधान सेवक स्वीकार किया गया है तथा जिनों के पंचकल्याणकों एवं समवसरण रचना के सन्दर्भ में इनका उल्लेख आता है। प्रत्येक जिन के समवसरण में इन्द्र ही शासनदेवता के रूप में यक्ष और यक्षी की नियुक्ति करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इनके शक्र नाम के अतिरिक्त आखण्डल, वज्रिन, पुरन्दर, वज्रभृत जैसे ४२ नामों का उल्लेख है तथा इनकी पत्नी के शची, इन्द्राणी, पौलोमी, जयवाहिनी आदि नाम बताये गये हैं।[३१] स्थानांगसूत्र में नामेन्द्र, स्थापनेन्द्र, द्रव्येन्द्र, ज्ञानेन्द्र, दर्शनेन्द्र, देवेन्द्र, असुरेन्द्र तथा मनुष्येन्द्र आदि कई इन्द्रों का तथा जिनों के जन्म, दीक्षा और कैवल्य प्राप्ति के अवसरों पर देवेन्द्र के शीघ्रता से पृथ्वी पर आने का उल्लेख है।[३२] कल्पसूत्र में वज्र धारण करने वाले और ऐरावत गज पर आरूढ़ शक्र का देवताओं के राजा के रूप में तथा पउमचरिय में इन्द्र द्वारा जिनों के जन्म, अभिषेक और समवसरण के निर्माण के उल्लेख हैं।[३३] अन्य स्थलों पर इन्द्र को ऐरावत गज पर आरूढ़, असुर विजेता,[३४] सहस्राक्ष[३५] तथा वज्रपाणि[३६] कहा गया है।

तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के सन्दर्भ में विशेष रूप से सौधर्म इन्द्र का ही उल्लेख आता है। पुष्पदन्त के महापुराण में इन्द्र को अनेक मुखों तथा नेत्रों वाला बताया गया है।[३७] एक अन्य स्थल पर सौधर्मेन्द्र को हजार नेत्रों व बाहुओं वाला कहा गया है। इन्हें वज्र लिये हुये ईशान स्वर्ग का राजा बताया गया है। इन्द्र का वाहन गज, वृषभ तथा विमान माना गया है।[३८] महापुराण में अनेक सन्दर्भों में इन्द्र का उल्लेख हुआ है। इन्द्र का उल्लेख नगर के प्रमुख रचनाकार के रूप में भी आता है जिसका उदाहरण इन्द्र द्वारा ऋषभदेव के माता-पिता, मरुदेवी व नाभिराज के रहने के लिये अयोध्या नामक नगरी की रचना है। इन्द्र की आज्ञा से ही कुबेर द्वारा रत्नों की वर्षा करने का उल्लेख मिलता है। इन्द्र को देवों का अधिपति व सहस्त्राक्ष (हजार नेत्रों वाला) कहा गया है।[३९] सभी स्वर्ग के अलग-अलग जैसे—सौधर्म स्वर्ग के सौधर्मेन्द्र तथा ऐशान स्वर्ग के ऐशान इन्द्र आदि की कल्पना की गयी है। इन्हें ऐरावत

गज पर आरूढ़ बताया गया है।[४०] अन्य देवों में न पाये जाने वाले अणिमा-महिमा आदि गुणों से जो परम ऐश्वर्य को प्राप्त हों, उन्हें इन्द्र कहा गया है।[४१] इन्द्र को सात प्रकार के देवों—सामनिकदेव, त्रायस्त्रिंशदेव, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक तथा प्रकीर्णक से घिरा हुआ बताया गया है। आदिपुराण में ३२ प्रमुख इन्द्रों का उल्लेख मिलता है किन्तु उनके नामों की सूची नहीं दी गयी है। इनमें १० भवनवासी वर्ग के, ८ व्यन्तर वर्ग के, २ ज्योतिषी वर्ग के तथा १२ कल्पवासी वर्ग के इन्द्र हैं।[४२] ऋषभदेव के जन्म के अवसर पर इन्द्र द्वारा विभिन्न प्रकार के नृत्य व नाटक करने का भी उल्लेख है[४३] जो अप्सरादि द्वारा इन्द्र के दरबार में नृत्य-संगीत के कार्यक्रमों से सम्बन्धित है। तीर्थंकरों के जन्माभिषेक पर इन्द्र द्वारा ३२ प्रकार के नृत्य करने का उल्लेख हुआ है किन्तु जैन मन्दिरों में इन्द्र के इन नृत्यों का अंकन कठिनाई से कहीं-कहीं प्राप्त होता है। विमलवसही (माउण्ट आबू) में चार भुजाओं वाली इन्द्र की नृत्यरत मूर्ति का अंकन मिलता है।[४४] निर्वाण के बाद तीर्थंकर की अन्त्येष्टि के लिये सौधर्मेन्द्र के आने का उल्लेख मिलता है।[४५]

यू० पी० शाह ने श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के आधार पर ६४ इन्द्रों की सूची उनकी प्रतिमालाक्षणिक विशेषताओं के साथ प्रस्तुत की है जो मुख्यरूप से आचारदिनकर पर आधारित है। यद्यपि प्रतिष्ठासारोद्धार एवं प्रतिष्ठातिलक में भी इन्द्रों का उल्लेख है किन्तु उसके सभी ध्यानश्लोकों में उनकी प्रतिमालाक्षणिक विशेषताएँ नहीं दी गयी हैं।[४६]

इस प्रकार इन्द्र का वाहन गज तथा मुख्य आयुध वज्र और अंकुश हैं। ओसियाँ, देलवाड़ा, कुम्भारिया, खजुराहो एवं अन्य स्थलों पर तीर्थंकरों के जीवन दृश्यों के प्रसंग में इन्द्र का अनेकशः शिल्पांकन हुआ है जिनमें इन्द्र अधिकांशतः चामर या कलशधारी और जन्मकल्याणक के प्रसंग में शिशु जिन को गोद में लिये, दीक्षाकल्याणक के प्रसंग में लुंचित केश लिये तथा समवसरण में प्रथम धर्मदेशना के अवसर पर उपस्थित दिखाये गये हैं। नाडोल (पाली, राजस्थान) के नेमिनाथ मन्दिर एवं कुम्भारिया के कुछ उदाहरणों में बालक (जिन) को गोद में लिये इन्द्र चतुर्भुज हैं। इन्द्र के दो हाथ गोद में हैं तथा अन्य दो हाथों में अंकुश तथा वज्र हैं।[४७] इसके अतिरिक्त जैन मन्दिरों पर सर्वत्र अष्ट-

दिक्पाल समह में भी इन्द्र का रूपायन हुआ है जिनमें गजवाहन वाले चतुर्भुज इन्द्र सामान्यतः त्रिभंग में हैं और उनके करों में वज्र एवं अंकुश के अतिरिक्त अभय या वरदमुद्रा तथा फल (या कलश या पद्म) प्रदर्शित हैं।

रुद्र :

११ रुद्रों की परिकल्पना जैन धर्म में परवर्तीकालीन है किन्तु चूर्णी ग्रंथों या दिगम्बर लेखक जटासिंह नन्दि ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया है। आरम्भ में जैन मन्दिरों व जैनधर्म में इनका कोई अस्तित्व नहीं था। जैन धर्मावलम्बियों को शैव मतावलम्बियों के समक्ष, विशेषकर दक्षिण में उपस्थित होने के लिये तथा उन्हें विश्वस्त करने के लिये, जैन साहित्य में ११ रुद्रों की सूची प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। इनका प्रारम्भिक स्वरूप शूलपाणि की पौराणिक कथा पर आधारित था। आगे चलकर ११ रुद्रों की कल्पना सत्यकी की कथा पर आधारित हुई।[४८] एकादश रुद्रों की कल्पना स्पष्टतः ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित है। ११ रुद्र विभिन्न तीर्थंकरों के समकालीन बताये गये हैं। प्रथम रुद्र भीमबालि-ऋषभदेव, जितशत्रु-अजितनाथ, विशालनयन (या विश्वाड़र)-सुविधिनाथ, शीतलनाथ, सुप्रतिष्ठ-श्रेयांसनाथ, अचल-वासुपूज्य, पुण्डरीक-विमलनाथ, अजितनधर-अनन्तनाथ, अजितनाभि-धर्मनाथ, पीठ-शान्तिनाथ एवं सत्यकीपुत्र-महावीर के समकालीन थे।[४९]

श्वेताम्बर परम्परा में क्रमशः भीमावली, जितशत्रु, विश्वाहल, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजितधर, अजितनाथ, पेढ़ाल और सत्यकी-सुत नामक रुद्रों का उल्लेख है।[५०] रुद्र को विभिन्न विद्याओं में पारंगत माना गया है। सत्यकीसुत का उल्लेख शिव अथवा महेश्वर के रूप में भी आया है। इस सन्दर्भ में कथा है—विद्या महारोहिणी सत्यकीसुत के मस्तक पर एक छिद्र बनाकर उसी के द्वारा उसके शरीर में प्रवेश कर गयी। आगे चलकर यही छिद्र तीसरे नेत्र के रूप में परिणत हो गया।[५१] यह कथा पुनः एकादश रुद्रों की कल्पना के शिव से सम्बन्धित होने का भाव व्यक्त करती है।

शिव :

शिव ब्राह्मण धर्म के प्रभावशाली देवता हैं जिन्हें जैन देवकुल में कई रूपों एवं नामों सहित ग्रहण किया गया। इस सन्दर्भ में आदिपुराण में

ऋषभनाथ के १००८ नामों से स्तवन के प्रसंग में आये शिव के विभिन्न नामों का स्मरण प्रासंगिक है। आदिपुराण में (२५.१००-२१७) ऋषभनाथ का शिव, शंकर, महादेव, हर, महेश्वर, त्रिपुरारि, नटेश आदि नामों से स्तवन शिव के स्पष्ट प्रभाव का संकेत देता है। ऋषभनाथ के गोमुख यक्ष के हाथों में परशु एवं पाश जैसे आयुधों का प्रदर्शन तथा वाहन रूप में वृषभ का निरूपण शिव के प्रभाव का साक्षी है।[५२] इसी प्रकार श्रेयांशनाथ के ईश्वर यक्ष का नाम, वृषभवाहन एवं उसका त्रिनेत्र होना भी शिव से ही प्रभावित है।[५३] जैनधर्म में शिवलिंग की पूजा के सम्बन्ध में भी कथा वर्णित है।[५४] महावीर के समय से ही जैनधर्म में स्कन्द व मुकुन्द की ही तरह शिव की पूजा का भी प्रचलन था। महावीर के समक्ष शूलपाणि[५५] व्यन्तर देव द्वारा उपस्थित विभिन्न उपसर्ग इसका उदाहरण है। आदिपुराण में ऋषभनाथ के सन्दर्भ में शिव के त्रिपुरारि, त्रिलोचन, त्रिनेत्र, त्रयम्बक और त्रयक्ष नामों का भी उल्लेख हुआ है।[५६] एक अन्य स्थल पर उन्हें अर्धनारीश्वर और अधिकान्तक भी कहा गया है।[५७] उनके शिव, हर, शंकर, शम्भू[५८] और अष्टमूर्ति नामों का भी उल्लेख है। रुद्र शिव के प्रचलित विशेषणों जैसे—सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान का भी उल्लेख मिलता है।[५९] पुष्पदन्त के महापुराण में इनका उल्लेख प्रचलित प्रतीकों व सहचरों जैसे—कंकाल, त्रिशूल, नरमुण्ड, सर्प और स्त्री के साथ हुआ है।[६०] हेमचन्द्र ने इनका उल्लेख ईशान नाम से किया है। त्रिशूलधारी शिव के वाहन रूप में वृषभ का उल्लेख हुआ है। शिव को उमा व गंगा के साथ नृत्य व क्रीड़ा करते बताया गया है तथा शिव व पार्वती को नृत्य में सिद्धहस्त भी कहा गया है।[६१] यू० पी० शाह ने जैन परम्परा के कपर्दी यक्ष को शिव से प्रभावित माना है[६२] जिनकी मूर्तियाँ शत्रुंजय पहाड़ी और विमलवसही से मिली हैं। इनके अतिरिक्त जैन मन्दिरों पर ब्राह्मण मन्दिरों के सदृश ही दक्षिण-पूर्व दिशा के स्वामी (दिक्पाल) के रूप में वृषभवाहन वाले तथा करों में त्रिशूल एवं सर्पादि से युक्त ईशान का निरूपण भी इस दृष्टि से ध्यातव्य है।

नारद :

जैन पुराणों में ९ नारदों की परिकल्पना मिलती है जो ९ वासुदेवों के समकालीन रहे हैं। हरिवंशपुराण में भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, चतुर्मुख, नरवक्त्र और उन्मुख नारदों का उल्लेख

है।[६३] उनकी आयु नारायणों की आयु के समान बतायी गयी है। उन्हें कलह से प्रीति व धर्म से स्नेह रखने वाला, हिंसा से आनन्दित होने वाला तथा जिनेन्द्र का अनुगामी बताया गया है।[६४] हरिवंशपुराण में इन्हें श्वेतवर्ण व आकर्षक व्यक्तित्व का तथा कौपीन, यज्ञोपवीत एवं जटाधारण किये हुए निरूपित किया गया है। इन्हें काम, क्रोध, मद, मोह तथा लोभ आदि अन्तरंग शत्रुओं से रहित भी बताया गया है।[६५] उत्तरपुराण में भी जटाजूटधारी नारद को अक्षसूत्र (जपमाला), स्वर्ण निर्मित यज्ञोपवीत एवं कमण्डलु धारण किये हुए निरूपित किया गया है।[६६] उत्तरपुराण में ही एक अन्य स्थल पर इन्हें यज्ञोपवीत एवं जटाधारी तथा कमण्डलु के साथ ही छत्र धारण किये हुए एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी के स्वरूप वाला बताया गया है।[६७] नारद के ये लक्षण विष्णु के वामन स्वरूप से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। हरिवंशपुराण में नारद को अनेक विद्याओं का ज्ञाता, शास्त्रों में निपुण, कामजित होते हुए भी कामी मनुष्यों का प्रिय, हास्यरूप, लोभरहित, युद्ध व कलहप्रिय, अधिक बोलने वाला तथा लोक में निरन्तर परिभ्रमण करने वाला बताया गया है।[६८] पुष्पदन्तकृत महापुराण में मणिमय कमण्डलु, दण्ड, मणिमय अक्षसूत्र एवं यज्ञोपवीतधारी नारद को पादुका पहने वर्णित किया गया है।[६९] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में नारद का उल्लेख तिलोत्तमा, उर्वशी व रम्भा आदि अप्सराओं और तुम्बरु के साथ किया गया है।[७०] जटाजूट, कुंभोदर, भयंकर दर्शन वाले नारद हाथों में छत्र एवं दण्ड लिये और सिंह चर्म धारण किये हुए निरूपित हैं।[७१] किसी भी जैन मन्दिर में नारद की मूर्ति का उदाहरण नहीं मिलता।[७२]

कुबेर :

ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव के फलस्वरूप कुबेर को जैनधर्म में भी भोगोपभोग की वस्तुओं का स्वामी बताया गया है। इनकी नियुक्ति इन्द्र द्वारा नगर की रचना करने व जिनेन्द्र देव की विभिन्न प्रकार से सेवा करने के लिये की जाती थी।[७३] कुबेर का उल्लेख चार लोकपालों के अन्तर्गत उत्तर दिशा के स्वामी के रूप में भी आता है।[७४] ल० आठवीं शती ई० से सभी क्षेत्रों के जैन मन्दिरों पर उत्तरी कोण पर ब्राह्मण मंदिरों के समान दिक्पाल के रूप में कुबेर का नियमित अंकन हुआ है। ओसियां, खजुराहो, देवगढ़, कुंभारिया, देलवाड़ा जैसे स्थलों पर सामान्यतः बृहद्-जठर कुबेर को गज-वाहन या निधिपात्र के साथ फल, पद्म, धन का थैला, अंकुश आदि से युक्त दिखाया गया है। उत्तरपुराण में कुबेर की

रति नामक देवी का उल्लेख है।[७५] पुष्पदन्त के महापुराण में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा तीर्थंकर के जन्म के लिये एक सुन्दर नगर की रचना का उल्लेख आया है। इसमें इन्द्र द्वारा इन्हें यक्षराज भी कहा गया है।[७६] सभी तीर्थंकरों के जन्म के ६ मास पूर्व से कुबेर द्वारा जिन माता-पिता के आँगन में रत्नों की वर्षा करने का उल्लेख आता है।[७७] तीर्थंकर मूर्तियों में नेमिनाथ एवं अन्य तीर्थंकरों के साथ यक्ष के रूप में कुबेर (या सर्वानुभूति) के अंकन की चर्चा यक्ष-यक्षी सम्बन्धित अध्याय में की जा चुकी है।

कामदेव :

प्राचीनकाल से ही भारत में कामदेव के मंदिरों व उनकी पूजा का उल्लेख मिलता है। हिन्दू धर्म के समान जैनधर्म में भी कामदेव की परिकल्पना आकर्षक व्यक्तित्व वाले देवता के रूप में की गयी है। जैनधर्म में दोनों ही परम्पराओं में २४ कामदेवों का उल्लेख है किन्तु उन्हें ६३ शलाकापुरुषों की श्रेणी में न रखकर महान् आत्माओं की श्रेणी में रखा गया है।[७८] ये २४ कामदेव क्रमशः बाहुबली, प्रजापति, श्रीधर, दर्शनभद्र, प्रसेनचन्द्र, चन्द्रवर्ण, अग्नियुक्त, सनत्कुमार, वत्सराज, कनकप्रभ, मेघप्रभ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, विजयराज, श्रीचन्द्र, नलराज, हनुमान, वालिराज, वासुदेव, प्रद्युम्न, नागकुमार, जीवन्धर तथा जम्बूस्वामी हैं।[७९] इनमें से कुछ कामदेव जैसे बाहुबली, प्रद्युम्न तथा जीवन्धर जैन परम्परा में एक महान् आत्मा और साधक के रूप में मान्य हैं। हनुमान, नलराज, वालिराज, वासुदेव एवं प्रद्युम्न ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित हैं। प्रजापति और श्रीधर क्रमशः ब्रह्मा और विष्णु से सम्बन्धित हैं। यह सर्वथा उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण परम्परा में जहाँ हनुमान को ब्रह्मचारी रूप में वर्णित किया गया है वहीं जैनधर्म में उन्हें कामदेव के रूप में एक हजार कन्याओं के साथ विवाह करने वाला बताया गया है।[८०] उनके पैरों पर परशु, अंकुश एवं चक्र जैसे प्रतीकों का भी उल्लेख है।[८१] खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर पर अशोकवाटिका में सीता के समक्ष तथा उत्तरी भित्ति की राम-सीता मूर्ति में राम के समीप कपिमुख हनुमान की आकृतियाँ बनी हैं। शान्ति, कुन्थु व अरनाथ तीर्थंकर रहे हैं। यद्यपि कामदेव का व्यक्तित्व आकर्षक माना गया है फिर भी जैनधर्म में बाहुबली को ब्राह्मण परम्परा के समान प्रेम के देवता के रूप में नहीं स्वीकार किया गया है।[८२]

मध्यकालीन तान्त्रिक प्रवृत्ति तथा जैनधर्म के प्रति सामान्यजनों को आकृष्ट करने के उद्देश्य से जिन मन्दिरों पर न केवल कामदेव की मूर्तियाँ उकेरी गयीं वरन् जैन ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अंकन को संस्तुति दी गयी। हरिवंशपुराण में जिन मन्दिर में प्रजा के कौतुक के लिये कामदेव और रति की मूर्तियों के उत्कीर्ण किये जाने का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थ के अनुसार यह जिन मन्दिर कामदेव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था और कौतुकवश आये हुए लोगों को जैनधर्म की प्राप्ति का निमित्त था।[८३]

खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर पर विष्णु, शिव, ब्रह्मा, राम, बलराम आदि की शक्ति सहित आलिंगन मूर्तियों के समूह में काम और रति की भी दो युगल मूर्तियाँ हैं जो क्रमशः पूर्व और उत्तर की भित्तियों पर उत्कीर्ण हैं।[८४] पूर्वी भित्ति की मूर्ति में श्मश्रु ओर जटामुकुट से शोभित काम के दो हाथों में पंचशर एवं इषु-धनु हैं जबकि शेष दो हाथों में से एक व्याख्यानमुद्रा में है और दूसरा आलिंगनमुद्रा में। उत्तरी भित्ति की मूर्ति में काम दाढ़ी-मूछों से रहित तथा किरीटमुकुट से सज्जित हैं। उनके दो हाथों में पूर्ववत् पंचशर (मानवमुख) और इषु-धनु हैं तथा एक हाथ आलिंगनमुद्रा में है। व्याख्यानमुद्रा के स्थान पर एक हाथ में पद्मकलिका प्रदर्शित है। दोनों ही उदाहरणों में रति बायें पार्श्व में खड़ी हैं और उनका दाहिना हाथ आलिंगनमुद्रा में है जबकि बायें में पुस्तक (या पद्म) प्रदर्शित है। एलोरा की गुफा सं० ३४ में भी भूमितल के मुख्य मण्डप के एक स्तम्भ पर त्रिभंग में खड़ी कामदेव की एक मूर्ति उत्कीर्ण है। कामदेव के दो हाथों में इषु-धनु एवं पुष्पशर स्पष्ट हैं।

वामनदेव :

जैन ग्रन्थों में ब्राह्मण परम्परा के वामनदेव (विष्णु के अवतार) का भी उल्लेख मिलता है। उत्तरपुराण में भी वामन का उल्लेख है जिन्होंने दो पगों में ही सम्पूर्ण पृथ्वी को नाप लिया और तीसरा पग रखने के लिये उन्हें स्थान ही शेष नहीं बचा। विद्याधर तथा भूमिगोचरियों द्वारा स्तुति करने पर उन्होंने पुनः अपने चरणों को संकुचित कर लिया।[८५] त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र में भी वामनदेव का उल्लेख है किन्तु इसमें वामन रूप के स्थान पर विशाल रूप (त्रिविक्रम) में पृथ्वी को तीन पगों में नापने का सन्दर्भ आया है। ग्रन्थ में इन्हें त्रिविक्रम भी कहा गया है।[८६]

लक्ष्मी :

जैन देवकुल में लक्ष्मी की अवधारणा प्राचीन है। सर्वप्रथम कल्पसूत्र में जिनों की माताओं द्वारा देखे गये शुभ स्वप्नों के सन्दर्भ में श्री लक्ष्मी का उल्लेख हुआ है। शीर्ष भाग में दो गजों से अभिषिक्त लक्ष्मी को पद्मासीन व दोनों करों में पद्म धारण किये निरूपित किया गया है।[८७] भगवतीसूत्र (पाँचवीं शती ई०) में भी एक स्थल पर लक्ष्मी की मूर्ति का उल्लेख है।[८८] परवर्ती जैन ग्रन्थों में भी लक्ष्मी को सागरपुत्री[८९], विष्णु की सहचरी[९०] तथा सौन्दर्य व समृद्धि की देवी के रूप में निरूपित किया गया है।[९१] पद्मा, रमा, हरिप्रिया, पद्मवासा आदि नामों से अभिहित देवी पद्मासना एवं दो गजों से अभिषिक्त हैं।[९२] पुष्पदन्तकृत महापुराण एवं उत्तरपुराण में जिनमाताओं द्वारा देखे गये १६ शुभस्वप्नों के सन्दर्भ में भी लक्ष्मी का उल्लेख आया है इसमें इन्हें नवकमलों के सरोवरों की स्वामिनी व गजों द्वारा अभिषिक्त उल्लखित किया गया है।[९३] जैन शिल्प में लक्ष्मी का मूर्त अंकन ल० ९वीं शती ई० के बाद ही लोकप्रिय हुआ जिसके उदाहरण खजुराहो, देवगढ़, ओसियां, कुंभारिया एवं देलवाड़ा आदि स्थलों से प्राप्त होते हैं।[९४]

उपर्युक्त सभी स्थलों पर चर्तुभुजा लक्ष्मी दो गजों द्वारा अभिषिक्त गजलक्ष्मी या अभिषेक लक्ष्मी के रूप में निरूपित हैं। पद्मासीन देवी के दो ऊर्ध्व करों में पद्म हैं तथा अधः करों में वरद या अभयमुद्रा और जल-पात्र या फल दिखाया गया है। कुंभारिया एवं देलवाड़ा के जैन मन्दिरों के वितानों पर उत्कीर्ण विभिन्न तीर्थंकरों के जीवन दृश्यों एवं खजुराहो, देवगढ़ जैसे दिगम्बर स्थलों पर प्रवेशद्वार के ऊपरी भाग में मांगलिक स्वप्नों के अन्तर्गत गजलक्ष्मी को उपर्युक्त लक्षणों वाला दर्शाया गया है (चित्र २०-२१)। एलोरा की जैन गुफा सं० ३० और ३२ में क्रमशः तीन और एक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ध्यानमुद्रा में पद्म पर आसीन गुफा सं० ३० की तीन मूर्तियों में से दो में चतुर्भुजा देवी के केवल दो हाथों में पद्म स्पष्ट हैं। तीसरी मूर्ति में द्विभुजा देवी पद्म से युक्त और दो गजों द्वारा अभिषिक्त दिखायी गयी हैं। गुफा सं० ३२ की चौथी मूर्ति में चतुर्भुजा देवी पूर्ववत् ध्यानमुद्रा में पद्म पर आसीन और दो गजों द्वारा अभिषिक्त दिखायी गयी हैं। देवी के तीन अवशिष्ट करों में वरदमुद्रा, पद्म और पाश स्पष्ट हैं।

सरस्वती :

प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में सरस्वती का उल्लेख मेधा एवं बुद्धि के देवता या श्रुत देवता के रूप में प्राप्त होता है। आदिपुराण, हरिवंश-पुराण, महापुराण (पुष्पदन्तकृत) एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में सरस्वती का उल्लेख पूर्व ग्रन्थों की भाँति श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि एवं लक्ष्मी जैसे ह्रद देवियों के रूप में आया है जिनका निवास विभिन्न पद्म सरोवरों में माना गया है।[९५] सरस्वती का लाक्षणिक स्वरूप जैन ग्रन्थों में ८वीं शती ई० के बाद विवेचित हुआ है। जैन शिल्प में यक्षी अम्बिका एवं चक्रेश्वरी के बाद सरस्वती की ही सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ बनीं।[९६]

ज्ञान और पवित्रता की देवी होने के कारण ही सरस्वती के साथ हंस वाहन और करों में पुस्तक, अक्षमाला, वरदमुद्रा, पद्म और जलपात्र दिखाये गये हैं। ल० १०वीं-११वीं शती ई० में संगीत व अन्य ललित-कलाओं की देवी के रूप में इन्हें मान्यता मिली और तब उनके वाहन के रूप में मयूर और हाथों में वीणा का अंकन प्रारम्भ हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सरस्वती पूजन अधिक लोकप्रिय था। यही कारण है कि बादामी, अयहोल एवं एलोरा जैसे दिगम्बर जैन स्थलों पर सरस्वती की मूर्तियाँ उत्कीर्ण नहीं हुईं। पूर्व-मध्यकाल में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में शक्ति के रूप में भी सरस्वती की साधना की गयी जिसमें आगे चलकर तन्त्र का भी प्रवेश हुआ।[९७]

ब्राह्मण परम्परा में विद्या की देवी सरस्वती एवं जैन परम्परा की सरस्वती या बुद्धि देवी की लाक्षणिक विशेषताओं में अद्भुत समानता देखने को मिलती है। दोनों ही परम्पराओं की सरस्वती प्रतिमाओं में इनके करों में पुस्तक, वीणा, अक्षमाला, स्रुक, अंकुश तथा पाश जैसे आयुध दिखाये गये हैं। हंस या मयूरवाहना सरस्वती की ९वीं से १२वीं शती ई० के मध्य की अनेक मूर्तियाँ देवगढ़, खजुराहो, ओसियाँ, कुम्भारिया, देलवाड़ा, तारंगा, जिननाथपुर, हुम्मच, हलेबिड तथा पल्लू (बीकानेर, राजस्थान) जैसे स्थलों से मिली हैं (चित्र २६)।

ह्रद देवियाँ :

जैन परम्परा में श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, कीर्ति एवं लक्ष्मी जैसी देवियों के उल्लेख हैं जिनका निवास ६ प्रमुख पर्वतों पर स्थित—पद्म, महापद्म, तिगिन्छ, केसरी, महापुण्डरीक तथा पुण्डरीक नामक ह्रदों में है।[९८] दिगम्बर परम्परा में इनका उल्लेख शान्तिकर्म के सन्दर्भ में तथा ह्रद

देवियों के रूप में आता है।[९९] इनका प्रमुख कार्य जिन माता की विभिन्न प्रकार से सेवा करना है।[१००] श्वेताम्बर स्थलों पर तीर्थंकरों के जन्म से सम्बन्धित दृश्यों में जिनमाताओं के समीप इन ह्रद देवियों का सामूहिक अंकन देखा जा सकता है।

गंगा व सिन्धु देवी :

ब्राह्मण परम्परा के समान ही जैन देवकुल में भी गंगा एवं सिन्धु का देवियों के रूप में उल्लेख हुआ है। इनका निवास गंगाकूट तथा सिन्धु कूट पर माना गया है। आदिपुराण में गंगादेवी की उत्पत्ति एवं गंगा देवी द्वारा चक्रवर्ती भरत का गंगाजल से अभिषेक करने का उल्लेख आता है।[१०१] हरिवंशपुराण में सिन्धु कूट पर निवास करने वाली सिन्धु देवी द्वारा भरत चक्रवर्ती को पादपीठ से सुशोभित दो उत्तम आसन भेंट करने का उल्लेख है।[१०२] पुष्पदन्तकृत महापुराण में गंगादेवी को पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुखवाली, कमलनयनी, कमलों के समान चरणोंवाली, जिनेन्द्र का अभिषेक करनेवाली, सिर में फूल गूँथनेवाली, चंचल मकर ध्वजवाली एवं अपने रूप-यौवन से देवों को आश्चर्य में डाल देनेवाली बताया गया है। पद्म को ही उनका छत्र एवं वस्त्र माना गया है।[१०३] सिन्धु देवी को दिव्य स्वरूपा तथा जलचर ध्वजवाली बताया गया है।[१०४]

दिक्कुमारी :

जैनधर्म के श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में दिक्कुमारियों का सम्बन्ध तीर्थंकरों के जन्मोत्सव व जातकर्म से बताया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में इनकी संख्या ५६ एवं दिगम्बर में ४४ बतायी गयी है।[१०५] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में ५६ दिक्कुमारियों का उल्लेख विस्तार के साथ, हाथों में दर्पण, घट, ताड़पत्र का पंखा, चीवर व ज्योति लिये हुए मिलता है।[१०६] आदिपुराण,[१०७] हरिवंशपुराण[१०८] एवं महापुराण (पुष्पदन्तकृत) जैसे दिगम्बर ग्रन्थों में तीर्थंकरों के जन्म के अवसर पर जिनमाता के पास दिक्कुमारियों के आने का उल्लेख है। कुछ दिक्कुमारियों के नाम हिन्दू देवियों के समान हैं जैसे—सीता, पृथ्वी, एकनांशा तथा इला इत्यादि।[१०९] विमलवसही (देलवाड़ा) में कलश तथा चामर लिये हुए नारी आकृतियों की पहचान दिक्कुमारियों के रूप में की गयी है।[११०]

नाग-पूजा :

जैन ग्रन्थों में नाग-पूजन के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं जो लोक-पूजन की जैनधर्म में प्रतिष्ठा के सूचक हैं। भारतीय लोकधर्म में नाग-पूजन प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है।[१११] भारत के सभी क्षेत्रों से नागों की अनेक स्वतन्त्र मूर्तियाँ मिली हैं जो नाग-पूजन की लोकप्रियता की साक्षी हैं। लोकधर्म के साथ-साथ ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों में भी नागों की उपदेवता के रूप में मान्यता है। श्रावण मास के पंचमी के दिन इनकी उत्पत्ति की मान्यता के कारण ही नाग पंचमी के रूप में प्रायः सम्पूर्ण भारत में नाग पूजन की परम्परा व्यवहार में है। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के लांछन के रूप में सर्प का उल्लेख और अंकन मिलता है। साथ ही तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के शीर्ष भागों में सर्प-फणों के छत्र के रूप में भी नाग का उल्लेख और अंकन मिलता है। एलोरा की पार्श्वनाथ मूर्तियों में भी सिर पर सात सर्पफणों के छत्र तथा पृष्ठ भाग में सर्प की कुण्डलियों का सुन्दर अंकन हुआ है (चित्र १३, १४)।

जैनधर्म के अन्तर्गत पाताल स्वर्ग में रहने वाले नाग कुमार देवों को भवनवासी देवों के अन्तर्गत रखा गया है और धरणेन्द्र को उनका प्रमुख इन्द्र माना गया है।[११२] तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कमठ (शंबर) द्वारा प्रस्तुत उपसर्गों से रक्षा के लिये धरणेन्द्र का उन्हें अपने फणों पर उठा लेने का सन्दर्भ जैनधर्म में नागदेव की प्रमुखता एवं पूजन की परम्परा को दर्शाता है।[११३] आदिपुराण तथा उत्तरपुराण में नागकुमार जाति के ऐसे देवों का उल्लेख मिलता है जो प्रसन्न हो विभिन्न प्रकार की दिव्य वस्तुएँ जैसे—मुकुट, चामर, छत्र, बाण, आकाश में चलने वाली पादुकाएँ प्रदान करते थे।[११४] उत्तरपुराण में एक अन्य स्थल पर सुन्दर कमलों से युक्त सरोवरों में निवास करने वाले निषध, देवकुरु, सूर्प, सुलसु, विद्युत्प्रभ, नीलवान, उत्तरकुरु, चन्द्र, ऐरावत तथा माल्यवान नामक नागकुमार देवों का उल्लेख आया है।[११५]

गोम्मटेश्वर बाहुबली :

ऋषभदेव के पुत्र भरत और बाहुबली के जीवन वृत्त का उल्लेख यद्यपि जैनधर्म के दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से हुआ है किन्तु दिगम्बर परम्परा में बाहुबली के प्रति विशेष आदर भाव देखा जाता है। ल० ९८३ ई० की श्रवणबेलगोल (हसन, कर्नाटक) की एकाश्मक

पत्थर की ५७ फीट ऊँची गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा दिगम्बर परम्परा में उनके गौरवपूर्ण स्थान का सूचक है (चित्र ४९)। देवगढ़, खजुराहो जैसे दिगम्बर स्थलों पर ल० ९वीं से १२वीं शती ई० के बीच बाहुबली की मूर्तियों में तीर्थंकर मूर्तियों के समान अष्ट-प्रातिहार्यों एवं दो उदाहरणों में (देवगढ़ मन्दिर ११ एवं खजुराहो का शान्ति प्रसाद जैन संग्रहालय) यक्ष-यक्षी युगल को भी निरुपित किया गया है जो स्पष्टतः बाहुबली की विशेष प्रतिष्ठा का सूचक है। आज भी अनेक दिगम्बर जैन तीर्थों एवं मन्दिरों में बाहुबली की प्रतिमाएँ तीर्थंकरों के ही समान पूजित हैं।[११६]

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग एवं समवायांगसूत्र जैसे आगम ग्रन्थों में बाहुबली के शरीर की ऊँचाई एवं आयुष्य के अतिरिक्त उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कोई विस्तृत जानकारी नहीं मिलती। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति तथा कल्पसूत्र सहित श्वेताम्बर परम्परा का सम्पूर्ण आगम साहित्य बाहुबली जीवनवृत्त के सम्बन्ध में मौन है किन्तु श्वेताम्बर आगम साहित्य की टीकाओं—(आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकभाष्य, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि, कल्पसूत्रवृत्ति, आचारांगटीका और स्थानांगटीका) एवं पउमचरिय, वसुदेवहिण्डी, चउपन्न महापुरिसचरियं तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र जैसे कथा साहित्य में बाहुबली का जीवनवृत्त विस्तार के साथ वर्णित है।[११७] दिगम्बर परम्परा के पौराणिक साहित्य जैसे—हरिषेणकृत पद्मपुराण, स्वयम्भूकृत पउमचरिउ, जिनसेनकृत आदिपुराण, रविषेणकृत पद्मपुराण, जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण आदि में बाहुबली के जीवनवृत्त का विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है।

आदिपुराण में वर्णित बाहुबली के जीवनवृत्त के अनुसार वृषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती ने जब दिग्विजय के उपरान्त अपने एक दूत द्वारा भाईयों के पास अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेजा तो बाहुबली, जो भेद, दण्ड तथा साम इन तीनों ही उपायों द्वारा अजेय थे, के अतिरिक्त अन्य सभी भाईयों ने भरत की अधीनता स्वीकार कर ली। फलस्वरूप भरत और बाहुबली के बीच युद्ध अपरिहार्य हो गया। युद्ध की स्थिति में मंत्रियों ने भाई-भाई के इस युद्ध में व्यर्थ ही सेना के संहार को रोकने हेतु इनके मध्य नेत्र, जल तथा मल्लयुद्ध का परामर्श दिया।[११८] जिनसेन को छोड़कर अधिकांश दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने भरत-

बाहुबली के मध्य सेनाओं के परस्पर युद्ध का उल्लेख किया है।[११९] इस अहिंसक द्वन्द्व-युद्ध में बाहुबली द्वारा विजयी होने पर भरत ने निर्णय के प्रतिकूल बाहुबली पर चक्र चला दिया जिससे राज्य लिप्सा की परिणति का बाहुबली को भास हुआ और तत्क्षण बाहुबली के मन में वैराग्य का भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने राज्य त्याग कर दीक्षा ग्रहण की।[१२०]

आदिपुराण में एक वर्ष तक प्रतिमा योग में स्थित बाहुबली की कठिन तपस्या का विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। अपने गुणों से पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि तथा कामदेव को जीतने वाले मुनिराज बाहुबली ने पाँच इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया था। उनके तप के प्रभाव से वन के परस्पर शत्रुभाव वाले जीव-जन्तु, जैसे—गज, मयूर-सर्प आदि, अहिंसक और शान्त होकर इनके समीप ही विचरण कर रहे थे। उनके शरीर पर लिपटी लता-वल्लरियों को कभी-कभी क्रीड़ा हेतु आयी विद्याधरियाँ हटा जाती थीं। इस प्रकार की कठिन साधना का एक वर्ष व्यतीत होने तथा भरत द्वारा उनकी पूजा किये जाने पर बाहुबली को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[१२१]

बाहुबली-भरत के युद्ध, बाहुबली की विरक्ति, दीक्षा एवं तपश्चर्या से सम्बन्धित विवरण श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से वर्णित हैं किन्तु इनके केवलज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता मिलती है। श्वेताम्बर परम्परा में साधना के मध्य बाहुबली में दर्प की उपस्थिति तथा उनकी बहनों–ब्राह्मी एवं सुन्दरी के उद्‌बोधन से उसकी निवृत्ति और कैवल्य प्राप्ति का उल्लेख हुआ है।[१२२] जबकि दिगम्बर परम्परा में साधक के मध्य बाहुबली में दर्प की विद्यमानता का अनुल्लेख है किन्तु अग्रज भरत की पूजा के बाद ही बाहुबली के कैवल्य प्राप्ति का उल्लेख हुआ है। कैवल्य प्राप्ति के बाद अपने वचनरूपी अमृत से समस्त संसार को सन्तुष्ट करते हुए बाहुबली अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुए।

उपर्युक्त पारम्परिक पृष्ठभूमि के आधार पर ही विभिन्न क्षेत्रों में छठी-सातवीं शती से १७वीं शती ई० के मध्य बाहुबली की अनेक मूर्तियाँ बनीं।[१२३] श्वेताम्बर स्थलों पर बाहुबली अधोवस्त्र पहने हुए दिखाये गये हैं जबकि दिगम्बर स्थलों पर उन्हें निर्वस्त्र दिखलाया गया है। दोनों परम्परा की मूर्तियों में कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े बाहुबली के हाथों और

पैरों में माधवी की लताएँ लिपटी हैं। श्वेताम्बर स्थलों पर बाहुबली की स्वतंत्र मूर्तियाँ नगण्य हैं। १४वीं शती ई० की एक श्वेताम्बर मूर्ति गुजरात के शत्रुंजय पहाड़ी पर है। १५वीं शती ई० की एक मूर्ति जैसलमेर से मिली हैं। ऋषभनाथ के जीवन दृश्यों के अंकन के प्रसंग में भी कुछ श्वेताम्बर स्थलों पर भरत-बाहुबली युद्ध और बाहुबली की कायोत्सर्गमुद्रा में खड़ी मूर्तियाँ बनीं। इनमें गुजरात में कुम्भारिया स्थित शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों (११वीं शती ई०) तथा राजस्थान स्थित विमलवसही के उदाहरण मुख्य हैं। इन उदाहरणों में श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप ही बाहुबली के दोनों पार्श्वों में नमस्कारमुद्रा में ब्राह्मी और सुन्दरी की मूर्तियाँ बनी हैं।

दिगम्बर स्थलों पर छठी-सातवीं शती ई० में ही बाहुबली का निरूपण प्रारम्भ हो गया। इसके उदाहरण बादामी और अयहोल में हैं। बादामी की मूर्ति में बाहुबली निर्वस्त्र और कायोत्सर्गमुद्रा में पद्म पर खड़े हैं। केश पीछे की ओर संवारे गये हैं। हाथों और पैरों में माधवी लिपटी है। तपस्यारत बाहुबली के समीप ही बाल्मीक से निकलते दो सर्पों को दिखलाया गया है। समीप ही दो पुरुषों और दो उपासकों की भी आकृतियाँ बनी हैं। अयहोल की बाहुबली मूर्ति में भी यही लक्षण हैं। इसमें बाहुबली के दोनों पार्श्वों में दो स्त्री आकृतियाँ बनी हैं जो विद्याधरियों की मूर्तियाँ हैं। ध्यातव्य है कि दिगम्बर ग्रन्थों में उल्लेख है कि ध्यानस्थ बाहुबली के शरीर पर लिपटी माधवी की लताओं को विद्याधरियों ने हटाया था।[१२४] अतः दिगम्बर स्थलों की मूर्तियों में बाहुबली के दोनों पार्श्वों की स्त्री आकृतियों की पहचान ब्राह्मी और सुन्दरी के स्थान पर विद्याधरियों से की जानी चाहिये। दिगम्बर स्थलों पर इनका नियमित अंकन हुआ है। अयहोल की मूर्ति में ऊपर की ओर वृक्ष और उड्डीयमान गन्धर्वों आदि की भी मूर्तियाँ बनी हैं। बाहुबली की केश-रचना जटा के रूप में प्रदर्शित है और कुछ लटें कन्धों पर भी फैली हैं। बाहुबली की मुखाकृति और उनके अर्ध निमिलित नेत्र उनकी चिन्तनशीलमुद्रा को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिल्प में सातवीं शती ई० तक बाहुबली की लाक्षणिक विशेषताएँ नियत हो गयी थीं। परवर्ती काल की मूर्तियों में इन्हीं में कुछ विकास दृष्टिगत होता है। इनमें लता वल्लरियों के साथ ही बाहुबली के शरीर पर सर्प, वृश्चिक और छिपकली आदि का भी अंकन हुआ।

खजुराहो एवं देवगढ़ की १०वीं से १२वीं शती ई० के मध्य की मूर्तियों में बाहुबली के साथ कई नवीन और परम्परा में सर्वथा अवर्णित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। इनमें बाहुबली को तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान करने का भाव देखा जा सकता है। जब भी जैन देव परिवार के किसी देवता की प्रतिष्ठा में वृद्धि की गयी तो उसे तीर्थंकरों के निकट लाने का प्रयास किया गया है।

खजुराहो की मूर्ति पार्श्वनाथ मन्दिर के गर्भगृह की भित्ति पर है। इसमें वक्षःस्थल और उदरभाग पर वृश्चिक् और छिपकली की आकृतियाँ बनी हैं। शरीर पर पूर्ववत् माधवी की लताएँ लिपटी हैं। इस मूर्ति में तीर्थंकर मूर्तियों में प्रदर्शित होनेवाले अष्टप्रातिहार्यों में से अधिकांश को उत्कीर्ण किया गया है। यहाँ बाहुबली के साथ सिंहासन, दो चामरधर सेवक, धर्मचक्र, छत्र, उड्डीयमान मालाधर एवं वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न प्रदर्शित हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के ये अभिन्न लक्षण देवगढ़ की मूर्तियों में भी देखे जा सकते हैं। देवगढ़ में बाहुबली की कुल ६ मूर्तियाँ हैं। एक उदाहरण (मन्दिर ११-१२वीं शती ई०) में तो तीर्थंकर मूर्तियों के समान ही बाहुबली के सिंहासन के दोनों छोरों पर द्विभुज यक्ष और यक्षी की भी आकृतियाँ उकेरी हैं। यहाँ यक्ष गोमुख है जो पारम्परिक दृष्टि से तीर्थंकर ऋषभनाथ का यक्ष है। ज्ञातव्य है कि अष्टप्रातिहार्य, धर्मचक्र एवं यक्ष-यक्षी तीर्थंकर मूर्तियों के अभिन्न और पारम्परिक लक्षण हैं। इन्हीं तत्त्वों को उपर्युक्त बाहुबली मूर्तियों में भी प्रदर्शित किया गया है। संख्या की दृष्टि से दक्षिण भारत की तुलना में कम होते हुए भी उत्तर भारत की मूर्तियों का बाहुबली की मूर्तियों के विकास की दृष्टि से अग्रगामी योगदान रहा है। उत्तर भारत की कुछ अन्य मूर्तियाँ प्रभास पाटण (गुजरात) एवं बिल्हरी (मध्य प्रदेश) से मिली हैं। एक मूर्ति राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक ९४०) में है।

एलोरा में पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बाद बाहुबली की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं जिनके लगभग २० उदाहरण जैन गुफाओं में देखे जा सकते हैं (चित्र ४५, ४६, ४७, ४८)।[१२५] एलोरा की बाहुबली मूर्तियाँ भारत के अन्य किसी भी क्षेत्र की अपेक्षा लक्षणों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आदिपुराण के बाहुबली चरित् की पृष्ठभूमि में एलोरा की बाहुबली मूर्तियों का मूल्यांकन महत्वपूर्ण है जिन्हें तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठापरक स्थिति प्रदान की गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों

के समय बाहुबली के उपासकों का कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय भी रहा होगा। ये बाहुबली मूर्तियाँ एक ओर बादामी (चित्र ४४) और अयहोल की पूर्ववर्ती चालुक्यकालीन बाहुबली मूर्तियों से पूरी तरह प्रभावित और उनमें लाक्षणिक विकास दर्शाती हैं तथा दूसरी ओर कई दृष्टियों से देवगढ़ और खजुराहो की दिगम्बर परम्पराओं की उत्तर भारतीय शैली से भी प्रभावित हैं। एलोरा के अतिरिक्त दक्षिण भारत के अन्य किसी भी स्थल की बाहुबली मूर्तियों में प्रातिहार्यों, पार्श्ववर्ती विद्याधरियों एवं चरणों के समीप नमस्कारमुद्रा में भरत चक्रवर्ती की आकृतियों का अंकन नहीं हुआ है। बाहुबली के समीप मृग, उष्ट्र, मूषक आदि का अंकन एलोरा की बाहुबली मूर्तियों की अपनी विशेषता है जो आदिपुराण के वर्णन के अनुरूप है। बाहुबली की मूर्तियाँ एलोरा की सभी जैन गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। सर्वाधिक मूर्तियाँ गुफा सं० ३२ में देखी जा सकती हैं (चित्र ४५, ४६, ४७)।

एलोरा की बाहुबली मूर्तियों में अष्टप्रातिहार्यों में से केवल प्रभामण्डल, दुन्दुभिवादक, दिव्यध्वनि, मालाधारी गन्धर्व एवं त्रिछत्र के स्थान पर एक छत्र दिखाया गया है। त्रिछत्र के स्थान पर एक छत्र दिखाकर सम्भवतः बाहुबली के केवल केवली होने का संकेत दिया गया है।[१२६] इस प्रकार देवगढ़ और खजुराहो की दिगम्बर परम्परा की मूर्तियों के समान ही एलोरा में भी बाहुबली को तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान करने का प्रयास किया गया।

बाहुबली की १३ मूर्तियाँ केवल गुफा सं० ३२ (९वीं शती ई०) में उत्कीर्ण हैं। सभी उदाहरणों में निर्वस्त्र बाहुबली कायोत्सर्गमुद्रा में तपस्यारत निरूपित हैं। आदिपुराण के विवरण के अनुरूप बाहुबली के दोनों पार्श्वों में दो मनोहारी विद्याधरियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जो बाहुबली के शरीर से लिपटी लता-वल्लरियों को हटा रही हैं। परम्परानुरूप समीप ही मुकुट आदि से सज्जित भरत-चक्रवर्ती की आकृति भी उकेरी है जो स्तवन की मुद्रा में हाथ जोड़े हुए हैं। इन मूर्तियों में बांबी से निकलते सर्प एवं निश्चिन्त भाव से विचरण करते हुए मृग, वृश्चिक, उष्ट्र आदि जीवों का अंकन भी ध्यातव्य है। शरीर पर लिपटी लता-वल्लरियों एवं विभिन्न जीव-जन्तु के माध्यम से एक ओर बाहुबली की कठिन साधना और दूसरी ओर वन की पृष्ठभूमि को सफलतापूर्वक दर्शाया गया है। उत्तर भारतीय मूर्तियों के समान ही कई उदाहरणों में बाहुबली के समीप तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग आकृतियाँ भी उकेरी है।

पाद-टिप्पणी

१. समवायांगसूत्र १५०; तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १३७-३८; आचारांगसूत्र २.१५.१८।
२. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ५७।
३. आदिपुराण १३.१३।
४. महापुराण (पुष्पदन्तकृत), ४३.१०।
५. महापुराण ११.२१।
६. महापुराण ११.२५।
७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.३.५०१-५१४।
८. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ५७।
९. वहीं, पृ० ५७।
१०. वहीं, पृ० ५८।
११. वहीं; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.३.५१५-५२८; हरिवंशपुराण ३८.१७-१९।
१२. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इनके ९ वर्ग हैं।
१३. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इनके १३ वर्ग हैं।
१४. श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें १० वर्गों में विभक्त किया गया है।
१५. श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें १२ वर्गों में विभक्त किया गया है।
१६. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ५८-५९।
१७. वहीं, पृ० ५८।
१८. वहीं, पृ० ५८।
१९. वहीं, पृ० ५८।
२०. वहीं, पृ० ५८।
२१. आदिपुराण ३८.२१८; उत्तरपुराण ६३.१९७–२००।
२२. महापुराण ३१.२१।
२३. हरिवंशपुराण ३८.१७-१९; यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ५९।
२४. महापुराण ११.२१।
२५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, २.३.५२९-५५१।
२६. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ५९।
२७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.३.७५०-७९७।
२८. यू० पी० शाह, 'बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी', सं० पु० प०, अं० ९, पृ० १०।
२९. भगवतीसूत्र ३.१.१३४; अंगविज्जा, अध्याय ५१ (भूमिका–वी० एस० अग्रवाल, पृ० ७८)।

३०. जैन ग्रंथों में इन्द्र के देवेन्द्र और शक्र नामों का भी उल्लेख है।
३१. अभिधानचिन्तामणि २.८४-८८।
३२. स्थानांगसूत्र १, १३।
३३. कल्पसूत्र १४; पउमचरिय ३.७६-८८।
३४. पद्मचरित २.२४३; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ६.७.२३२-२३६।
३५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.२.३३२।
३६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.२.५०३; ६.७.१५; पउमचरिय ३.१२७; पद्मचरित ३.२२१।
३७. महापुराण ३.२०।
३८. वहीं, ४६.१; ४८.९; ६२.१७।
३९. आदिपुराण १२.६९-७६, ८५; १३.४७; १४.२०; उत्तरपुराण ६३.१६९।
४०. आदिपुराण २२.१८।
४१. आदिपुराण २२.१९-२२।
४२. आदिपुराण २३.१६३।
४३. आदिपुराण १४.१०३-१५४; उत्तरपुराण ५०.२३-२४।
४४. यू० पी० शाह, 'माइनर जैन डिटोज़', ज० ओ० ई०, खण्ड–३४, अं० १-२, पृ० ४६।
४५. उत्तरपुराण ५९.५८; महापुराण ५३.१३।
४६. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ४८।
४७. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३३-३४, ६१।
४८. यू० पी० शाह, 'माइनर जैन डिटोज़', खण्ड–३१, अंक ४, जून १९८२, पृ० ३७३।
४९. त्रिलोकसार ८३६-८४१, पृ० ३३४ क्रमशः तिलोयपण्णत्ति १४३९-१४४३, पृ० ३३३।
५०. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ३७३।
५१. वहीं, पृ० ३७३।
५२. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० १६५।
५३. वहीं, पृ० १९३।
५४. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ३७३।
५५. शूलपाणि शिव का ही एक नाम है।
५६. आदिपुराण २५.२१५।
५७. आदिपुराण २५.७३।

५८. आदिपुराण २५.७४ ।
५९. आदिपुराण १७.६५ ।
६०. महापुराण १०.५ ।
६१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.२.३५३, ३६२, ३६३; १.५.५९०; ९.१.३१, ३९६-४०० ।
६२. यू० पी० शाह, 'ब्रह्मशान्ति ऐण्ड कपर्दी यक्षज', जर्नल ऑफ दि एम० एस० यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, खण्ड–७, अं० १, पृ० ६८ ।
६३. हरिवंशपुराण ६०.५४८-५४९ ।
६४. हरिवंशपुराण ६०.५५० ।
६५. हरिवंशपुराण ४२.२-७ ।
६६. उत्तरपुराण ६८.८९-९० ।
६७. उत्तरपुराण ६८.२८२-२८४ ।
६८. हरिवंशपुराश ४२.१२-२३ ।
६९. महापुराण भाग ४, ७३.१० ।
७०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ४.७.३१८-२० ।
७१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ७.४.२८९-९३ ।
७२. यू० पी० शाह, 'माइनर जैन डिटीज़', खण्ड–३१, अं० ४, जून १९८२, पृ० ३७१; । जैन रूपमण्डन, पृ० ७१ ।
७३. उत्तरपुराण ५४.१७५ ।
७४. हरिवंशपुराण ५.३१५-३२७ ।
७५. उत्तरपुराण, ६३.११-१८ ।
७६. महापुराण ४९.५; ५५-४ ।
७७. आदिपुराण १२.८५; (सभी तीर्थंकरों के सन्दर्भ में कुबेर का उल्लेख आदिपुराण व उत्तरपुराण में आता है) ।
७८. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ३७४ ।
७९. वहीं, पृ० ३७४ ।
८०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ७.३.२९८-३०३ ।
८१. वहीं, ७.३.१९४ ।
८२. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० ३७४ ।
८३. हरिवंशपुराण, २९.१-५; द्रष्टव्य मारुतिनन्दन तिवारी, 'जैन मन्दिरों में कामशिल्प', संबोधि, खण्ड–११, अं० १-४, अप्रैल ८२–जनवरी ८३, पृ० १७-२२ ।
८४. मारुतिनन्दन तिवारी, खजुराहो का जैन पुरातत्त्व, पृ० २७-२८ ।

८५. उत्तरपुराण ७०.२७४-९३ ।
८६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ५.८.१४-४८, ११७-२०३ ।
८७. कल्पसूत्र ३७ ।
८८. भगवतीसूत्र ११.११.४३० ।
८९. हरिवंशपुराण, १७.३ ।
९०. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.१.६८७; ४.७.५ ।
९१. पउमचरिय ७.७०; पद्मचरित ७.१५२ ।
९२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.२.२१६; २.२.७४; ४.१.२१९ ।
९३. उत्तरपुराण ५७.१७-३४; महापुराण ५८.५ ।
९४. मारुतिनन्दन तिवारी, खजुराहो का जैन पुरातत्त्व, पृ० ७४-७५ ।
९५. आदिपुराण ३८.२१८; हरिवंशपुराण ५.१२६-१३१; महापुराण ४२.४; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र २.३.५७०-८० ।
९६. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० ३३ ।
९७. विस्तार के लिये द्रष्टव्य, मारुतिनन्दन तिवारी, 'इनवोकेशन ऑव सारस्वत पावर इन जैनिज्म', पैन्थियन्स ऑव पावर विषयक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी (१९८५, लखनऊ) में प्रस्तुत शोध-पत्र ।
९८. यू० पी० शाह, 'माइनर जैन डिटीज', खण्ड-३२, अं० १-२, १९८२, पृ० ८२ ।
९९. प्रतिष्ठासारोद्धार पृ० ३२; प्रतिष्ठातिलक, पृ० १०२-१०३ ।
१००. आदिपुराण ३८.२१८; महापुराण ४२.४; ४३.६ ।
१०१. आदिपुराण ३२.१६६; ४५.१५३-५५ ।
१०२. हरिवंशपुराण ११.४० ।
१०३. महापुराण (पुष्पदन्त) १५.९, ११ ।
१०४. वहीं, १४.१२ ।
१०५. यू० पी० शाह, 'माइनर जैन डिटीज', खण्ड-३१, अं० ३, १९८२, पृ० २७९ ।
१०६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.२.७८५-९३ ।
१०७. आदिपुराण १२.१६२-६४ ।
१०८. हरिवंशपुराण २.२४ ।
१०९. यू० पी० शाह, पू० नि०, पृ० २८१ ।
११०. वहीं, पृ० २८१ ।
१११. जे० पी० एच० वोगल, इण्डियन सर्पेन्ट ऑर दी नागज़ इन दी हिन्दू लीजेण्ड एण्ड आर्ट, लन्दन १९८६ ।

११२. आदिपुराण १८.९६, १४०; उत्तरपुराण ५९.१३६; महापुराण ६५.७ ।
११३. उत्तरपुराण ७३.१३६; यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० १७२ ।
११४. आदिपुराण ४३.८८-९५; उत्तरपुराण ७२.११६-२० ।
११५. उत्तरपुराण ६३.१९७-२०१ ।
११६. सागरमल जैन एवं मारुतिनन्दन तिवारी, जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबली, वाराणसी १९८१, पृ० १ ।
११७. वहीं, पृ० ४ ।
११८. आदिपुराण ३६.३७-४६ ।
११९. सागरमल जैन, पू० नि०, पृ० ६ ।
१२०. आदिपुराण ३६.६६-१०४ ।
१२१. आदिपुराण ३६.१०६-१८५ ।
१२२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.५, ७४०-९८ ।
१२३. मारुतिनन्दन तिवारी, 'ए नोट ऑन सम बाहुबली इमेजेज फ्रॉम नार्थ इण्डिया', ईस्ट ऐण्ड वेस्ट, खण्ड २३, अं० ३-४, १९७३, पृ० ३४७-५३ ।
१२४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० ३४७-५३; हरिवंशपुराण ११.१०१; आदिपुराण ३६.१८३ ।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः ।
बल्लीरुद्वेष्टयामासु मुनेः सर्वांगसांगिनीः ।।

१२५. मारुतिनन्दन तिवारी एवं कमल गिरि, 'इमेजेज ऑव बाहुबली इन एलोरा', एलोरा केव्स स्कल्पचर्स ऐण्ड आर्कीटेक्चर (सं० रतन परिमू), नई दिल्ली १९८८, पृ० ३३८-३४२ ।
१२६. वहीं, पृ० ३४० ।

●

सप्तम अध्याय

स्थापत्य : मन्दिर, समवसरण, राजप्रासाद एवं सामान्य भवन

जैनधर्म में अनेकान्त के अनुरूप जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों पर यथोचित ध्यान दिया गया है। जैन कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्ष रहा है। उसकी समस्त प्रेरणा धार्मिक रही है और उसके द्वारा जैन तत्त्वज्ञान व आचार के आदर्शों को मूर्तिमान रूप देने का प्रयत्न किया गया है।[1] कला का ध्येय जीवन का उत्कर्ष है, यह बात जैन कलाकृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। जैन आगम में उल्लेख है कि बालकों के शिक्षण काल में शिल्प व कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। समवायांगसूत्र में उल्लिखित ७२ कलाओं के अन्तर्गत वास्तुकला का भी उल्लेख है।[2] स्वयं आदितीर्थंकर ऋषभनाथ ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार के साथ ही शिल्प की भी शिक्षा दी थी। मानसार के अनुसार भूमि, हर्म्य (भवन आदि), मान एवं पर्यंक से 'वास्तु' शब्द का बोध होता है। वास्तु की इस चतुर्मुखी व्यापकता की व्याख्या करते हुए प्रसन्न कुमार आचार्य ने वास्तु विश्वकोश (पृ० ४५६) में लिखा है कि हर्म्य में प्रासाद, मण्डप, सभा, शाला तथा रंग सभी सम्मिलित हैं। यान आदि से स्पन्दन, शिबिका एवं रथ का बोध होता है। पर्यंक के अन्तर्गत पंजर, मेंचली, मंच फलकासन तथा बाल-पर्यंक आते हैं। वास्तु शब्द ग्रामों, दुर्गों, पत्तनों, पुरों, पुट-भेदनों, आवास भवनों एवं निवेश्य-भूमि का भी वाचक है। मूर्तिकला भी वस्तुतः वास्तु-कला की ही सहचरी कही जा सकती है।[3]

जैन आगम में वास्तु पाठकों का उल्लेख उपलब्ध है जो नगर निर्माण के लिये इधर-उधर भ्रमण किया करते थे।[4] महापुराण में अभियन्ता के लिये 'स्थपति' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थपति का प्रयोग जैनेतर ग्रन्थ मानसार[5], मयमत[6] और समरांगणसूत्रधार[7] आदि शिल्पशास्त्रों में भी हुआ है। स्थपति ही विभिन्न प्रासादों आदि का निर्माण करते थे।

जैन पुराणों में स्थापत्य के अन्तर्गत नगर विन्यास (परिखा, वज्र, प्राकार, द्वार एवं गोपुर तथा रथ्या), दुर्ग, भवन (सामान्य भवन,

राजप्रासाद, एवं मंदिर) तथा समवसरण के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु प्रस्तुत अध्याय में मंदिर, समवसरण, राजप्रासाद एवं सामान्य भवन अथवा आवासगृह का ही विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। जैन पुराणों में उल्लिखित भवनों के नाम निम्नवत् हैं—गृह, गेह, प्रासाद, आगार, मन्दिर, आलय, सद्म, वेश्म, निलय, चैत्य, कूट, विमान, जिनेन्द्रालय, शाला, पुष्करावर्त, गृहकूटक, वैजयन्तभवन, गिरिकूटक तथा सर्वतोभद्र।[८]

जैन मन्दिर :

जैन मन्दिरों के सन्दर्भ में 'आयतन' शब्द का उल्लेख हुआ है। 'आयतन' का अस्तित्व महावीर के समय में भी था। विहार के समय विश्राम के लिये महावीर के यक्षायतनों में ठहरने के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[९] बाद में आयतन शब्द का प्रयोग जिनायतन के रूप में होने लगा और इसके बाद मन्दिर, चैत्य, आलय, वसति, वेश्म, विहार, भुवन, प्रासाद, गेह, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।[१०] पउमचरिय में राम व रावण द्वारा अनेक स्थलों पर जिन मंदिरों व प्रतिमाओं की स्थापना, पूजन एवं जीर्णोद्धार के उल्लेख हैं।[११] आदिपुराण में जैन मंदिर के लिये 'सिद्धायत' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[१२] अमरकोश में आयतन और चैत्य का एक ही अर्थ बताया गया है।[१३] जैन आगम ग्रन्थों में चैत्य शब्द का प्रयोग देव मंदिर के लिये हुआ है।[१४] आदिपुराण में चैत्यवृक्ष के समीप जिनमंदिर के होने का उल्लेख है।[१५] पद्मपुराण में चैत्यालय को महापवित्र बताया गया। वस्तुतः जिनेन्द्रालय का बृहताकार ही चैत्यालय है।[१६] जिनेन्द्रालय के स्थान पर 'जिनवेश्म' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[१७]

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप निर्माण में, फिर गुफा चैत्यों व विहार में और तत्पश्चात् मन्दिरों के निर्माण में पाया जाता है। जैन परम्परा में मन्दिरों के निर्माण में ही वास्तुकला ने अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया।[१८] पद्मपुराण में प्रत्येक पर्वत, गाँव, पत्तन, महल, नगर, संगम तथा चौराहे पर जैन मंदिर के निर्माण का उल्लेख है।[१९]

किसी भी देश की कला एवं स्थापत्य की नियामक उस देश की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियाँ होती हैं। भारतीय कला लोगों की धार्मिक मान्यताओं व समाज की आर्थिक स्थिति का मूर्त रूप रही हैं। यह तथ्य जैन कला व स्थापत्य के विकास के सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण

है।[२०] विभिन्न कालों में राजकीय एवं राजेतर लोगों के संरक्षण, प्रोत्साहन व प्रश्रय के फलस्वरूप ही जैनधर्म व कला का समुचित विकास देखने को मिलता है।

सर्व प्राचीन जैन मंदिर के चिह्न बिहार में पटना के समीप लोहानीपुर में पाये गये हैं, जहाँ से कुम्रहार और बुलंदीबाग की मौर्यकालीन कलाकृतियों की परम्परा के प्रमाण भी मिले हैं। यहाँ एक जैन मंदिर की नींव मिली है। यह मंदिर ८.१० फुट वर्गाकार था। यहाँ प्राप्त ईंटे मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यहीं से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिनमूर्तियाँ भी मिली हैं जो पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[२१] अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदय या उदयिन को जैनधर्म का अनुयायी बताया गया है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि उसकी आज्ञा से पाटलिपुत्र में एक जैन मंदिर का निर्माण भी हुआ था।[२२]

८वीं से १२वीं शती ई० के मध्य प्रतिहार (ओसियां), परमार, चंदेल (खजुराहो-पार्श्वनाथ, आदिनाथ, घण्टई), चाहमान (बिजौलिया), चौलुक्य (जालौर, तारंगा, कुंभारिया, देलवाड़ा-विमलवसही), चालुक्य (बादामी, अयहोल), राष्ट्रकूट (एलोरा) एवं होयसल (अंसिकेरी, हलेबिड, लक्कुण्डी) जैसे राजवंशों के काल में उत्तर और दक्षिण भारत में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। किन्तु सर्वाधिक जैन मंदिर गुजरात, राजस्थान और मध्यप्रदेश में बने।[२३]

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मन्दिर कर्नाटक के बीजापुर जिले में स्थित बादामी के समीप अयहोल का मेगुटी मंदिर है जिसका निर्माण शिलालेखानुसार ६३४ ई० में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय के राज्यकाल में रविकीर्ति ने करवाया था।[२४]

गुप्तोत्तरकालीन शिल्प शास्त्रों में वास्तुकला की तीन शैलियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं—नागर, द्राविड़ तथा वेसर। अयहोल का मेगुटी जैन मंदिर द्राविड़ शैली का सबसे प्राचीन मंदिर है। द्राविड़ शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति ग्रहण करता है जो ऊपर की ओर क्रमशः सिकुड़ता जाता है और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। छोटी-छोटी स्तूपिकाएँ व शिखराकृतियाँ उसके नीचे के तलों के कोणों पर भी स्थापित की जाती हैं जिससे मंदिर की बाह्याकृति शिखरमय दिखायी देने लगती है।[२५] द्राविड़ शैली के अन्य जैन मंदिरों के उदाहरण तीर्थहल्लि के समीप हुम्मच का जैन मंदिर, पंचकूट बस्ति,

गुड्ड नामक पहाड़ी पर स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर एवं धारवाड़ जिले में लक्कुण्डी नामक ग्राम में स्थित दो जैन मन्दिर हैं। द्राविड़ वास्तुकला का अधिक विकास होयसलकालीन मन्दिरों में देखने को मिलता है। इसके उदाहरण श्रवणबेलगोल से एक मील उत्तर की ओर स्थित जिननाथपुर और अर्सिकेरी के जैन मन्दिरों और हलेबिड में होयसलेश्वर मन्दिर के समीप हल्लि नामक ग्राम में एक ही घेरे में बने तीन जैन मन्दिरों में देखे जा सकते हैं। ये सभी मन्दिर ११वीं-१२वीं शती ई० के हैं।[२८]

गुजरात व राजस्थान में चौलुक्य (या सोलंकी) राजवंश (९६१-१३०४ ई०) का जैन कला के विकास में सर्वाधिक योगदान रहा है। इस राजवंश के शासकों के संरक्षण में कुंभारिया (११वीं–१३वीं शती ई०), तारंगा एवं जालौर में कई जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। कुमारपाल (११४४-७४ ई०) ने तारंगा (महेसाणा) में अजितनाथ और जालौर के कांचनगिरि (सुवर्णगिरि) पर पार्श्वनाथ मंदिरों का निर्माण कराया।[२७] चौलुक्य शासकों के अतिरिक्त मंत्रियों, सेनापतियों एवं अन्य विशिष्ट जनों और व्यापारियों ने भी अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराकर जैन कला को अपना समर्थन प्रदान किया। ऐसे मन्दिरों में देलवाड़ा स्थित विमलवसही व लूणवसही मुख्य हैं। राजस्थान के अनेक जैन मन्दिरों में ८वीं शती ई० का जोधपुर स्थित ओसियां का प्रतिहार-कालीन महावीर मंदिर प्रारम्भिकतम है। चाहमान शासकों के समय में नाडोल में नेमिनाथ, शान्तिनाथ एवं पद्मप्रभ मन्दिरों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य शासकों द्वारा जैन मन्दिरों के लिये दान देने का उल्लेख भी मिलता है।[२८] राजस्थान के वैश्यों ने भी अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। उत्तर प्रदेश में देवगढ़ का मन्दिर–१२ (शान्तिनाथ मन्दिर–८६२ ई०) जैन स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है।

मध्यप्रदेश में व्यापारिक समृद्धि तथा विभिन्न राजवंशों के धर्म-सहिष्णु शासकों के प्रश्रय के फलस्वरूप अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। प्रतिहार शासकों के काल में ही १०वीं शती ई० के प्रारम्भ में ग्यारसपुर में मालादेवी जैन मन्दिर का निर्माण हुआ। खजुराहो के जैन मन्दिरों के अतिरिक्त चन्देल राज्य में सर्वत्र प्राप्त होने वाली जैन मूर्तियाँ एवं मन्दिर जैन धर्म के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण की पुष्टि करते हैं।[२९] खजुराहो के पार्श्वनाथ, आदिनाथ, घण्टई व शान्तिनाथ मन्दिरों में

पार्श्वनाथ सबसे बड़ा है। वर्तमान में सान्धार शैली के इस मन्दिर (ल० ९५०–७० ई०) में अर्धमण्डप, महामण्डप, अन्तराल व गर्भगृह सुरक्षित हैं और वे एक ही प्रदक्षिणा मार्ग से घिरे हुए हैं। गर्भगृह से सटकर पीछे पश्चिम की ओर एक पृथक् देवालय भी बना हुआ है जो इस मन्दिर की एक अभिनव विशेषता है। मंडप की छत का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य में लोलक को बेलबूटों व उड़ती हुई मानवाकृतियो से अलंकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुडवाहिनी दशभुजी चक्रेश्वरी की मूर्ति तथा गर्भगृह की बाह्य भित्तियों पर अप्सराओं, जिनों एवं ब्राह्मण देवों की मनोहारी मूर्तियाँ उकेरी हैं।[३०] खजुराहो के जैन मन्दिरों में शिखर की रचना को विशेष महत्त्व दिया गया है।

जैनधर्म को ग्वालियर व दुबकुण्ड के कच्छपघाट शासकों का भी समर्थन प्राप्त था जिसके फलस्वरूप जैन मन्दिरों के लिये इनके द्वारा दान दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[३१] कल्चुरी शासकों द्वारा जैन धर्म के समर्थन से सम्बन्धित बहुरिबन्ध लेख के अनुसार गयाकर्ण के राज्य में सर्वधर के पुत्र महाभोज द्वारा शान्तिनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया गया।[३२]

जैन तीर्थों में सौराष्ट्र प्रदेश के शत्रुञ्जय (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मन्दिर हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं हैं। शत्रुञ्जय माहात्म्य के अनुसार यहाँ प्रथम तीर्थंकर के काल से ही जैन मन्दिरों का निर्माण होता आया है।[३३] सौराष्ट्र का दूसरा महान तीर्थक्षेत्र गिरनार (अर्जयन्त या रैवतक) है जहाँ नेमिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया। जैन ग्रन्थों में भी मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में जिनसेन ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक संवत् ७०५ (७८३ ई०) से उन्होंने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ मंदिर) की अन्नराज–वसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसके शेष भाग को वहीं के शान्तिनाथ मंदिर में पूरा किया। इससे वर्धमानपुर में (वर्तमान बदनावर) ८वीं शती ई० में ही पार्श्वनाथ एवं शान्तिनाथ के दो जैन मंदिरों का होना सिद्ध होता है। यह मन्दिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा।[३४] गिरनार के तीर्थ का सर्वप्राचीन उल्लेख समन्तभद्रकृत वृहत्वयंभूस्त्रोत (ल० ५वीं शती ई०) में मिलता है जिसके अनुसार समन्तभद्र के समय अर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ की मूर्ति

या चरणचिह्न प्रतिष्ठित था और शिखर पर अंबिका की मूर्ति थी। वर्तमान में यहाँ सबसे प्रसिद्ध व विशाल जैन मंदिर नेमिनाथ मंदिर है जिसका निर्माण चालुक्य नरेश जयसिंह के दंडाधिप सज्जन ने ११८५ ई० में कराया था।[३५] यहाँ का दूसरा उल्लेखनीय मंदिर वस्तुपाल द्वारा निर्मित मल्लिनाथ तीर्थंकर का है।

जैन मंदिर को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—घर देरासर (या गृह मंदिर) और पाषाण या काष्ठ में निर्मित मंदिर। घर देरासर गुजराती जैन समाज की अपनी एक विशेषता है और ऐसा मंदिर प्रायः प्रत्येक घर में होता है। गुजरात व दक्षिण भारत के हिन्दू घरों में भी गृह-मंदिर होते हैं। किन्तु जैन देरासरों की अपनी पृथक् विशेषताएँ हैं। घर में इन देरासरों का निर्माण पाषाण या काष्ठ निर्मित मंदिरों की लघु अनुकृति के रूप में परिवार के सदस्यों द्वारा किया जाता है। सूक्ष्म शिल्पांकन और रंगों आदि से इनका अलंकरण भी होता है। पाषाण या काष्ठ निर्मित प्रत्येक जैन मंदिर के चारों ओर सामान्यतः प्राचीर होती है जिसके अन्तर्भाग में तीर्थंकरों के देवकोष्ठ होते हैं।[३६]

ब्राह्मण मंदिरों की ही भाँति जैन मंदिरों के भी दो मुख्य भाग होते हैं—मण्डप (या गूढ़ मण्डप) जिसमें भक्त एकत्र होते हैं और मुख्य मंदिर (गर्भालय या गर्भगृह या मूलप्रासाद) जिसमें इष्टदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है। मण्डप की संयोजना पंक्तिबद्ध स्तम्भों पर होती है। वे तोरणों व धरनों को आश्रय प्रदान करते हैं जिनपर विस्तृत अलंकरण होते हैं।[३७] मण्डप के कई भेद हैं—(१) प्रासाद कमल (गर्भगृह या मंदिर का मुख्य भाग), (२) त्रिकमण्डप (जिसमें स्तम्भों की तीन-तीन पंक्तियों द्वारा तीन आड़ी और तीन खड़ी वीथियाँ होती हैं), (३) गूढ़-मण्डप (भित्तियों से घिरा हुआ मण्डप), (४) रंगमण्डप (या सभामण्डप), (५) सतोरण बलानक (मेहराबदार चबूतरे)।[३८] शिखर के रूप में वर्तालुकार छत होती है जो ऊपर की ओर ऊँची होती जाती है। आदिपुराण में जिन मंदिर के शिखर के अग्रभाग पर वायु से हिलती पताकाओं का उल्लेख है।[३९] जैन मंदिरों के द्वार की चौड़ाई ऊँचाई की आधी और चौखट पर यथोचित स्थान पर तीर्थंकरों, प्रतिहार युगल, मदनिका आदि की आकृतियों को उत्कीर्ण करने का उल्लेख है। जगती को आधार मानकर ही मंदिर का निर्माण होता है।[४०]

आदिपुराण में ऊँचे मणिमय शिखरों से युक्त जिन मंदिर का उल्लेख

है जिसकी दीवारों पर काले, पीले, नीले, लाल आदि रंगों से अनेक चित्र बने हुए थे। मंदिर में झरोखों, भीतर लटकते हुए घण्टों तथा मजबूत स्तम्भों का भी उल्लेख है।[४१] आदिपुराण में एक अन्य स्थल पर ऊँचे शिखरों व रत्नों की कांति से शोभायमान जिनेन्द्र देव के चैत्यालय का उल्लेख है जिसमें जिनेन्द्रदेव की सुवर्णमयी प्रतिमा थी।[४२] उत्तरपुराण में नगर के बाहर मनोहर नामक उद्यान में हजार शिखरों से युक्त जिन मंदिर का उल्लेख है जिसके समीप ही स्वच्छ जल एवं खिले हुए कमलों से शोभायमान सरोवर थे।[४३] इससे स्पष्ट होता है कि जैन मंदिर ऊँचे व अनेक शिखरों से युक्त होते थे तथा उनके समीप ही स्वच्छ जल के सरोवर भी होते थे। जैन पुराणों में पर्वत पर भी जैन मंदिरों के निर्माण का उल्लेख हुआ है।[४४] हरिवंशपुराण में विजयार्धपर्वत के सिद्धायतन नामक कूट पर सिद्धकूट नामक एक विशाल जिन मंदिर का उल्लेख है जो पौन कोश ऊँचा, आधा कोश चौड़ा तथा एक कोश लम्बा था।[४५] हरिवंशपुराण में ही एक अन्य स्थल पर चार दिशाओं में निर्मित पच्चीस योजन लम्बी, साढ़े बारह योजन चौड़ी, आधा कोश गहरी तथा पौने उन्नीस योजन ऊँचे जिनालयों का उल्लेख हुआ है। इन जिनालयों में देवछन्द नामक एक गर्भगृह का उल्लेख है जो देदीप्यमान रत्नों से निर्मित विशाल स्तम्भों, सुवर्णमयी दीवारों तथा उन पर बने चन्द्र, सूर्य, उड़ते हुए पक्षी एवं हरिण-हरिणियों के युग्म से अलंकृत था। गर्भगृह में सुवर्ण व रत्नों से निर्मित पाँच सौ धनुष ऊँची, एक सौ आठ जिन प्रतिमाएँ थीं जिनके पास चामरधारी नागकुमार एवं यक्षों के युगल खड़े थे। समस्त प्रतिमाएँ सनत्कुमार, यक्ष तथा निवृत्ति एवं श्रुत देवी की मूर्तियों से युक्त थीं। जिनालयों में झरोखे, गृह जालियाँ, मोतियों की झालर तथा घंटियों का उल्लेख है। प्रत्येक जिन मंदिर में सुवर्णमय एक-एक कोट एवं चारों दिशाओं में पचास योजन ऊँचे गोपुर से युक्त चार तोरणद्वार होते थे जिनपर सिंह, हंस, गज, पद्म, वृषभ, मयूर, गरुड, चक्र और माला के चिह्नों से चिह्नित ध्वजाओं के फहराने का उल्लेख है। चैत्यालयों के आगे विशाल सभामण्डप, उसके आगे लम्बा चौड़ा प्रक्षागृह, स्तूप और स्तूप के आगे पद्मासन में विराजमान प्रतिमाओं से सुशोभित चैत्यवृक्ष व जिनालय के पूर्व दिशा में शुद्ध जल से पूर्ण सरोवर का भी वर्णन मिलता है।[४६] पद्मपुराण के अनुसार जिन मंदिरों में जिनेन्द्रदेव आदि के चित्र भित्तियों पर निर्मित होते थे। अलंकृत द्वार के दोनों किनारों पर कलश रहते थे। मंदिर को सुन्दर ढंग से सुसज्जित

किया जाता था।[४७] दिगम्बर जैन परम्परा में 'मानक स्तम्भ' अथवा 'मानवस्तम्भ' नाम से सम्बोधित स्तम्भ की प्रथा थी।[४८]

जैन पुराणों के अनुसार जैन मंदिर नृत्य व संगीत की प्रस्तुति के भी स्थल थे।[४९] जैन मंदिरों में रंगमण्डप इसी उद्देश्य की पूर्ति करते थे। हरिवंशपुराण में मंदिरों में छत्र, चामर, भृंगार, कलश, ध्वज, दर्पण, पंखा और टोराइन इन आठ मांगलिक वस्तुओं का भी उल्लेख है।[५०]

समवसरण :

समवसरण एक देव निर्मित सभागार है जहाँ कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक जिन अपना पहला उपदेश देते हैं और देवता, मनुष्य एवं परस्पर शत्रु भाव वाले वन्य प्राणी आपस का वैर-भाव भूलकर उस उपदेश का श्रवण करते हैं।[५१] महापुराण के अनुसार समवसरणों का निर्माण इन्द्र ने किया था। सातवीं शती ई० के बाद जैन ग्रन्थों में जिन समवसरणों के विस्तृत उल्लेख हैं।[५२] आदिपुराण में उल्लेख है कि—इसमें समस्त सुर-असुर आकर दिव्य ध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसलिये गणधर आदि देवों ने उसको 'समवसरण' जैसा सार्थक नाम दिया।[५३]

जैन पुराणों में समवसरण की रचना का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।[५४] सूर्यमण्डल की भाँति वर्तुलाकार रचना, एक ऐसी वास्तु-कृति के सदृश है जिसे विशाल सोद्यान-प्रेक्षागृह कह सकते हैं किन्तु इसका प्रसार बारह योजन होता था।[५५] समवसरण के निर्माण विधि का सुन्दर, भव्य एवं विस्तृत वर्णन पद्मपुराण[५६], हरिवंशपुराण[५७] और आदिपुराण[५८] में मिलता है। इनमें समवसरण सम्बन्धी सामान्य भूमि, सोपान, वीथि, धुलिशाल, चैत्यप्रासाद, नृत्यशाला, मानस्तम्भ, स्तूप, मण्डप तथा गंधकुटी आदि के विन्यास, प्रमाण एवं आकार आदि का वर्णन हुआ है।

समवसरण की रचना लगभग १२ योजन आयाम में सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार होती है। समवसरण की भूमि स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची, कमल के आकार की तथा इन्द्रनील मणि से निर्मित होती थी। समवसरण का पीठ इतना ऊँचा होता था कि वहाँ तक पहुँचने के लिये चारों दिशाओं में एक-एक हाथ ऊँची दो सौ सीढ़ियाँ होती थीं। इस भूमि के चारों महादिशाओं में चार महावीथियाँ होती थीं।[५९]

इसके चारों ओर धूलिशाल होता था जिसकी तुलना चहारदीवारी

से की जा सकती है। ये सुवर्ण के स्तम्भों के अग्रभाग पर लगे रत्नों के तोरणों से देदीप्यमान होते थे।[६०] धूलिशाल के चारों दिशाओं में विजय, वैजयन्त, जयन्त व अपराजित नामक गोपुरद्वार होते थे। ये नाम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्थापत्य के सन्दर्भ में वर्णित नामों का स्मरण कराते हैं। वीथियों के मध्य में चार 'मानस्तंभों' का निर्माण किया जाता था जिन पर सुवर्ण व रत्नमयी मूर्तियाँ होती थीं।[६१] मानस्तम्भ का मूल भाग हीरे का, मध्यभाग स्फटिक का तथा अग्रभाग वैदूर्यमणि का बना होता था। मानस्तम्भ आकार में गोल चार गोपुरद्वारों तथा ध्वजा-पताकाओं से युक्त एक कोट से घिरा होता था। इसके चारों ओर सुन्दर वनखण्ड में सोम, यम, वरुण और कुबेर के रमणीक क्रीड़ा नगर होते थे। मानस्तंभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठों पर स्थापित होता था। इसके चारों ओर चंवर, घण्टा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओं की शोभा होती थी। मानस्तम्भ के शिखर पर चारों ओर अष्टप्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र प्रतिमा होती थी। प्रत्येक मानस्तम्भ के चारों दिशाओं में एक-एक वापिका होती थी।[६२] जिस जगती पर मानस्तम्भ होता था वह जगती चार-चार गोपुरद्वारों से युक्त व तीन कोटों से घिरी होती थी। उसके मध्य में एक पीठिका होती थी जिस तक पहुँचने के लिये सुवर्ण की १६ सीढ़ियाँ होती थीं। मनुष्य, देव, मानव आदि सभी उसकी पूजा करते थे।[६३] मानस्तम्भों के मूलभाग में जिनेन्द्र की सुवर्ण-मय प्रतिमाएँ होती थीं।

जगती के मध्य में तीन कटनीदार एक पीठ होता था। उस पीठ के अग्र भाग पर ही मानस्तम्भ प्रतिष्ठित किए जाते थे। इनका मूल भाग बहुत सुन्दर होता था और वे सुवर्ण से बहुत ऊँचे निर्मित किए जाते थे। उनके मस्तक पर तीन छत्र (इन्द्रध्वज) होते थे।[६४] मानस्तम्भ के समीप-वर्ती भू-भाग में, प्रत्येक दिशा में चार-चार बावड़ियाँ होती थीं। ये बावड़ियाँ स्वच्छ जल व पद्म से युक्त होती थीं। इन बावड़ियों में मणियों की सीढ़ियाँ लगी होती थीं और किनारे की ऊँची जमीन स्फटिक मणि की होती थी।[६५] बावड़ियों से थोड़ी दूर हटकर समवसरण के चारों ओर स्वच्छ जल, जलचरों एवं जलजों से युक्त परिखा होती थी। इसका भीतरी भाग लतावन से घिरा होता था। वह लतावन, लताओं, झाड़ियों सभी ऋतुओं में पुष्पित होने वाले वृक्ष आदि से शोभायमान होता था।[६६]

लतावन के भीतर की ओर समवसरण को चारों ओर से घेरे हुए

सुवर्णमय कोट होता था। यह कोट मोती, मूंगा व पद्मरागमणियों से जटित एवं कल्पलताओं आदि से चित्रित होता था। कोट के चारों दिशाओं में रजत निर्मित चार बड़े-बड़े ऊँचे शिखरों व तीन खण्ड वाले गोपुरद्वार होते थे। इन गोपुरद्वारों पर भृंगार, कलश और दर्पण आदि एक सौ आठ मंगल द्रव्य शोभित होते थे। ये द्वार आभूषणों से युक्त सौ-सौ तोरणों और पास में रखे ९ निधियों से युक्त होते थे।[६७]

प्रत्येक दिशाओं के गोपुरद्वार के भीतरी मार्ग में दो-दो नाट्यशालाएँ होती थीं जो तीन खण्डों की होती थीं। इनमें देव कन्यायें नृत्य करती थीं।[६८] नाट्यशाला से कुछ आगे चलकर दो धूपघट होते थे। धूपघटों से कुछ आगे चलकर मुख्य गलियों के बगल में अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक व आम के वृक्षों व पुष्पों से युक्त चार-चार वनवीथियाँ होती थीं। उन वनों के भीतर कहीं त्रिकोणात्मक और कहीं चौकोर बावड़ियाँ होती थीं। इन वनों में कहीं कमलों से युक्त छोटे-छोटे तालाब, कहीं कृत्रिम पर्वत, कहीं दो-तीन खण्डों के मनोहर महल, कहीं क्रीड़ा मण्डप और कहीं अजायबघर बने होते थे।[६९] अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक व आम्र वृक्षों के स्वामी उसी जाति के चैत्य वृक्ष होते थे जिनके मूल भाग में जिनेन्द्रदेव की चार प्रतिमाएँ होती थीं। सम्भवतः इन वृक्षों के मूल भाग में जिनेन्द्र की प्रतिमा स्थापित होने के कारण ही इन्हें चैत्य वृक्ष के नाम से सम्बोधित किया गया।[७०]

वन के अन्त में चारों ओर एक-एक सुवर्णमयी व रत्न जटित वन वेदी होती थी। इस वन वेदी के गोपुरद्वार चांदी के बने हुए तथा अष्ट-मंगल द्रव्य, संगीत, वाद्य, नृत्य व रत्नमय तोरणों से सुशोभित होते थे। इन् वेदिकाओं के आगे सुवर्णमय स्तम्भों के अग्रभाग पर माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, वृषभ, गज और चक्र से चिन्हित ध्वजाओं की पंक्तियाँ होती थी। प्रत्येक दिशा में एक ही प्रकार की १०८ ध्वजाएँ होती थीं। चारों दिशाओं में कुल चार हजार तीन सौ बीस ध्वजायें होती थीं।[७१] इन ध्वजाओं के उपरान्त पूर्ववत् चाँदी का बड़ा कोट होता था जो गोपुरद्वारों, नौ निधियों, नाट्यशालाओं, धूपघट व कल्प-वृक्षों के वन से सुशोभित होता था।[७२]

कोट के गोपुरद्वारों के भीतर की ओर सुवर्ण व चन्द्रकान्तमणियों से निर्मित और अनेक प्रकार के रत्नों से चित्रित दो-तीन-चार अट्टालिकाओं व शिखरों से युक्त मकानों की पंक्तियाँ होती थीं। महावीथियों के

मध्य भाग में नौ-नौ स्तूप होते थे। अत्यन्त ऊँचे पद्मराग मणियों से निर्मित ये स्तूप तीर्थंकरों और सिद्धों की प्रतिमाओं से युक्त तथा छत्र एवं आठ मंगल द्रव्यों और ध्वजाओं से शोभित होते थे।[७३]

स्तूप के आगे स्फटिक मणि व नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित सात खण्डों वाले चार गोपुरद्वारों से सुशोभित तीसरा कोट होता था। तीनों कोटों के गोपुरद्वारों पर गदा आदि से युक्त व्यन्तर, भवनवासी और कल्पवासी देव द्वारपाल के रूप में उपस्थित होते थे। उस कोट से लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी और महावीथियों के अन्तराल में सोलह दीवारें होती थीं जो समवसरण के बारह सभाओं का विभाजन करती थीं।[७४] उन दीवारों के ऊपर रत्नमय स्तम्भों पर आकाश स्फटिक मणि का बना श्रीमण्डप होता था। समवसरण में जिन तीन पीठों का निर्माण होता था उनमें प्रथम पीठ पर चार हजार धर्मचक्र, द्वितीय पर आठ प्रकार की महाध्वजाएँ तथा तृतीय पीठ पर श्रीमण्डप को सुशोभित करने वाला अनेक मंगलद्रव्यों सहित गन्धकुटी होता था जिस पर जिनेन्द्रदेव का सिंहासन होता था।[७५] गन्धकुटी के आसपास बारह श्रीमण्डप होते थे जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक योजन होती थी।[७६] ये प्रत्येक दिशा में वीथिपथ को छोड़कर ४-४ भित्तियों के अन्तराल से तीन-तीन होते थे और उनकी ऊँचाई तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई से १२ गुनी होती थी। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमशः पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से—(१) गणधरों, (२) कल्पवासिनी देवियों, (३) आर्यिका व श्राविकाओं, (४) ज्योतिषी देवियों, (५) व्यन्तर देवियों, (६) भवनवासिनी देवियों, (७) भवनवासी देवों, (८) व्यन्तर देवों, (९) ज्योतिषी देवों, (१०) कल्पवासी देवों व इन्द्रों, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यों एवं (१२) गज सिंह आदि समस्त तीर्यंच जीवों के बैठने के लिए नियत होते थे।

श्रीमण्डप के बीचोबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गंधकुटी की रचना होती थी जिसका आकार चौकोर होता था। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के गंधकुटी की ऊँचाई ७५ धनुष अर्थात लगभग ५०० फुट बतलाई गयी है।[७७] गन्धकुटी के मध्य भाग में उत्तम सिंहासन होता था जिसपर विराजमान होकर तीर्थंकर अपना पहला धर्मोपदेश देते थे। गन्धकुटी चारों ओर लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियों की झालरों एवं सुवर्णमयी मोटी व लम्बी जाली से सुशोभित होती थी। ऋषभदेव के गन्धकुटी को ६००

धनुष चौड़ी, उतनी ही लम्बी तथा चौड़ाई से कुछ अधिक ऊँची बताया गया है।[७८] गन्धकुटी के मध्य में स्थित सिंहासन सुवर्ण निर्मित वअनेक प्रकार के रत्नों से जटित होता था।[७९]

इस प्रकार वीथिका, महावीथिका, कोट, धूलिशाल, नाट्यशाला, ध्वजाभूमि, चैत्यवृक्ष व स्तूप, श्रीमण्डप व गन्धकुटी से युक्त समवसरण सभा न केवल जैन परम्परा में धार्मिक महत्व का है बल्कि जैन स्थापत्य का भी एक उत्कृष्ट नमूना है। इन समवसरणों के मूर्त उदाहरण केवल ११वीं से १३वीं शती ई० के मध्य के कुम्भारिया (महावीर व शान्तिनाथ मंदिर), विमलवसही एवं कैम्बे आदि श्वेताम्बर स्थलों पर ही मिले हैं।[८०]

समवसरणों के उत्कीर्णन में ऊपर वर्णित विशेषताएँ ही दरशाही गयी हैं।[८१] सभी समवसरण तीन वृत्ताकार प्राचीरों वाले भवन के रूप में निर्मित हैं। इनके ऊपरी भाग अधिकांशतः मंदिर के शिखर के रूप में प्रदर्शित हैं। समवसरणों में पद्मासन में बैठी जिनों की चार मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण रहती हैं। लांछनों के अभाव में समवसरणों की जिन मूर्तियों की पहचान सम्भव नहीं है। सामान्य प्रातिहार्यों से युक्त जिन मूर्तियों में कभी-कभी यक्ष-यक्षी भी निरूपित रहते हैं। प्रत्येक प्राचीर में चार प्रवेशद्वार और द्वारपालों की मूर्तियाँ होती हैं। भित्तियों पर देवताओं, साधुओं, मनुष्यों एवं पशुओं की आकृतियाँ बनी रहती हैं। दूसरे और तीसरे प्राचीरों की भित्तियों पर सिंह-गज, सिंह-मृग, सिंह-वृषभ, मयूर-सर्प और नकुल-सर्प जैसे परस्पर शत्रुभाव वाले पशुओं के युगल अंकित होते हैं।

ग्यारहवीं शती ई० का एक खण्डित समवसरण कुम्भारिया के महावीर मंदिर की देवकुलिका में है। इस समवसरण के प्रत्येक प्राचीर के प्रवेशद्वारों पर दण्ड और फलधारी द्विभुज द्वारपालों की मूर्तियाँ हैं। ग्यारहवीं शती ई० का एक उदाहरण मारवाड़ के जैन मंदिर से मिला है और सम्प्रति सूरत के जैन देवालय में प्रतिष्ठित है। विमलवसही की देवकुलिका में ल० बारहवीं शती ई० का एक समवसरण है। इसमें ऊपर की ओर चार ध्यानस्थ जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सभी जिनों के साथ यक्ष-यक्षी निरूपित हैं। बारहवीं शती ई० का एक अन्य समवसरण कैम्बे से मिला है। कुम्भारिया के शान्तिनाथ मंदिर की देवकुलिका में १२०९ ई० का एक समवसरण है। चार ध्यानस्थ जिन मूर्तियों के अतिरिक्त इसमें २४ छोटी जिन मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। पाँच और सात सर्पफणों के छत्रों से युक्त दो जिन मूर्तियाँ सुपार्श्व और पार्श्व की हैं।

राजप्रासाद एवं सामान्य भवन :

जैन पुराणों में भवन निर्माण कला के सम्बन्ध में अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। पद्मपुराण व आदिपुराण में तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा शिल्प-कला की शिक्षा प्रजा को दिये जाने का उल्लेख है।[८२]

पद्मपुराण में नगर में निवास हेतु गृह, आगार (छोटे महल), प्रासाद (बड़े महल) तथा सद्म (बड़े महल) आदि शब्दों का प्रयोग आया है।[८३] इनकी चूने से पुताई की जाती थी।[८४] महलों की भित्तियों पर काले, पीले, नीले, लाल एवं हरे इन पाँच रंगों के चूर्ण से बेलकूटे चित्रित किये जाते थे। शुभ एवं मांगलिक अवसरों पर द्वारों पर जल से परिपूर्ण कलश रखे जाते थे और मालाएं व अच्छे-अच्छे वस्त्रों द्वारा शोभार्थ उन्हें सुसज्जित करते थे।[८५]

जैन पुराणों में राजप्रासादों की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। हरिवंशपुराण में चन्द्रकान्त व पद्मराग—मणियों से युक्त व शंख के समान श्वेत महल का उल्लेख है जो नगर के मध्य में स्थित था। इसके द्वार के तोरण हीरे के और द्वार सुवर्ण तथा रत्नमय थे। उसके चारों ओर उसी के समान विस्तार वाले और भी बहुत से भवनों के होने का उल्लेख है।[८६] हरिवंशपुराण में एक अन्य स्थल पर अनेक खण्डों, सुवर्णमय प्राकार तथा गोपुरों, मणिमय फर्श, अन्तःपुर वापिका तथा बाग आदि से विभूषित राजप्रासादों का वर्णन है।[८७] राजप्रासादों में ऊँचे-ऊँचे व सुवर्ण के कलश से युक्त शिखरों का निर्माण किया जाता था।[८८] राजभवनों का मुख पूर्व दिशा की ओर होता था एवं इसमें अनेक प्रकार की गलियाँ, कोट, शृंगार-गृह इत्यादि होते थे। राजभवन के चारों ओर चार दरवाजों, कोट व गोपुरद्वारों से सुशोभित बहुत बड़ा और चौकोर स्वयंवर-महाभवन होता था। राजप्रासादों के धरातल पक्के व नीलमणियों से जटित होते थे।[८९] राजा के दरबार में अनेक गोपुर, कोठ, सभाभवन, शालाएँ, कूट, प्रेक्षागृह तथा कार्यालय आदि का होना अनिवार्य था।[९०] राजभवन में एक बाह्य दरवाजा और अन्दर जाकर मणिमय धरातल से सुशोभित सभाभवन होता था। सभाभवन के मध्य में रत्नजटित स्तंभों से युक्त रत्नमण्डप होता था जिसपर रेशमी वस्त्रों के चंदोवे ताने जाते थे तथा मोतियों व मणियों से युक्त लम्बे-लम्बे फानूस लटकाये जाते थे। रत्नमण्डप में स्थित ऊँचें सिंहासन पर राजा सुशोभित होता था।[९१] राजप्रासाद ऊँचे होते थे और उनके शिखरों के अग्रभाग

पर ध्वजाएँ फहराती थीं।[९२] राजमहल श्रेष्ठ वृक्षों से युक्त उद्यानों में स्थित होते थे।[९३] राजभवन की भूमि को चाँदी तथा सुवर्ण के लेप से सुन्दर बनाया जाता था।[९४] राजप्रासादों के दरवाजे बड़े-बड़े रत्नों से जटित तथा विशाल आकार के होते थे।[९५] प्रासाद से संलग्न प्रमोदवन[९६] का निर्माण होता था जिसमें राजा अवकाश काल में अपने प्रियजनों के साथ मनोविनोद किया करता था।

भवनों के प्रमुख अंग :

जैन पुराणों में वर्णित भवनों के उल्लेखों के आधार पर इनके निम्न-लिखित प्रमुख अंग माने जा सकते हैं—

१. **द्वार :** प्रासाद के द्वार ऊँचे प्राकार तथा रंग-बिरंगे तोरणों से सुशोभित होते थे। इन पर देदीप्यमान बेलबूटे उकेरे जाते थे।[९७] ये द्वार विशाल होते थे। इनके निर्माणार्थ काष्ठ, रत्न, मणि एवं सुवर्ण का प्रयोग किया जाता था।[९८] द्वार अभ्यान्तर एवं बाह्य दो प्रकार के होते थे।[९९]

२. **स्तम्भ :** स्तम्भ भवनों के एक प्रमुख अंग थे जिनका निर्माण ईंट व पत्थर के अतिरिक्त सुवर्ण तथा रत्नों से भी किया जाता था।[१००]

३. **आस्थान-मण्डप :** जैन पुराणों में आस्थान-मण्डप शब्द का प्रयोग मिलता है।[१०१] हर्षचरित में इसको आस्थान, राजसभा, सभा तथा सभा-मण्डल की संज्ञा दी गयी है। राजा 'आस्थान-मण्डप' में बैठकर विचार-विमर्श करते थे।[१०२]

४. **अन्य मण्डप :** जैन पुराणों में लता-मण्डप, आस्थायिका, आहार-मण्डप, कुन्द-मण्डप तथा सन्नाह-मण्डप आदि का उल्लेख आया है।[१०३] आहार-मण्डप का प्रयोग भोजन करने व सन्नाह-मण्डप आयुधशाला के रूप में शस्त्रास्त्र व वाद्य-यंत्र रखने के लिये प्रयुक्त होता था।[१०४]

५. **सभा :** पद्मपुराण में सभा के लिये सदम शब्द का प्रयोग है। राजसभाओं के चारों ओर विशाल खुला मैदान होता था जहाँ बहुत से लोग बैठते थे। यह मैदान राजमहल से आवृत्त रहता था तथा इसके गवाक्षों से स्त्रियाँ सभा के कार्यकलापों का अवलोकन करती थीं।[१०५]

६. **गवाक्ष :** पद्मपुराण में गवाक्ष के लिये वातायन, जालक व मणि-जालक शब्द प्रयुक्त हुआ है। गवाक्ष जाल के समान व मणिजटित होता था।[१०६]

७. **दीर्घिका** : यह एक लम्बी नहर होती थी जो राजमहलों से होती हुई गृहोद्यान तक जाती थी। इसके मध्य में क्रीड़ा-वापियाँ निर्मित की जाती थीं। उत्तम उद्यानों के मध्य स्थित, फूलों से सुशोभित, उत्तम सीढ़ियों से युक्त एवं क्रीड़ा के योग्य दीर्घिकाओं का उल्लेख पद्मपुराण में मिलता है।[१०७]

८. **धारागृह** : राजप्रासादों में धारागृह होते थे जिसमें कइ स्थानों पर फव्वारें निर्मित होते थे।[१०८]

भवन के प्रकार और स्वरूप :

जैन पुराणों में गृह या गेह,[१०९] प्रासाद, आगार, मन्दिर, आलय, सद्म, वेश्म, निलय, चैत्य, कूट, विमान, जिनेन्द्रालय, शाला, पुष्करावर्त, गृह-कूटक, वैजयन्त-भवन, गिरिकूटक और सर्वतोभद्र नामक भवनों के उल्लेख मिलते हैं।[११०] निर्माण व उपयोगिता की दृष्टि से पृथक होने के कारण ये अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

आवास गृहों का निर्धारण व निर्माण सतर्कता पूर्वक स्थापत्य के सिद्धांतों और नैमित्तिक विधानों के अनुरुप ही करने का उल्लेख है : उदाहरणार्थ—गृह का अग्रभाग पृष्ठभाग से संकरा और नीचा होना उत्तम होता है। मुख्यद्वार पूर्व में, पाकशाला (दक्षिण-पश्चिम कोण) में, शयनगार दक्षिण में, शौचालय (नीहार स्थान) दक्षिण-पूर्व कोण में, कोषागार उत्तर में और धर्म स्थान उत्तर-पूर्व से होना चाहिये। आवासगृह का विस्तार गृहस्वामी की प्रतिष्ठा के अनुकूल होना चाहिये।[१११]

१. **गृह या गेह** : गृह या गेह का एक ही अर्थ है। पद्मपुराण में गृह और वेश्म का प्रयोग प्रासाद के अर्थ में हुआ है।[११२] आदिपुराण के अनुसार पक्के मकानों के शिखरों पर पताकाएँ फहराई जाती थीं तथा प्रत्येक घर में कमलों से युक्त वापिकाएँ होती थीं।[११३] गृह के वातायन सड़क की ओर खुलते थे और गृह की छत पर आलिन्द (झरोखे) होते थे। गृह के द्वार पर मकर, देव, मुनि, पशु-पक्षी, पुष्पलता, पल्लव, मत्स्य आदि की आकृतियाँ बनायी जाती थीं।[११४]

२. **सद्म** : पद्मपुराण में सभा, वापिका, विमान तथा बाग-बगीचों से युक्त भवन को सद्म संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। इसमें राजभवन को राजसद्म कहा गया।[११५]

३. **वेश्म** : वेश्म शब्द भी गृह का ही बोधक है।

४. **आगार** : इसका प्रयोग भी गृह के ही अर्थ में हुआ है। पद्मपुराण में प्रसवागार का उल्लेख है।[११६]

५. **आलय** : आलय शब्द भी गृह से ही सम्बन्धित है।

६. **स्नानागार** : आदिपुराण में राजप्रासाद के अन्दर जीमूत नामक एक विशाल स्नानगृह का उल्लेख हे।[११७] यह लगभग १०० फीट लम्बा व ८० फीट चौड़ा होता था तथा इसका निर्माण राजमहल में पृथक ही किया जाता था। इसके मध्य में धारागृह[११८] तथा वापिका होती थी।[११९]

७. **हर्म्य** : राजा या धनिक वर्गों के लिये निर्मित भव्य भवनों को हर्म्य कहा गया है। यह सात मंजिला होता था।[१२०]

८. **प्रासाद** : सामान्यतया 'प्रासाद' शब्द राजाओं के भवनों के लिये प्रयुक्त होता है परन्तु वास्तुशास्त्रीय परिभाषा में इसका प्रयोग देव मंदिर के लिये हुआ है। प्रसन्न कुमार आचार्य ने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव हिन्दू आर्कीटेक्चर' (पृ० ३६४) में प्रासाद शब्द का तात्पर्य आवास भवन एवं देव मन्दिर बताया है।[१२१] आदिपुराण में सब ऋतुओं में सुख देने वाले 'वैजयन्त', सब दिशाओं को देखने के लिये 'गिरिकूटक' और वर्षा ऋतु में निवास करने के लिये 'गृहकूटक' नामक राजमहलों का उल्लेख है।[१२२] उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि विभिन्न ऋतुओं व दिशाओं के अवलोकन आदि का ध्यान रखकर राज-प्रासादों का निर्माण किया जाता था। इन भवनों को घेरे हुए कोट और रत्नजटित तोरणों से युक्त गोपुर होते थे। भवन के अन्दर ही नृत्यशाला, भण्डार-गृह व स्नानगृह होते थे।[१२३]

९, **शाला या शालभवन** : जैन पुराणों में यज्ञशाला, चन्द्रशाला, प्रेक्षकशाला, आतोद्यशाला (वादनशाला), नाट्यशाला, नृत्यशाला एवं चतुःशाला आदि का उल्लेख है।[१२४] इनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व होता था।

१०. **कूटागार** : जिन भवनों का निर्माण अनेक शिखरों से युक्त होता था, उन्हें कूटागार नाम से अभिहित किया गया है। राजाओं व धनिक वर्गों के लिये ही प्रायः इनका निर्माण होता था। कूटागार में ऊँची-ऊँची सीढ़ियों का प्रयोग होता था।[१२५]

११. **पुष्करावर्त**[१२६] : यह एक विशेष राजमहल था जिसका निर्माण ईंटों द्वारा होता था।

१२. **भण्डार-गृह**[१२७] : विभिन्न सामग्री के संचयनार्थ एक विशिष्ट प्रकार के गृह का पृथक निर्माण किया जाता था जिसे भण्डार-गृह नाम से जाना जाता था।

पाद-टिप्पणी

१. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० २८३ ।
२. वहीं, पृ० २८४ ।
३. देवी प्रसाद मिश्र, जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २५३ ।
४. आवश्यक चूर्णी २, पृ० १७७ ।
५. मानसार, अध्याय २ ।
६. मयमत, अध्याय ५ ।
७. समरांगणसूत्रधार, पृ० २३५ ।
८. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि, पृ० २६५ ।
९. यू० पी० शाह, 'बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी', सं० पु० प०, अं० ९, पृ० २ ।
१०. अमलानन्द घोष, जैनकला और स्थापत्य, भाग ३, नई दिल्ली १९७५, पृ० ४६१, ५१५-५१६ ।
११. पउमचरिय ३७.६१; ९२.२६; ८०.१५; ४०.१६; ८.२०; ९.८७-८९; १०.४६-४७; ११.३ ।
१२. आदिपुराण (जिनसेनकृत), ४.९४ ।
१३. 'चैत्यमायतन' तुल्ये । अमरकोश २.२.७ ।
१४. देवी प्रसाद मिश्र पू० नि०, पृ० २६९ ।
१५. आदिपुराण ६.५६ ।
१६. पद्मपुराण ९८.५८; ७.३३८; ३३.३३२ ।
१७. पद्मपुराण २८.१०० ।
१८. हीरालाल जैन, पू० नि, पृ० ३१८ ।
१९. पद्मपुराण ६७.१४-१५ ।
२०. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृ० १३ ।
२१. हीरालाल जैन, पू० नि, पृ० ३२० ।
२२. सी० जे० शाह, जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, लन्दन १९३२, पृ० १२७ ।
२३. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २१, ५२-७५ ।
२४. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ३२० ।
२५. वहीं, पृ० ३२२ ।
२६. वहीं, पृ० ३२४-२५ ।
२७. पी० सी० नाहर, जैन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग १, कलकत्ता १९१८, पृ० २३९, लेख सं० ८९९ ।

२८. एम० ए० ढाकी, 'सम अर्ली जैन टेम्पल्स इन वेस्टर्न इण्डिया', म० जै० वि० गो० जु० वा०, बम्बई १९६८, पृ० २९५-९६; एपी० इण्डिया, खण्ड–९, पृ० ४९-५१ ।

२९. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० २७ ।

३०. कृष्णदेव, 'दि टेम्पुल्स ऑव खजुराहो इन सेन्ट्रल इण्डिया', ऐन्शिएण्ट इण्डिया, अं० १५, पृ० ३५-६० ।

३१. एपि० इण्डिया, खण्ड–२, पृ० २३२-४० ।

३२. वी० वी० मिराशी, का० इं० इं०, खण्ड–४, भाग–१, पृ० १६१ ।

३३. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ३३८ ।

३४. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० ३३३ ।

३५. वहीं, पृ० ३३९-४० ।

३६. अमलानन्द घोष, जैन कला और स्थापत्य, भाग–३, नई दिल्ली १९७५, पृ० ४४३-४६ ।

३७. वहीं, पृ० ४४७ ।

३८. वहीं, पृ० ५२०; प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा, भारतीय शिल्प संहिता, बंबई १९७५, पृ० २०६ ।

३९. आदिपुराण ६.१८४ ।

४०. अमलानन्द घोष, पू० नि०, पृ० ५१७-५२० ।

४१. आदिपुराण ६.१८०-१८८ ।

४२. आदिपुराण ५.१८५; ७.२७१-२७५ ।

४३. उत्तरपुराण ७५.४०३, ४०७-४०८ ।

४४. उत्तरपुराण ४८.१०७-१०८; हरिवंशपुराण ५.३५९ ।

४५. हरिवंशपुराण ५.३०-३१ ।

४६. हरिवंशपुराण ५.३५४-७२ ।

४७. पद्मपुराण ७१.४३-४८; ९५.३८-४२ ।

४८. प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा, पू० नि०, पृ० २०६ ।

४९. आदिपुराण १६.१९७; ४.७७; हरिवंशपुराण ५.३६४-३६५ ।

५०. हरिवंशपुराण २.७२ ।

५१. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ९९; स्टडीज इन जैन आर्ट, वाराणसी १९५५, पृ० ८५-९५ ।

५२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १.३.४२१-७७ ।

५३. आदिपुराण ३३.७३ ।

५४. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २९५ ।

५५. अमलानन्द घोष, पू० नि०, पृ० ५४४ ।
५६. पद्मपुराण २.१३५-१५४; २२.७७-३१२ ।
५७. हरिवंशपुराण ५७.१-१६१; २.६६-८७ ।
५८. आदिपुराण ३३.७४-१२४; २३.१८३-१९४ ।
५९. हरिवंशपुराण ५७.५-१० ।
६०. आदिपुराण ३३.७५ ।
६१. हरिवंशपुराण ५७.१०-१९ ।
६२. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २९६-९७; आदिपुराण २२.९२-१०२ ।
६३. आदिपुराण २२.९३-९५; हरिवंशपुराण ५७.११-१२ ।
६४. आदिपुराण २२.१००-१०२ ।
६५. आदिपुराण २२.१०३-१०७; हरिवंशपुराण ५७.१९ ।
६६. आदिपुराण २२.१११-११७; हरिवंशपुराण ५७.२१-२३ ।
६७. आदिपुराण २२.१२८-१४६; हरिवंशपुराण ५७.२४-२६ ।
६८. आदिपुराण २२.१४८-१५५; हरिवंशपुराण ५७.२७ ।
६९. आदिपुराण २२.१५६-१७६; हरिवंशपुराण ५७.२८-३७ ।
७०. आदिपुराण २२.१९९-२०१ ।
७१. आदिपुराण २२.२०५-२२०; हरिवंशपुराण ५७.४१-४७ ।
७२. आदिपुराण २२.२३९-२५२; हरिवंशपुराण ५७.४८-५३ ।
७३. आदिपुराण २२.२५६-२६९; हरिवंशपुराण ५७.५४-५५ ।
७४. आदिपुराण २२.२७०-२७७ ।
७५. आदिपुराण २२.२८०; हरिवंशपुराण ५७.१४०-१४२ ।
७६. हरिवंशपुराण ७७.१४८-१६१; आदिपुराण २२.२८६ ।
७७. हीरालाल जैन, पू० नि०, पृ० २९७-२९८ ।
७८. आदिपुराण २२.१३-२४ ।
७९. आदिपुराण २२.२५-२८ ।
८०. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १५२-५४ ।
८१. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, पृ० १५३; यू० पी० शाह; जैन ब्रोन्जेज फ्राम कैम्बे, ललितकला, अं० १३, पृ० ३१-३२ ।
८२. पद्मपुराण ३.२५५; आदिपुराण १६.१२९-१८० ।
८३. पद्मपुराण २८.५; ७.७७; ८.२६; २८.२० ।
८४. पद्मपुराण १२.३६६; आदिपुराण ४३.२४६ ।
८५. पद्मपुराण १२.३६७-३६८ ।
८६. हरिवंशपुराण ५.४०५-४०६ ।

८७. इसमें कृष्ण का महल १८ खण्डों वाला बताया गया है। हरिवंशपुराण ४१.२०, २७-३०।
८८. उत्तरपुराण ५४.२८; आदिपुराण ४३.२०४-२१३।
८९. आदिपुराण ४३.२०४-२१३; पद्मपुराण; ८३.१८।
९०. पद्मपुराण ८३.४-८।
९१. आदिपुराण ४५.११६।
९२. पद्मपुराण ३१.११३; उत्तरपुराण ६३.३६९।
९३. आदिपुराण ८.१९-२९।
९४. पद्मपुराण ८१.११२।
९५. पद्मपुराण ८.११५; ७१.१८।
९६. महापुराण (पुष्पदन्तकृत) ४७.९।
९७. पद्मपुराण ३८.८३।
९८. पद्मपुराण ६.१२४-१२७; हरिवंशपुराण ५.४०५-४०६।
९९. पद्मपुराण ३.११७; आदिपुराण ४५.११६।
१००. पद्मपुराण ८०.८।
१०१. पद्मपुराण ३.१; ८.६०; महापुराण ३६.२००।
१०२. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०४।
१०३. महापुराण ४०.२९९।
१०४. पद्मपुराण ८४.१४; २८.८७।
१०५. पद्मपुराण १२.१८१।
१०६. पद्मपुराण ३८.९६।
१०७. पद्मपुराण ११.३२९; १९.१२२।
१०८. पद्मपुराण ८३.४२; आदिपुराण ८.२२।
१०९. आदिपुराण ८.२८।
११०. पद्मपुराण ५.१०३; ६.१२४-१३०; आदिपुराण ४६.२४५।
१११. पद्मपुराण ८३.४१; २.३७; २.३९; ८०.६३; २.४०; ५३.२०३; २.४०; ६७.१५; ११२.३२; ११२.३४; ९५.३७; ६८.११; आदिपुराण ७.२०९; ३७.१५०-१५१; ३७.१४७; ३७.१४९; ३७.१४६।
११२. अमलानन्द घोष, पू० नि०, पृ० ५१३-५१५।
११३. पद्मपुराण ५३.२६४-२६६।
११४. आदिपुराण ४.११०-१११।
११५. महापुराण (पुष्पदन्त) ४६.२४५।
११६. पद्मपुराण ५३.२०२; ६५.९; ६.६५।

११७. पद्मपुराण ३.१७२ ।
११८. आदिपुराण ३७.१५२ ।
११९. गर्मी को नष्ट करने का स्थान—आदिपुराण ३७.१५० ।
१२०. देवी प्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० २६७ ।
१२१. वहीं ।
१२२. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, भारतीय स्थापत्य, पृ० २१३ ।
१२३. आदिपुराण ३७.१४७-१५० ।
१२४. आदिपुराण ३७.१४९-१५२ ।
१२५. पद्मपुराण ३५.९; १४.१३१; ९५.४६; ६७.११; ८३.१८; आदिपुराण ३३.८२; ३७.१४९ ।
१२६. आदिपुराण २२.२६० ।
१२७. आदिपुराण ३७.१५१ ।
१२८. आदिपुराण ३७.१५१ ।

●

अष्टम अध्याय

सांस्कृतिक जीवन

भारतीय संस्कृति में सत्य और शिव के साथ ही सुन्दर को भी महत्त्व दिया गया है। भारतीय धर्म और दर्शन के सौन्दर्यबोध के कारण ही सत्य, शिव और सुन्दर तीनों की एकात्मकता स्थापित हुई। इसी कारण प्रसंग चाहे उपास्य देवों का हो या अप्सराओं या नायिकाओं का या फिर सामान्य स्त्री-पुरुषों का, सभी के सन्दर्भ में उनके आन्तरिक या आध्यात्मिक स्वरूप और शक्ति के साथ ही बाह्य स्वरूप या रूप पक्ष की महत्ता को भी स्वीकार किया गया। फलतः मूर्त अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं में देव, मानव, पशु एवं वनस्पति जगत को सुन्दर बताया और दिखाया गया। जैन साहित्य और कला भी इसका अपवाद नहीं है। इसी कारण धर्म और दर्शन से सम्बन्धित चर्चा के साथ ही जैन ग्रन्थों में सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों और अपने आसपास के परिवेश के प्रति जागरुकता और सौन्दर्य-बोध का भाव भी उजागर हुआ है। इस दृष्टि से महापुराण निःसंदेह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

धर्म और दर्शन यद्यपि प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति के मुख्य आधार-स्तम्भ रहे हैं किन्तु जीवन और उसके भौतिक साधनों से भी मनुष्य को सर्वदा लगाव रहा है। सुनियोजित नगर, सुसज्जित राज-सभायें, वादक, नर्तक, विविध आकार-प्रकार के वस्त्र, आभूषण और केशविन्यास आदि भारतीय जीवन और संस्कृति के प्रतीक थे। आदिम अवस्था में जब मनुष्य की आवश्यकतायें अत्यन्त सीमित थीं और उसके जीवन का एकमात्र आधार आखेट था, मनुष्य प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्रियों से ही अपना शृंगार करता था और अपने वस्त्र एवं आभूषणों की आवश्यकता को पूर्ण करता था। मनुष्य की आवश्यकता और भारतीय संस्कृति के प्रति उसके लगाव ने ही तत्सम्बन्धी कलाओं को जन्म दिया। परिणामस्वरूप वस्त्रों की कताई-बुनाई, आभूषणों के निर्माण, केशों की विभिन्न शैली में रचना, पुष्पों की माला, अनुलेप, सुगंधि, नृत्य-संगीत आदि से सम्बन्धित कलाओं का जन्म हुआ।[1]

वस्त्र और आभूषण आदि का सौन्दर्य वृद्धि के लिये प्राचीनकाल से ही प्रयोग होता रहा है किन्तु इसके महत्त्व के कुछ अन्य कारण भी रहे हैं। इनमें मांगलिक, रोग निवारक एवं स्वास्थ्यवर्धक तथा भाग्योदय में सहायक और बाधाओं को दूर करने की क्षमता वाला होने तथा अनेक चमत्कारिक मोह-मायावी शक्तियों का आधार होने का परम्परागत विश्वास भी प्रमुख रहा है।[२] एलोरा की गुफा सं० ३२ के मुखमण्डप (पूर्वी) के एक स्तम्भ पर कामदेव की मूर्ति देखी जा सकती है जिसमें त्रिभंग में खड़े देवता के हाथों में इक्षुधनु एवं पुष्पबाण प्रदर्शित हैं जो तत्कालीन विषय सुख की प्रवृत्ति और भौतिक जगत के विविध वस्त्राभूषणों एवं प्रसाधन आदि के महत्त्व को अभिव्यक्त करते हैं। ज्ञातव्य है कि निवृत्तिमार्गी जैनधर्म में युग की आवश्यकता के अनुरूप लगभग ८वीं शती ई० में ब्राह्मण धर्म और कला परम्परा के अनुरूप नियंत्रित भाव के साथ भौतिक जगत् एवं काम के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया। हरिवंशपुराण में एक ऐसे जिन मन्दिर का सन्दर्भ आया है जिसमें सम्पूर्ण प्रजा के कौतुक के निमित्त कामदेव और रति की मूर्ति बनवायी गयी थी। यह जिन मन्दिर कामदेव मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था (२९.१-५)।

प्रस्तुत अध्याय में महापुराण के साथ-साथ जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों की सामग्री के आधार पर तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। तुलनात्मक विवेचन के लिये आवश्यकतानुसार पुरातात्त्विक साक्ष्यों का भी उपयोग किया गया है। सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से मुख्यतः आभूषण, वस्त्र, प्रसाधन व केशविन्यास तथा नृत्य-संगीत आदि का विवेचन किया गया है। एलोरा की जैन गुफाओं में ऐन्द्रिकता का भाव व्यक्त करने वाले आलिंगनबद्ध और चुम्बन की मुद्रा में कुछ स्त्री-पुरुष युगलों की आकृतियाँ भी बनी हैं। साथ ही अम्बिका एवं पद्मावती यक्षी तथा बाहुबली की मूर्तियों के साथ दो विद्याधरियों की आकृतियों में भी आकर्षक देहयष्टि तथा अलंकृत मुकुट, विविध शैली के हार, केयूर आदि आभूषण तथा वस्त्र सज्जा की विविधता तत्कालीन वस्त्राभूषणों के सुन्दर उदाहरण हैं।

आभूषण :

आभूषण शृंगार के आवश्यक उपकरण हैं। शृंगार की प्रबल भावना के कारण ही आभूषणों का निर्माण तथा उसका निरन्तर विकास व परिष्कार हुआ। मानव की सहज शृंगार-प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के

माध्यमों में आभूषण सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। यही कारण है कि विश्व की सभी सभ्यताओं में आभूषणों को धारण करने की परम्परा प्रारम्भ से ही सभी वर्गों और जातियों में मिलती है। आभूषण नख से शिख तक के सभी अंगों में धारण किये जाते रहे हैं, किन्तु इसके उपादान का चुनाव समय, परिस्थिति, रुचि एवं आर्थिक तथा सामाजिक स्थितियों के आधार पर होता रहा है। यही कारण है कि घास, पत्ती, पुष्प, हड्डी एवं शीशे से लेकर कांसे, पीतल, चाँदी, सोने एवं रत्नों आदि तक के आभूषणों का निर्माण होता रहा है।

जैन पुराणों में शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करने का उल्लेख है। उत्तरपुराण में कुलवती नारियों द्वारा अलंकार धारण करने का उल्लेख है[३] जबकि विधवा स्त्रियों द्वारा इनके परित्याग का सन्दर्भ मिलता है।[४] उत्तरपुराण में आभूषणों से अलंकृत होने के लिये 'अलंकरणगृह' तथा 'श्रीगृह'[५] का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उत्तरपुराण में भोग-भूमि[६] काल में भूषणांग तथा मालांग जाति के ऐसे वृक्षों का उल्लेख है जो क्रमशः नूपुर, बाजूबन्ध, रुचिक, अंगद, मेखला, हार व मुकुट तथा विविध ऋतुओं के पुष्पों से निर्मित मालाएँ तथा कर्णफूल इत्यादि प्रदान करते थे।[७] आदिपुराण की यह अवधारणा स्पष्टतः भारतीय परम्परा की पूर्ववर्ती कल्पवृक्ष की परिकल्पना तथा शुंग-कुषाणकालीन (भरहुत, सांची, मथुरा) ऐसे कल्पवृक्षों के शिल्पांकन से प्रभावित है जिनमें विभिन्न प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों को कल्पवृक्ष से लटकते हुए दिखाया गया है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा के पूर्वग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति (१.४.३४२-३५४) में कल्पवृक्षों की सूची में भूषणांग एवं मालांग के भी नाम दिये हैं।[८]

आभूषण निर्माण के उपादान :

जैन पुराणों में आभूषणों का निर्माण रजत, स्वर्ण तथा मणि आदि से होने का सन्दर्भ मिलता है। उत्तरपुराण में स्वर्ण को अग्नि में तपाकर शुद्ध करने के उपरान्त ही उससे आभूषण बनाने का उल्लेख है।[९] समुद्र में महामणि के बढ़ने का भी उल्लेख मिलता है। रत्नजटित स्वर्णाभूषणों को रत्ना-भूषण कहा जाता था। जैन पुराणों में विभिन्न मणियों का सन्दर्भ मिलता है जिनका प्रयोग अधिकांशतः आभूषणों के निर्माण में किया जाता था। इनमें चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, हीरा, वैदूर्यमणि, कौस्तुभमणि, मोती, इन्द्रमणि[१०], जात्यंज्जय (कृष्णमणि), पद्मराग-

मणि, हैम (पीतमणि), मुक्ता (श्वेतमणि),[११] गोमुखमणि, स्फटिकमणि, मरकतमणि, पद्मरागमणि[१२] तथा प्रवाल[१३] जैसे मणियों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें से कुछ मणियों का बाहर से आयात भी किया जाता था।[१४]

आभूषणों के प्रकार :

स्त्री व पुरुष दोनों द्वारा समानरूप से धारण किये जाने वाले विभिन्न आभूषण सिरोभूषण, कर्णाभूषण, ग्रीवाभूषण, कराभूषण, कटि-आभूषण तथा पादाभूषण थे। प्रत्येक आभूषण के विविध प्रकार प्रचलित थे जिनका अंगानुसार वर्णन यहाँ अपेक्षित है।

शिरोभूषण :

सिर को भूषित करने वाले आभूषणों में मुख्यतः मुकुट, किरीट, चूड़ामणि, मौल, सीमन्तकमणि, अवतंस, कुन्तली व पट्ट का जैन पुराणों में उल्लेख मिलता है।

(क) मुकुट[१५]—मुकुट देव आकृतियों, राजा और सामंत तीनों के मस्तक का प्रमुख आभूषण था। दीक्षापूर्व तीर्थंकर भी मुकुट धारण करते थे।[१६] देव आकृतियों द्वारा धारण किये गये मुकुट के अग्रभाग पर मणियाँ लगी होती थीं।[१७] निःसन्देह मुकुट का प्राचीनकाल में अत्यधिक महत्त्व था और विशेषतः इसका प्रचलन राजपरिवारों में ही था। विभिन्न प्रकार के मुकुट के उदाहरण ९वीं–१०वीं शती ई० के देवगढ़ (मन्दिर-१२), एलोरा तथा ११वी–१२वीं शती ई० के सतना, शहडोल व विमल-वसही (आबू, राजस्थान) की अम्बिका, चक्रेश्वरी एवं पद्मावती यक्षियों की मूर्तियों में देखे जा सकते हैं।[१८]

(ख) किरीट[१९]—किरीट का निर्माण स्वर्ण से होता था। चक्रवर्ती व महान सम्राट भी इसको धारण करते थे। यह प्रतिभाशाली सम्राटों की महत्ता का सूचक था। जैन यक्षी चक्रेश्वरी की मूर्तियों में किरीटमुकुट का अंकन सभी स्थलों पर मिलता है। ज्ञातव्य है कि ब्राह्मण परम्परा में विष्णु एवं सूर्य की मूर्तियों में सर्वदा किरीटमुकुट ही दिखाया गया है।

(ग) किरीटी[२०]—किरीटी का निर्माण स्वर्ण व मणियों द्वारा होता था। यह किरीट से कुछ छोटा होता था तथा स्त्री व पुरुष दोनों ही इसे धारण करते थे। स्त्रियों में प्रचलित किरीटी के उदाहरण हुम्मच (कर्नाटक) के जैन मन्दिर से प्राप्त १०वीं शती ई० की अम्बिका एवं

अनतूर (चिकमंगलूर, कर्नाटक) से प्राप्त ल० १२वीं शती ई० की पद्मावती यक्षी की आकृतियों में स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।[२१]

(घ) चूड़ामणि[२२]—इसका प्रयोग देवों, राजाओं एवं सामंतों द्वारा किया जाता था। चूड़ामणि के मध्य में मणि का होना आवश्यक था। आदिपुराण में चूड़ामणि के साथ चूड़ारत्न शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[२३] वस्तुतः दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं।

(ङ) मौलि[२४]—वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार केशों के ऊपर के गोल स्वर्णपट्ट मौलि हैं।[२५] पद्मपुराण के समान आदिपुराण में भी रत्नमय, स्वर्णसूत्र में परिवेष्ठित एवं मालाओं से युक्त मौलि का उल्लेख मिलता है। यद्यपि मौलि का स्थान किरीट के बाद था किन्तु मस्तक के आभूषणों में यह महत्त्वपूर्ण था।

(च) सीमन्तकमणि[२६]—स्त्रियाँ सीमन्तकमणि अपने सीमन्त में धारण करती थीं। आज माँगटीका के रूप में इसका प्रचलन देखा जा सकता है जिसे विवाहिता स्त्रियों के लिए सौभाग्य का सूचक माना गया है।

(छ) अवतंस[२७]—युवराजों में अवतंस धारण करने का प्रचलन था। अन्य मुकुटों से यह अधिक सुन्दर होता था। मुख्यतः पुष्पों से ही इसका निर्माण किया जाता था। इसका आकार किरीट और मुकुट से छोटा होता था।

(ज) कुन्तली[२८]—किरीट के साथ ही कुन्तलो का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः आकार में कुन्तली किरीट से बड़ा होता था। इसे कलगी के रूप में केश में लगाने की प्रथा थी। केवल उच्चवर्ग के स्त्री-पुरुषों में ही इसका प्रचलन था।

(झ) पट्ट[२९]—बृहत्संहिता में पट्ट का स्वर्णनिर्मित होना आवश्यक माना गया है तथा इसके पाँच प्रकार बताये गये हैं—राजपट्ट (तीन शिखाएँ), महिषीपट्ट (तीन शिखाएँ), युवराजपट्ट (तीन शिखाएँ), सेनापतिपट्ट (एक शिखा) तथा प्रसादपट्ट (शिखाविहीन)[३०]। सामान्यतया पट्ट उष्णीष के ऊपर बाँधा जाता था।

कर्णाभूषण :

कानों में विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करने की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। समय के अनुसार केवल इनके उपादानों में अन्तर रहा है। कर्णाभूषणों के निर्माण के लिये सामान्यतः

स्वर्ण, रजत, विभिन्न रत्नों, मणियों एवं पुष्पों आदि का प्रयोग होता था। स्त्रियों व पुरुषों दोनों दोनों में कर्णाभूषण का समानरूप से प्रचलन था। केवल उनके आकार-प्रकार में भिन्नता दिखायी देती है। स्त्रियों के कर्णाभूषणों में विविधता भी दिखायी देती है। पुरुष सामान्यतया कुण्डल धारण करते थे जबकि स्त्रियां कर्णफूल, कुण्डल, कनककमल व अवतंस पहनती थीं। कर्णाभूषण का निर्माण पत्रांकुर, छोटी पत्तियों, पुष्पों व हाथी दाँत से भी होता था।[३१] जैन पुराणों में कर्णाभूषणों के विभिन्न प्रकारों का सन्दर्भ मिलता है।

(क) **कुण्डल**[३२]—कुण्डल अति लोकप्रिय कर्णाभूषण था। आदिपुराण में कपोलों तक लटकने वाले व मकर की आकृति से चिन्हित रत्नमयी कुण्डलों का उल्लेख है।[३३] राजकुल के शिशुओं को भी मणिमय कुण्डल पहनाये जाते थे। सामान्य स्त्रियाँ कर्णमणियों से बने हुए कुण्डल पहनती थीं।[३४] केवल साहित्य में ही नहीं, मूर्त उदाहरणों में भी ऐसे कर्णाभूषणों के उदाहरण मिलते हैं। देवगढ़ की सर्वानुभूति यक्ष (१०वीं शती ई०) की आकृति के कानों में इस प्रकार के कुण्डल देखे जा सकते हैं।[३५] रत्न एवं मणिजटित कुण्डल के विभिन्न नामों के उल्लेख जैन पुराणों में मिलते हैं, उदाहरणार्थ मणिकुण्डल, रत्नकुण्डल, मकराकृत कुण्डल, कुण्डली, मकरांकित कुण्डल आदि।[३६] समराइच्चकहा[३७], यशस्तिलक[३८] एवं अजन्ता की चित्रकला में इनके उल्लेख और अंकन मिलते हैं।

(ख) **अवतंस**[३९]—पुराणों में पुष्पों एवं कोमल पत्तों से बने अवतंस के उदाहरण मिलते हैं। पद्मपुराण में इसके लिये चंचलावतंस नाम आया है। कुमारसम्भव में शिव के पीछे चलती हुई स्त्रियों के कर्णावतंस हिलते हुए बताये गये हैं।[४०] सम्भवतः यह वर्तमान झुमके जैसा लटकता कर्णाभूषण था।

(ग) **कर्णफूल**[४१]—अधिकांश स्त्रियाँ कर्णफूल ही धारण करतीं थीं। हर्षचरित में राजाओं द्वारा कर्णफूल पहनने का उल्लेख है।[४२] आदिपुराण में स्वर्ण के अतिरिक्त पत्तों व धान की बालियों से निर्मित कर्णफूल का भी उल्लेख है जिन्हें स्त्रियाँ धारण करती थीं।[४३]

कण्ठाभूषण :

स्त्री व पुरुष दोनों ही गले में विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करते थे। गले में धारण करने वाले आभूषणों की प्राचीनता हड़प्पा

तथा मोहनजोदड़ो से प्राप्त विभिन्न हार व हंसली आदि से सिद्ध होती है।[४४] हार गले का प्रमुख आभूषण था जिसके विविध प्रकार, एकावली, हारशेखर, हारयष्टि, अर्द्धहार (अर्धहार), लम्बहार, निर्द्योत-हार तथा रत्नावली आदि थे।[४५] जैन पुराणों के अनुसार गले के आभूषणों का निर्माण स्वर्ण, मुक्ता तथा रत्नों से होता था। मुक्ता, मणि तथा रत्नों से युक्त हार को अधिकांशतः देव तथा राजा ही धारण करते थे। मोतियों का हार नगर की स्त्रियाँ तथा स्वर्णनिर्मित माला ग्रामीण स्त्रियाँ पहनती थीं।[४६] जैन पुराणों में वर्णित विभिन्न कण्ठाभूषण निम्नवत् हैं—

(क) **यष्टि**—लड़ियों के समूह को यष्टि कहा गया है। आदिपुराण में शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक तथा तरल-प्रबन्ध नामों से यष्टि के पाँच भेद बताये गये हैं।[४७]

(१) **शीर्षक**—शीर्षक के मध्य में एक स्थूल मोती होती थी।[४८]

(२) **उपशीर्षक**—इसके बीच में क्रमशः बढ़ते हुए तीन मोती होते थे।[४९]

(३) **अवघाटक**—अवघाटक के मध्य में एक मणि और उसके दोनों ओर क्रमशः छोटे होते हुए छोटे-छोटे मोती लगे होते थे।[५०]

(४) **प्रकाण्डक**—इसके बीच-बीच में क्रम से बढ़ते हुए पाँच मोती लगे होते थे।

(५) **तरल प्रतिबन्ध**—तरल प्रतिबन्ध यष्टि में सब स्थानों पर एक समान मोती लगे होते थे।[५१]

आदिपुराण में एकावली, रत्नावली तथा अपवर्तिका नामों से मणि-युक्त यष्टियों के अन्य तीन भेदों का भी उल्लेख मिलता है।[५२]

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त पाँच प्रकार के यष्टियों के मणिमध्या तथा शुद्धा भेद से दो और विभेद मिलते हैं—

मणिमध्या यष्टि—मणिमध्या यष्टि के मध्य में एक मणि लगा होता था। मणिमध्या यष्टि को सूत्र तथा एकावली भी कहा गया है। मणि-मध्या यष्टि के सुवर्ण व मणियों से चित्र-विचित्र होने पर उसे रत्नावली नाम दिया गया। इसके अतिरिक्त जिस मणिमध्या यष्टि को किसी निश्चित प्रमाण वाले सुवर्ण मणि, माणिक्य और मोतियों के मध्य अन्तर देकर गूँथा जाता था उसे अपवर्तिका कहा गया है।[५३] इस प्रकार के

मणिमध्या का उल्लेख कालिदास के रघुवंश और मेघदूत में भी हुआ है।[५४]

शुद्धा यष्टि--मणिरहित यष्टि को शुद्धायष्टि के नाम से अभिहित किया गया है।[५५]

(ख) **हार**[५६]--आदिपुराण में यष्टि अर्थात् लड़ियों के समूह को हार कहा गया है। हार में शुद्ध एवं कान्तिमान रत्नों का प्रयोग किया जाता था। मुक्ता निर्मित माला मुक्ताहार कहलाती थी। आदिपुराण में मुक्ताहार (मोतियों की माला), एकावली हार (एक लड़ी का हार) तथा नक्षत्र-माला (सत्ताइस मोतियों का हार) का उल्लेख आया है।[५७] केवल साहित्य ही नहीं मूर्त उदाहरणों से भी इनके प्रचलन की पुष्टि होती है। देवगढ़ व एलोरा से प्राप्त १०वीं शती ई० की अंबिका यक्षी एवं सर्वानुभूति यक्ष की मूर्तियों में मुक्ताहार तथा एकावली का अंकन मिलता है। हार बनाने के लिये धागे में मोतियों तथा रत्नों को गुंथित किया जाता था।[५८] लड़ियों की संख्या के घटने-बढ़ने के आधार पर हार के ११ भेदों का उल्लेख भी आदिपुराण में मिलता है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भिकतम हारों का सन्दर्भ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है।[५९] किन्तु आदिपुराण एवं अर्थशास्त्र में वर्णित हारों की लड़ियों की संख्या में कहीं-कहीं अन्तर भी मिलता है। आदिपुराण में वर्णित हार के निम्न-लिखित प्रकार हैं—

(१) **इन्द्रच्छन्द हार** : १००८ लड़ियों वाले हार को इन्द्रच्छन्द हार कहा गया है। इस हार को अन्य हारों की तुलना में श्रेष्ठ माना गया है तथा इसे इन्द्र, जिनेन्द्र एवं चक्रवर्ती सम्राटों द्वारा धारण करने योग्य बताया गया है।[६०]

(२) **विजयच्छन्द हार** : ५०४ लड़ियों वाले हार को विजयच्छन्द हार कहा गया है। इसे अर्धचक्रवर्ती पुरुष धारण करते थे।[६१]

(३) **हार** : इसमें १०८ लड़ियाँ होती थीं।[६२]

(४) **देवच्छन्द हार** : मोतियों के ८१ लड़ियों वाले हार को देवच्छन्द कहा गया है।[६३]

(५) **अर्धहार** : ६४ लड़ियों वाले हार को अर्धहार की संज्ञा प्रदान की गयी।[६४]

(६) **रश्मिकलाप हार** : इसमें मोतियों की ५४ लड़ियाँ होती थीं। इसकी मोतियों से अपूर्व रश्मि निस्सरित होने का उल्लेख है।[६५] अतः यह नाम सार्थक प्रतीत होता है।

(७) **गुच्छ हार** : मोतियों की ३२ लड़ियों वाला हार गुच्छ हार था।[६६]

(८) **नक्षत्रमाला हार** : इसमें २७ लड़ियाँ होती थीं। इसकी मोतियाँ अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रावली की शोभा का उपहास करने वाली बतायी गयी हैं।[६७] इस हार की आकृति भी नक्षत्रमाला के समान होती थी।

(९) **अर्धगुच्छ हार** : मोतियों की २४ लड़ियों के हार को अर्धगुच्छ हार कहा गया है।[६८]

(१०) **माणव हार** : माणव हार में मोती की कुल बीस लड़ियाँ होती थीं।[६९]

(११) **अर्धमाणव हार** : १० लड़ियों के हार को अर्धमाणव हार कहा गया है। इसके मध्य में जब मणि लगा होता था तो यही हार फलकहार कहलाता था। इसी फलकहार में जब सोने के तीन फलक (सुवर्ण के गोल दाने) लगे होते थे तो वह सोपान तथा जिसमें सोने के पाँच फलक लगे होते थे वह मणिसोपान कहलाता था। सोपान नामक हार में केवल सुवर्ण के ही फलक होते थे जबकि मणिसोपान नामक हार में रत्नजटित सुवर्ण के फलक लगे होते थे।[७०]

उपरोक्त हारों के मध्य में जब मणि लगा होता था तब उनके नामों के साथ 'माणव' शब्द जोड़ दिया जाता था। उदाहरणार्थ इन्द्रच्छन्द-माणव, विजयच्छन्दमाणव, हारमाणव इत्यादि। इसी प्रकार उपरोक्त ११ प्रकार के हारों में प्रत्येक के साथ यष्टि के ५ प्रकारों शीर्षक, उप-शीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक एवं तरल प्रतिबन्ध को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो कुल मिलाकर हार के ५५ प्रकार प्राप्त होते हैं।[७१]

नेमिचन्द्र ने इन्द्रच्छन्द, विजयच्छन्द, देवच्छन्द, रश्मिकलाप, गुच्छ, नक्षत्रमाला, अर्धगुच्छ, माणव, अर्धमाणव, इन्द्रच्छन्दमाणव तथा विजयच्छन्दमाणव के भेद से यष्टि के ११ भेदों का उल्लेख किया जो असंगत प्रतीत होता है।[७२]

(ग) गले के अन्य आभूषण :

जैन पुराणों में जिन अन्य कण्ठाभूषणों का उल्लेख मिलता है वे निम्नलिखित हैं—

कण्ठमालिका[७३] : इसे स्त्री व पुरुष दोनों ही धारण करते थे।

कण्ठाभरण[७४] : यह पुरुषों द्वारा धारण किया जाता था तथा रत्न-जटित होता था।

स्रक[७५] : इसका निर्माण पुष्प, स्वर्ण, मुक्ता तथा रत्नों द्वारा होता था।

कांचनसूत्र[७६] : यह सुवर्ण या रत्नयुक्त कण्ठाभूषण था। इनके अतिरिक्त ग्रैवेयक[७७], हारलता, हारवल्ली, हारवल्लरी[७८], मणिहार[७९], हाटक[८०], मुक्ताहार[८१], कण्ठिका[८२] तथा कण्ठिकेवास[८३] कण्ठ के अन्य आभूषण थे। कण्ठिकेवास को देवी प्रसाद मिश्रा ने लाख की बनी हुयी कण्ठी और गले के ऊपर वर्णित आभूषणों में इसे निम्न कोटि का बताया है।[८४] स्वर्ण, मोती, मणि तथा रत्न युक्त कण्ठाभूषणों के अतिरिक्त सन्तानक, पारिजात तथा अन्य प्रकार के पुष्पों की मालाओं से भी सौन्दर्य वृद्धि की जाती थी।[८५]

कराभूषण :

अंगद, केयूर, वलय, कटक तथा मुद्रिका हाथ के प्रमुख आभूषण थे जिनका स्त्री-पुरुष दोनों में समान रूप से प्रचलन था। इन सभी कराभूषणों के आकार-प्रकार में स्पष्टतः अन्तर मिलता है। पुरुषों में ये आभूषण सादे होते थे किन्तु स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले इन आभूषणों में घुंघरु लगे होते थे।[८६]

(क) अंगद : अंगद पीछे की ओर बाँधकर पहना जाने वाला आभूषण था जिसे स्त्री-पुरुष समान रूप से धारण करते थे। क्षीरस्वामी ने केयूर और अंगद की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है—'के बाहूशीर्षे यौति केयूरम्' अर्थात् जो भुजा के ऊपरी छोर को सुशोभित करे उसे केयूर कहते हैं और 'अंग दयते अंगदम' अर्थात् जो अंग को निपीड़ित करे वह अंगद है।[८८] अंगद का उल्लेख कालिदासकृत रघुवंश में भी आता है।[८९] बाहुओं को सुशोभित करने वाले मुक्ता निर्मित भुजबंध के उदाहरण एलोरा के गुफा सं० ३२ की अम्बिका आकृति में स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।[९०]

(ख) केयूर[९१] : यह भी भुजबंध का ही एक प्रकार था जिसे स्त्री-पुरुष दोनों अपनी भुजाओं पर धारण करते थे। कालिदास ने केयूर में नोक होने का उल्लेख किया है।[९२] केयूर स्वर्ण निर्मित व रत्नजटित होता था।[९३] इसका उल्लेख जैन महापुराणों में अनेक स्थलों पर हुआ है।

(ग) **कटक**[९४] : प्राचीनकाल से ही स्वर्ण, रजत, हाथीदाँत एवं शंख निर्मित कटक (कड़ा) पहनने का प्रचलन था। इसे स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे। आदिपुराण में रत्नों के बने हुए वीरांगद नामक कटक का उल्लेख है जिसके कान्ति की तुलना विद्युत को कान्ति के साथ की गयी है।[९५] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर रत्नजटित चमकीले कड़े के लिये दिव्य कटक शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवतीसूत्र जैसे आगम जैन ग्रन्थ में कटक के अत्यन्त ढीले होने का उल्लेख मिलता है।[९६]

(घ) **मुद्रिका** (**अंगुठी**) : यह हाथों की अंगुली में धारण किया जाने वाला एक प्रमुख आभूषण था जिसका प्रचलन प्राचीनकाल में ही स्त्री व पुरुषों में समान रूप से था। मुद्रिकाएँ सामान्यतः सादी होती थीं जिनको खुड्डाग भी कहा जाता था।[९७] रघुवंश तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी रत्नजटित मुद्रिकाओं के उल्लेख मिलते हैं।[९८] जैन पुराणों में भी स्वर्णनिर्मित, रत्नजटित, पशु-पक्षी, देवता-मनुष्य व विभिन्न चिह्न व नामोत्कीर्ण मुद्रिकाओं का उल्लेख है।[९९] इसका मूर्त उदाहरण विमल-वसही (आबू–१२वीं शती ई०) की अम्बिका मूर्ति में देखा जा सकता है। कर्नाटक से प्राप्त लगभग १२वीं शती ई० की चतुर्भुजा पद्मावती यक्षी की अंगुलियों में भी मुद्रिका देखी जा सकती है।[१००] पद्मपुराण में मुद्रिका के लिये ऊर्मिका शब्द प्रयुक्त हुआ है।[१०१]

कटि आभूषण :

कटि आभूषणों में मेखला, कांची, रशना एवं दाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

(क) **मेखला**[१०२]—प्राचीनकाल से ही विभिन्न प्रकार की मेखला का प्रचलन स्त्री व पुरुष दोनों में सामान्यरूप से था। सैन्धव सभ्यता से मनकों और धातु के टुकड़ों से निर्मित मेखला के उदाहरण प्राप्त हुए हैं।[१०३] भगवतीसूत्र में पुरुषों द्वारा मणिमेखला पहनने का उल्लेख है।[१०४] इसके अतिरिक्त स्वर्ण व रत्नजटित मेखला भी होती थी। रघुवंश व कुमारसम्भव में शिंजित (घुंघरूयुक्त मेखला) और मुक्तामयी मेखला के भी सन्दर्भ मिलते हैं।[१०५] विभिन्न प्रकार के मेखला के मूर्त उदाहरण ११वीं-१२वीं शती ई० के ओसियां की जीवन्तस्वामी महावीर और कुंभारिया के पार्श्वनाथ मन्दिर, शान्तिनाथ मन्दिर तथा एलोरा (गुफा सं०–३२) की अम्बिका यक्षी की मूर्तियों में देखे जा सकते हैं।[१०६]

(ख) **कांची**—कांची कांचनमयी व रत्नजटित होती थी।[१०७] ध्वनि के लिए इसमें घुंघरु भी लगे होते थे। जैन पुराणों में कांची शब्द कटिवस्त्र से सटाकर धारण किये जाने वाले आभूषण के लिए प्रयुक्त हुआ है। कांची स्वर्ण निर्मित चौड़ी पट्टी थी जिसमें मणि और रत्न भी जड़े होते थे।[१०८] ११वीं शती ई० की पतियानदायी (सतना, म० प्र०) की अम्बिका मूर्ति में कांची का स्पष्ट उदाहरण द्रष्टव्य है।

(ग) **रशना**[१०९]—मेखला के समान यह भी कम चौड़ी होती थी तथा इसमें घुंघरु लगे होने के कारण ध्वनि होती थी। इसमें होने वाले ध्वनि के आधार पर ही इसे मेखला से भिन्न किया जा सकता है। रसना के कुछ अन्य प्रकार हेमरशना (रत्नयुक्त), रशना कलाप (जिसमें घुंघरुओं की संख्या अधिक हो) और क्वणित रशना (जिसमें बड़े-बड़े बजते हुए घुंघरु लगे हों) थे।[११०]

(घ) **दाम**—आदिपुराण में कांचीदाम, मुक्तादाम, मेखलादाम तथा किंकिणी युक्त मणिमयदाम का उल्लेख है। यह भी मेखला के समान कमर में धारण करने वाला आभूषण था।

(ङ) **कटिसूत्र**—कटिसूत्र स्त्री-पुरुष दोनों द्वारा कमर पर धारण किया जाता था।[१११]

पादाभूषण :

(क) **नूपुर**—पैरों में धारण करने वाले आभूषणों में सबसे अधिक लोकप्रिय नूपुर था। सामान्यतया यह स्त्रियों का आभूषण था किन्तु कभी-कभी पुरुषों द्वारा भी नूपुर धारण करने के उल्लेख मिलते हैं।[११२] नूपुर में घुंघरु लगे होने के कारण ध्वनि निकलती थी। अजंता एवं बाघ के भित्ति चित्रों में स्त्रियों द्वारा नूपुर पहनने के उदाहरण चित्रित हैं।[११३] मुख्यरूप से नूपुर स्वर्ण निर्मित और रत्नजटित होते थे किन्तु अनेक स्थलों पर मणिमय नूपुरों के भी उल्लेख मिलते हैं। १०वीं-१२वीं शती ई० के देवगढ़ के मन्दिर-१२, पतियानदाई एवं विमलवसही की अम्बिका यक्षी की मूर्तियों में नूपुर स्पष्टतः देखा जा सकता है।[११४] एलोरा (गुफा सं०-३२) की अम्बिका मूर्ति में ढीले प्रकार के नूपुर का सुन्दर उदाहरण है। प्रस्तुत उदाहरण की तुलना वर्तमान में प्रचलित नूपुर से की जा सकती है।[११५] कर्नाटक से प्राप्त लगभग ११वीं शती ई० की चतुर्भुजा पद्मावती यक्षी की मूर्ति के पैरों में नूपुर के अतिरिक्त

एक अन्य पादाभूषण भी द्रष्टव्य है जो वर्तमान में पहने जाने वाले कड़े अथवा छड़े के सदृश प्रतीत होता है।[११६]

(ख) **गोमुखमणि** : यह गोमुख के आकार के चमकीले मणियों से युक्त शब्दायमान पादाभूषण था। इसी कारण प्रस्तुत मणियुक्त आभूषण को गोमुखमणि के नाम से अभिहित किया गया।[११७]

वस्त्र :

वैयक्तिक शृंगार में वस्त्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्भवतः शीत-ताप निवारण तथा लज्जा आच्छादन के उद्देश्य से वस्त्र का आविष्कार हुआ होगा किन्तु क्रमशः शृंगार की दृष्टि से भी इसका महत्व बढ़ता गया। आरम्भिक काल में मानव वस्त्र के रूप में पशुचर्म, वृक्षों की छाल व पत्तों का प्रयोग करता था। वस्त्र के विकास के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे चलकर आवश्यकता एवं उपयोगिता की अपेक्षा शृंगार की दृष्टि से इनका अधिक महत्व हो गया। इसी कारण विविध रंगों, नमूनों और अलंकारों से सुसज्जित वस्त्रों का विकास हुआ और उन्हें विभिन्न आकार-प्रकार देकर धारण किया जाने लगा। सभी युग में अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्त्री, पुरुष व बालक इसका उपयोग करके अपने को आकर्षित बनाते रहे हैं।

जैन पुराणों में सामान्यतः कापसिक (सूती वस्त्र), और्ण (ऊनी वस्त्र), कौटज (सिल्क), रेशम, चर्म के वस्त्र, वल्कल (वृक्षों की छालों के वस्त्र) तथा पत्र (पत्तों के वस्त्र) वस्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। प्रारम्भ में जैन साधु व साध्वी केवल सामाजिक नियमों का पालन करने के लिये मोटे एवं रुक्ष वस्त्र धारण करते थे। परन्तु धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति के प्रभाव से तप प्रधान जैन धर्म भी अछूता नहीं रह सका।[११८] जैन साधुओं के लिए शरीर स्पर्शी ऊनी वस्त्र पहनना वर्जित था किन्तु वे ऊनी चादरों का प्रयोग कर सकते थे। महावीर द्वारा देवदूष्य (या दूस) तथा जैन भिक्षुओं द्वारा चीवर मुहपट्टिय, पौत्तिय, धातुरत्तवत्थ (लाल रंग का वस्त्र), धातुरवत्थ, वागलवत्थ तथा चेल वस्त्र भी धारण करने का उल्लेख मिलता है।[११९] जैन साधुओं द्वारा वल्कल, कुश एवं पत्रों के वस्त्र पहनने के भी उल्लेख हैं।[१२०] जैन ग्रन्थों में उच्चवर्ग की स्त्रियों द्वारा जिन वस्त्रो के पहनने का उल्लेख है उनमें सादी, चीणंशुयवत्थ, खोम, वाड्य, पट्ट, दुगुल्ल तथा प्रवर नीचे के लम्बे वस्त्र होते थे तथा ऊपर पहनने का वस्त्र सन्धिबन्धन कहलाता

था।[१२१] जैन भिक्षुणियों द्वारा कंचुक, उकंच्छी, वेगच्छिया और संघाटी वस्त्रों को धारण करने का उल्लेख मिलता है।[१२२]

वस्त्रों में सूती व रेशमी धागों से कढ़ाई की जाती थी तथा विभिन्न प्रकार के रंगों से इन्हें रंगा भी जाता था। आदिपुराण में विशेष अवसर पर विशेष प्रकार की वेश-भूषा की महत्ता को दरशाया गया है।[१२३] महापुराण तथा अन्य जैन पुराणों, जैनेतर ग्रन्थों एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर तत्कालीन पुरुषों के प्रमुख वस्त्र के रूप में उत्तरीय, अधोवस्त्र (धोती) तथा उष्णीष एवं स्त्रियों के वस्त्र में उत्तरीय, कञ्चुक तथा साड़ी के समान अधोवस्त्र का उल्लेख मिलता है। स्त्री व पुरुषों में प्रचलित घुटनों से नीचे तक की धोती के उदाहरण एलोरा (गुफा सं०-३२-३३) की यक्षी तथा अकोटा एवं जोधपुर से प्राप्त जीवन्तस्वामी महावीर की मूर्ति (छठीं-नवीं शती ई०) में देखे जा सकते हैं।[१२४] इसी प्रकार लम्बे उत्तरीय के उदाहरण एलोरा की द्वार-पाल आकृतियों में देखे जा सकते हैं।[१२५] श्वेताम्बर परम्परा में जैन तीर्थंकर भी अधोवस्त्र धारण करते थे जिसका प्रारम्भिकतम उदाहरण (ल० ५वीं-६ठीं शती ई०) अकोटा (गुजरात) की ऋषभनाथ की मूर्ति है।[१२६] ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा की तीर्थंकर मूर्तियाँ निर्वस्त्र होती थीं। स्त्रियों में कुछ स्थलों पर अधोवस्त्र घुटनों से ऊपर तथा कुछ में नीचे पैरों तक धोती के समान मिलता है।[१२७] विभिन्न साहित्यिक उद्धरणों से अधोभाग के वस्त्र को कमर पर बाँधकर पहनने का पता चलता है। मेघदूत में शीघ्रता के कारण कमर के वस्त्र के नीचे खिसकने के उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है।[१२८] बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य में स्त्रियों के अवग्रह, पट्ट, अर्धोरुक, चलनिका, बर्हिनिवसिनी और अन्तरनिर्वसनी जैसे नीचे के तथा कञ्चुक, औपकाक्षिकी, वेदकाक्षकी, संघाटी तथा स्कन्दकर्णी जैसे ऊपर के वस्त्रों के उल्लेख हैं।[१२९] इनमें अर्धोरुक, चलनिका तथा अन्तरनिर्वसिनी जंघा तक का वस्त्र था और बर्हिनिर्वसिनी एड़ी तक पहुँचता हुआ साड़ी जैसा वस्त्र था जो सम्भवतः कमर पर किसी पट्ट से बँधा रहता था। औपकाक्षिकी व वैकाक्षकी कञ्चुक के समान होता था।[१३०]

वस्त्र के विभिन्न प्रकार एवं स्वरूप :

जैन पुराणों में निम्नलिखित प्रकार के वस्त्रों एवं विभिन्न वेश-भूषाओं के सन्दर्भ में उनके उपयोग के उल्लेख मिलते हैं।

(क) **अंशुक**—बृहत्कल्पसूत्रभाष्य[131] की टीका में अंशुक कोमल और चमकीले रेशमी वस्त्र के रूप में वर्णित है। समराइच्चकहा एवं आचारांगसूत्र में भी अंशुक के उल्लेख हैं।[132] मोतीचन्द्र के अनुसार यह चन्द्रकिरण और श्वेत कमल के सदृश होता था।[133] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह उत्तरीय वस्त्र था जिसके ऊपर कसीदा द्वारा अनेक प्रकार के नमूने बनाये जाते थे। बाण के अनुसार अंशुक एक स्वच्छ एवं झीना वस्त्र था। पद्मपुराण तथा आदिपुराण में अनेक स्थलों पर अंशुक का उल्लेख है।[134] बिनावट के आधार पर अंशुक के एकांशुक, अध्यांशुक, द्वयांशुक तथा त्रयांशुक जैसे भेद किये गये हैं।[135] अंशुक के निम्नलिखित पाँच प्रमुख उपभेद हैं—

(१) **सुकच्छायांशुक**[136]—यह शुआपंखी अर्थात् हल्के हरे रंग का महीन रेशमी वस्त्र था।

(२) **स्तनांशुक**[137]—यह चोली या पट्ट जैसा वस्त्र था जिससे केवल स्त्रियों का वक्ष-भाग आवर्णित रहता था। इसे उत्तरासंग भी कहा गया। कालिदास ने ऋतुसंहार में स्तनांशुक वस्त्र का उल्लेख किया है।[138] स्तनांशुक का मूर्त अंकन हिंगलाजगढ़ से प्राप्त एवं इन्दौर संग्रहालय में सुरक्षित ल० १०वीं-११वीं शती ई० की अंबिका मूर्ति में देखा जा सकता है।[139]

(३) **उज्ज्वलांशुक**[140] : यह श्वेत रंग का झीना वस्त्र था जिसे स्त्रियाँ अपने अधोभाग में साड़ी की भाँति बाँधती थीं।

(४) **सदंशुक**[141] : यह स्वच्छ, श्वेत, सूक्ष्म एवं स्निग्ध रेशमी वस्त्र था जिसे तीर्थंकर भी धारण करते थे।

(५) **पटांशुक**[142] : यह महीन, धवल एवं रेशमी वस्त्र था जिसे कमर पर बाँधा जाता था।

(ख) **क्षौम**[143] : यह अत्यन्त झीना एवं सुन्दर रेशमी वस्त्र था। अंगविज्जा के अनुसार क्षौम दुकूल तथा चीणपट्ट रेशमी वस्त्र थे। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह असम एवं बंगाल में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[144] काशी और पुण्ड्र देश क्षौम वस्त्र के लिये प्रसिद्ध था।[145]

(ग) **चीनपट्ट**[146] : सम्भवतः चीन में बने पतले रेशमी वस्त्र को चीनपट्ट कहते थे। कुषाणकाल में मध्य एशिया के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के परिणामस्वरूप यह वस्त्र प्रचलन में आया। अंगविज्जा

में भी चीनपट्ट का उल्लेख हुआ है।[१४७] बृहत्कल्पभाष्य में इसका वर्णन चीन के महीन रेशमी वस्त्र के रूप में हुआ है।[१४८]

(घ) **प्रावार**[१४९] : यह वर्तमान दुशाले के समान पुरुषों द्वारा धारण किया जाने वाला वस्त्र था। हेमचन्द्र के ग्रन्थ में 'राजाच्छादना-प्रावराः'[१५०] का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि राजाओं के ओढ़ने व बिछाने योग्य ऊनी या रेशमी वस्त्र के लिये प्रावार शब्द प्रचलित था। अमरकोश में दुपट्टे एवं चादर के लिये पाँच शब्द—प्रावार, उत्तरासंग, बृहतिका, संव्यान तथा उत्तरीय मिलते हैं।[१५१]

(ङ) **उष्णीष**[१५२] : इसे साफा या पगड़ी के रूप में पुरुष अपने शीश पर धारण करते थे। अंगविज्जा में भी उष्णीष का उल्लेख है।[१५३] इसे मस्तक पर टोपी के समान पहना जाता था। उष्णीष सादी व कामदार दोनों प्रकार की होती थी।[१५४] ज्ञातव्य है कि जूड़े के रूप में सिर के मध्य में बंधी केशसज्जा को भी उष्णीष कहते थे जिसका अंकन कुषाणकाल से तीर्थंकर मूर्तियों में मिलने लगता है।

(च) **चीवर**[१५५] : चीवर बौद्ध भिक्षुओं का परिधान था जो पीत-वर्ण के रेशमी वस्त्र से निर्मित किया जाता था। ब्रह्मचारी एवं श्रमण भी इसे धारण करते थे।[१५६]

(छ) **परिधान**[१५७] : यह एक प्रकार का धोती के समान अधो-वस्त्र था।

(ज) **कम्बल**[१५८] : यह ऊनी वस्त्रों का साधारण बोधक शब्द था। अंगविज्जा में ऊनी वस्त्रों के लिये 'उण्णिक' शब्द व्यवहृत हुआ है।[१५९] इसका प्रयोग रथ के पर्दे के निर्माण में भी होता था। यह भेड़-बकरी के ऊन से निर्मित मुलायम और सुन्दर ऊनी वस्त्र था।

(झ) **रंग-बिरंगे वस्त्र**[१६०] : अंगविज्जा में श्वेत, लाल, हरे, पीले, मयूर के रंग के समान नीले (मयूरकग्गीव), गहरे स्लेटी (करेणूयक), दो रंगों के (वित्र) तथा गुलाबी रंग के वस्त्रों के उल्लेख हैं।[१६१] वस्त्र रंगने वाले को शुद्धरजक कहा जाता था।[१६२]

(ञ) **उपसंव्यान**[१६३] : यह भी धोती का ही बोधक है। अमरकोश में धोती के लिये अन्तरीय, उपसंव्यान, परिधान एवं अधोंशुक शब्द का प्रयोग किया गया है।[१६४]

(ट) **वल्कल**[१६५] : जैन साधुओं द्वारा वल्कल, कुश एवं पत्रों के वस्त्र पहनने के उल्लेख हैं।[१६६] मोतीचन्द्र ने छाल के वस्त्र को वल्कल कहा है जिन्हें बौद्ध भिक्षु पहनते थे।[१६७]

(ठ) **दुष्यकुटी (या देवदूष्य)**[१६८] : इसका प्रयोग तम्बू के रूप में होता था। स्तूप पर चढ़ाये जाने वाले बहुमूल्य वस्त्र देवदूष्य कहलाते थे।[१६९] भगवतीसूत्र में देवदूष्य को एक प्रकार का दैवी वस्त्र कहा गया है जिसे महावीर ने धारण किया था।[१७०]

(ड) **दुकूल**[१७१] : दुकूल श्वेत, मृदु, स्निग्ध एवं बहुमूल्य वस्त्र था जिसका प्रयोग अधिकांशतः धनी परिवारों में ही होता था। आचारांग-सूत्र में गौड़ देश (बंगाल) में उत्पादित एक विशेष प्रकार के कपास से निर्मित दुकूल वस्त्र का वर्णन मिलता है।[१७२]

(ढ) **कुसुम्भ**[१७३] : यह लाल रंग का सूती व रेशमी वस्त्र था। संभवतः सम्पन्न लोग रेशमी कुसुम्भ का एवं निर्धन सूती कुसुम्भ का प्रयोग करते थे।

(ण) **नेत्र**[१७४] : नेत्र एक बारीक रेशमी वस्त्र था जिसका निर्माण वृक्ष विशेष की छाल से किया जाता था। हरिवंशपुराण में इसके लिये महानेत्र शब्द प्रयुक्त हुआ है।[१७५] सर्वप्रथम कालिदास ने नेत्र का उल्लेख किया है।[१७६]

(त) **एणाजिना**[१७७] : देवी प्रसाद ने इसे कृष्णमृगचर्म बताया है जिसका प्रयोग तापसी एवं वनवासी वस्त्र तथा आसन के रूप में करते थे।

(थ) **उपानत्क**[१७८] : यह पैरों में पहने जाने वाले जूते के समान होता था। बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य तथा भगवतीसूत्र में इसके लिये गाय, भैंस, बकरे, भेंड़ व अन्य वन्य पशुओं के चमड़े के उपयोग का उल्लेख है।[१७९] अजंता की कुछ आकृतियों में मोजे जैसा वस्त्र अथवा मोजे के आकार का उपानह् देखा जा सकता है।[१८०]

जैन पुराणों में प्रच्छदपट (चादर), परिकर (कमरबन्द), गल्लक (गद्दा), उपधान (तकिया) तथा पीताम्बर आदि वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु महापुराण में इनका कोई सन्दर्भ नहीं है।[१८१]

वस्त्रों के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महापुराण में सूती, रेशमी, ऊनी, चर्म, वल्कल प्रकार के वस्त्रों का विस्तृत विवरण है। वस्त्र व्यक्ति की परिस्थितिनुसार सामान्य एवं बहुमूल्य, रंग-बिरंगे, अलंकृत एवं सादे होते थे। पुरुषों एवं स्त्रियों के कुछ विशेष वस्त्र भी थे जो उन्हीं द्वारा धारण किये जाते थे। सामान्यतः धोती एवं उत्तरीय वस्त्र का ही प्रचलन था।

केशसज्जा :

भारत में प्राचीनकाल से ही केश-विन्यास की विभिन्न शैलियाँ प्रचलित रही हैं। प्राचीन प्रस्तर एवं मृण्मूर्तियों तथा चित्रों में केश-विन्यास की विविध शैलियों के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। हमारा संस्कृत साहित्य भी केश सज्जा की विभिन्न शैलियों के विस्तृत विवरण की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। भारतीय जीवन में धर्म की महत्ता के फल-स्वरूप विभिन्न धार्मिक यज्ञों एवं संस्कारों के अवसर पर केश-सज्जा की अलग-अलग शैलियों का प्रचलन था। साहित्य में हमें केशों को साज-संवार कर रखने का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होता है। केशों को अलंकृत करने के लिये आभूषणों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न ऋतुओं में अलग-अलग पुष्पों का प्रयोग किया जाता था जिसकी चर्चा आदिपुराण में भी मिलती है। केश-सज्जा में आभूषणों के बाद पुष्पों का सर्वाधिक महत्व था।[१८२] आज भी दक्षिण भारत में केश-सज्जा में पुष्पों का प्रयोग विशेष रूप से देखा जा सकता है।

जैन पुराणों में स्त्री-पुरुषों की केश-सज्जा के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। पुराणों में केशों के लिये कुन्तल, केश, अलक तथा कबरी आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। केश को सुगन्धित जल से धोने के बाद धूप आदि सुवासित सामग्री से सुखाया जाता था। सूखने के पश्चात् केशों में कंघी की जाती थी यथा उन्हें वेणी अथवा जूड़े के रूप में बाँध-कर विभिन्न प्रकार के पुष्प आदि द्वारा सुसज्जित किया जाता था। आदिपुराण में वसन्त ऋतु में चम्पा के पुष्पों तथा शरद ऋतु में नीलकमल युक्त भद्रतरणी के पुष्पों से गुम्फित माला से वेणी को अलंकृत करने का उल्लेख है।[१८३] कालिदास के ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न पुष्पों से केशों के शृंगार का सन्दर्भ मिलता है।[१८४] केश प्रसाधन के लिये पुष्पमाला, विभिन्न प्रकार के पुष्प, पुष्पपराग, पल्लव, मंजरी आदि का प्रयोग भी किया जाता था।[१८५] बृहत्संहिता तथा कालिदास-कृत कुमारसम्भव, मेघदूत एवं ऋतुसंहार में केशों की स्वच्छता के लिये प्रयुक्त अवलेप तथा सुवासित करने के लिए धूँए इत्यादि का विस्तार से वर्णन है।[१८६] केशों को सुवासित करने के लिये सुगन्धित तेलों का भी प्रयोग किया जाता था।

श्वेत केश सौन्दर्य वृद्धि में बाधक होते हैं। इसीलिये श्वेत केशों को रंगकर उन्हें काला बनाने की प्रथा भी प्राचीनकाल से ही भारत में प्रचलित थी। आदिपूराण में एक स्थान पर श्मश्रु को हरिद्रा से रंगने

का उल्लेख है।[१८७] आदिपुराण तथा कुछ जैनेतर ग्रन्थों के आधार पर केश-विन्यास की निम्नलिखित शैलियाँ मिलती हैं—

(क) **अलकजाल या अलकावली** : आदिपुराण में सालकानन शब्द का उल्लेख है जिसकी व्युत्पत्ति (स + अलक + आनन) से होती है अर्थात चूर्ण-कुन्तल (सुगन्धित चूर्ण लगाने योग्य सम्मुख के केश)।[१८८] स्त्रियाँ अलकावली बनाने के लिये कुमकुम, कर्पूर इत्यादि के चूर्ण का प्रयोग करती थीं। इनके आलेप से केश घुंघराले हो जाते थे। उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उस समय घुंघराले छल्लेदार केश विशेष लोकप्रिय थे। कालिदास ने भी अलकों के वास्तविक स्वरूप और अलकों को बनाने के लिये चूर्ण के प्रयोग का उल्लेख किया है।[१८९] वासुदेवशरण अग्रवाल ने घुंघराले केशों की रचना के कई प्रकार बताये हैं।[१९०] राजघाट से प्राप्त मृण्मूर्तियों में अलकजाल के अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कुषाणकाल से निरन्तर मध्ययुग तक सभी क्षेत्रों की तीर्थंकर मूर्तियों की केश रचना छोटे-छोटे गुच्छकों के रूप में दिखलायी गयी है।

(ख) **धम्मिल विन्यास** : आदिपुराण में धम्मिल शैली के केश-विन्यास का उल्लेख है[१९१] जिससे पता चलता है कि नीचे की ओर कुछ लटके हुए कोमल और कुटिल केशपाश को धम्मिल कहा गया है। गुप्तकाल से ही इस शैली की केश रचना का प्रारंभ हो जाता है जिसका स्पष्ट उदाहरण अहिच्छत्रा से प्राप्त पार्वती मस्तक है।[१९२] अमरकोश में मौलिबद्ध केशरचना को धम्मिल्ल (धम्मिल) कहा गया है।[१९३] राजघाट की मृण्मूर्तियों में धम्मिल शैली के केश-विन्यास के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[१९४]

(ग) **कबरी**[१९५] : कबरी प्रकार के केश-विन्यास में पुष्पमालाओं, वन की लताओं तथा चमरी गाय के बालों से भी केशपाशों को बाँधने का उल्लेख मिलता है।

(घ) **वेणी** : अधिकांश स्त्रियाँ अपने लम्बे व काले केशों को वेणी के रूप में बांधती थीं और वेणी को विभिन्न पुष्पों की लताओं से अलंकृत करती थीं।[१९६] स्त्रियों की वेणी का सुन्दर उदाहरण मल्लिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति में देखा जा सकता है।[१९७] ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में मल्लिनाथ को नारी तीर्थंकर बताया गया है।

(ङ) **जूड़ा**[१९८] : स्त्रियाँ अपने केशों को वेणी के साथ-साथ जूड़े में भी संवारती थीं।[१९९] इस प्रकार की केश रचना में केशों का जूड़ा बनाकर

माला से बाँध लिया जाता था। इसके अन्दर भी पुष्पों की माला गूंथी जाती थी।[२००] जूड़ा वेणी द्वारा न बनाकर सम्भवतः खुले केशों द्वारा बनाया जाता था। कभी यह जूड़ा वर्तमान जूड़े की भाँति पीछे कन्धे पर और कभी मस्तक के मध्य में स्थित रहता था। इसका सुन्दर अंकन हिंगलाजगढ़ से प्राप्त तथा वर्तमान में इन्दौर संग्रहालय में सुरक्षित लगभग १०वीं-११वीं शती ई० की अम्बिका तथा १२वीं शती ई० की विमलवसही की अम्बिका मूर्तियों में देखा जा सकता है। नृत्यांगनाओं में भी इस केश शैली का प्रचलन था।[२०१]

सीमंत (मांग) भी स्त्रियों की केश-सज्जा का एक आवश्यक अंग था। इसके द्वारा वे अपने केशों को दो भागों में विभक्त करती थीं। आदिपुराण में स्त्रियों द्वारा अपने सीमंत को परागसहित कमलों की रज से भरने का उल्लेख है।[२०२] सीमंत को पुष्पों द्वारा भी सजाया जाता था।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि केश-सज्जा के विभिन्न प्रकार स्त्रियों में ही प्रचलित थे। केश-सज्जा की विविध शैलियों के साथ-साथ उन्हें अलंकृत करने का शौक भी स्त्रियों में ही था, जो लम्बे केश रखती थीं। पुरुषों में छोटे केश एवं उनके सामान्य सज्जा का ही प्रचलन था। उल्लेखनीय है कि केश-विन्यास की महापुराण में वर्णित शैलियाँ वस्तुतः गुप्तकाल से ही चली आ रही थीं।

प्रसाधन :

मानव की सहज शृंगार प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों (वस्त्र, आभूषण, केश-सज्जा) की अपेक्षा प्रसाधन सामग्री का सदैव अधिक महत्त्व रहा है। वैयक्तिक–शृंगार में प्रसाधन सामग्री का उपयोग प्राचीनकाल से विभिन्न रूपों में किया जाता रहा है। संभवतः शृंगार-सामग्री के विकास क्रम में प्रसाधन सामग्री निश्चित रूप से पहले प्रचलन में आयी। वस्त्राभूषणों के पूर्व ही मनुष्य प्रसाधन सामग्री से भली-भाँति परिचित हो चुका था। अपने प्रतिदिन के शृंगार में सबसे पहले उसे अंगराग, चन्दन, अञ्जन तथा सुगन्धि जैसे प्रसाधन-सामग्री की आवश्यकता पड़ती थी। इसके बाद ही वह अन्य शृंगार सामग्री का प्रयोग करता था। प्रसाधन की विभिन्न सामग्रियों का शरीर के विभिन्न अंगों के साथ तादात्म्य था जबकि शृंगार के अन्य माध्यम केवल बाह्य रूप से ही शरीर को सज्जित करते थे।[२०३]

जैन पुराणों तथा जैनेत्तर ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रसाधन सामग्री तथा उनके उपयोग का उल्लेख मिलता है।

(१) **स्नान** : स्नान भारतीय शृंगार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष रहा है। पउमचरिय[२०४] तथा भगवतीसूत्र[२०५] जैसे आगम जैन ग्रन्थों में स्नान-भूमि के लिये एक विशेष स्थान का उल्लेख मिलता है। स्नान के जल को विभिन्न प्रकार के सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्प आदि से सुवासित किया जाता था।[२०६] आदिपुराण[२०७] में मज्जन नामक स्नान सामग्री का उल्लेख है जिसके प्रयोग से शारीरिक स्वच्छता, स्फूर्ति एवं कांति प्राप्त होती थी।

(२) **तिलक**[२०८] : स्त्री व पुरुष दोनों में तिलक का प्रचलन था। मुख सौन्दर्य के लिये तिलक का विशेष महत्त्व था। स्त्रियाँ प्रायः लाल रंग का तिलक लगातीं थीं। चंदन के अतिरिक्त गोरोचन, लालरंग के गेरु तथा काले अगरु का भी प्रयोग तिलक के लिए किया जाता था।[२०९]

(३) **अञ्जन**[२१०] : स्त्री व पुरुष दोनों ही आँखों की रक्षा व सौन्दर्य वृद्धि के लिये अञ्जन (काजल) का प्रयोग करत थे। कुमारसम्भव में अञ्जन लगाती हुई स्त्री का उल्लेख है।[२११]

(४) **भौंह का शृंगार**[२१२] : आधुनिक युग की तरह उस समय भी स्त्रियाँ भौंहों का संस्कार करके उन्हें सुसज्जित करती थीं।

(५) **पत्ररचना**[२१३] : स्त्री व पुरुष दोनों ही अपने कपोलों पर गोरोचन, चंदन व अंगराग से पत्ररचना किया करते थे। पत्ररचना के लिये काले, श्वेत और लाल रंगों का प्रयोग होता था।[२१४] इसके प्रारम्भिक उदाहरण भरहुत एवं साँची की मूर्तियों में देखे जा सकते हैं।

(६) **ओष्ठराग**[२१५] : स्त्री व पुरुष दोनों ही अपने ओष्ठों को रंगते थे परिणामस्वरूप उनके अधर रक्तवर्णीय होते थे। वे पान के रस के संसर्ग से और भी अधिक लाल हो जाते थे।[२१६] कालिदास ने ओष्ठराग को केवल लालरंग का बताया है जिसके लिये अलक्तक का प्रयोग किया जाता था।[२१७]

(७) **महावर**[२१८] : महावर चरणों में लगाया जाता था। महावर के लिये अलक्तक, रागलेखा, पादराग, लाक्षारस, रागरेखाविन्यास, चरणराग, द्रवराग तथा निर्मलराग आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। स्त्रियाँ अपने पैरों की सुन्दरता के लिये अलक्तक या लाक्षारस का प्रयोग करती थीं।

(८) **कुंकुम**[२१९] : शारीरिक स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं सुगन्धि के लिये कुंकुम का प्रयोग स्त्री व पुरुष दोनों ही किया करते थे।

(९) **अवलेप**[२२०] : विभिन्न सुगन्धित द्रव्यों द्वारा अवलेप के अनेक उदाहरण जैन पुराणों में मिलते हैं।[२२१] कालिदास ने शारीरिक सौन्दर्य व कान्ति की वृद्धि के लिये स्त्री व पुरुष दोनों द्वारा चन्दन, केशर, शुक्लागुरु, कालागुरु, प्रियंगु, कालेयक, कस्तूरी तथा कुमकुम मिश्रित अवलेप लगाने का उल्लेख किया है।[२२२] शीतलता और सौन्दर्य के लिये मुख्यतः चन्दन के अवलेप का ही प्रयोग किया जाता था। हेमन्त और शिशिर को छोड़कर अन्य सभी ऋतुओं में स्त्रियाँ चन्दन का ही प्रयोग करती थीं। हेमन्त में केशर तथा ग्रीष्म ऋतु में चंदन के द्रव्य के अवलेप का उदाहरण आदिपुराण में स्पष्टतः है।[२२३] शिशुओं के शरीर पर भी गाढ़े सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया जाता था।[२२४] आदिपुराण में एक स्थल पर ऐसे एक सुगन्धित अवलेपन का उल्लेख आया है जिसकी सुगन्धि से भँवरे उस स्त्री के हाथ पर आकर गुञ्जार करने लगे।[२२५] सम्भवतः इस प्रकार के अवलेपन के लिये अंगराग को कस्तूरी में बसाकर सुगन्धित कर लिया जाता था और उसके बाद शरीर पर उसका विलेपन किया जाता था।[२२६]

(१०) **तेल**[२२७] : स्वास्थ्य व सौन्दर्यवृद्धि के लिये स्त्री व पुरुष सुगन्धित तेल का प्रयोग अपने शरीर तथा केशों में करते थे। अधिकांशतः स्नान से पूर्व सुगन्धित तेल का मर्दन शरीर पर किया जाता था।

(११) **सुगन्धित चूर्ण**[२२८] : आधुनिक युग के समान ही उस समय भी विभिन्न प्रकार के सुगन्धित चूर्ण का प्रयोग किया जाता था। पउमचरिय में अगरु, तुरुष्क व चन्दन की सुगन्धि तथा गोशीर्ष चन्दन और कालागुरु से सुगंधित धूप बनाने का उल्लेख है।[२२९] कालिदास ने मुख, केश तथा शरीर के अन्य भागों पर प्रसवरज, अम्बुजरेणु, केसरचूर्ण तथा केतकरज जैसे तरह-तरह के चूर्ण लगाये जाने का उल्लेख किया है।[२३०] आदिपुराण में वस्त्रों को सुवासित करने के लिये पटवास चूर्ण के प्रयोग का सन्दर्भ है।[२३१]

(१२) **पुष्पप्रसाधन** : सौन्दर्य प्रसाधन में प्राचीनकाल से ही पुष्पों व पुष्प मालाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शृंगार के लिये मुख्य रूप से मन्दार, कमल, कुन्द, कुर्बक, शिरीष, कदम्ब, बकुल तथा मालती के पुष्पों का प्रयोग किया जाता था। दक्षिण भारत में आज भी पुष्प स्त्रियों

के शृंगार का एक अनिवार्य अंग है। जैन पुराणों तथा जैनेतर ग्रन्थों में पुष्पों एवं पल्लवों की माला तथा आभूषणों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्त्रियाँ पुष्प व पत्तों से माला तथा कर्णफूल आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाकर अपना शृंगार करती थीं।[२३२] पुष्पमालाओं को केशों तथा हाथों के आभूषण रूप में धारण किया जाता था। सभी वर्ग के स्त्री-पुरुष विभिन्न उत्सव आदि के अवसर पर गले में पुष्पमाला धारण करते थे। पुष्पों की कलंगी या मुकुट का भी प्रचलन था। पुष्पों के अतिरिक्त सज्जा के लिये आम्रमंजरी तथा पुष्पमंजरी का भी प्रयोग किया जाता था।[२३३] विभिन्न प्रकार के पुष्पों व पत्तों से निर्मित कर्णाभूषण भी स्त्रियाँ पहनती थीं। इसके लिये वनलताओं के पुष्प, पत्ते तथा नीलोत्पल (कमल) का प्रयोग किया जाता था।[२३४]

संगीत :

प्राचीनकाल से ही मानव जीवन में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मानव मन की प्रसन्नता तथा दुःख जैसे आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति का संगीत सबसे सशक्त माध्यम रहा है। मनोरंजन का भी यह महत्त्वपूर्ण स्रोत रहा है। जैन पुराणों में जहाँ एक ओर सांस्कृतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्ष वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन तथा केशसज्जा का विस्तृत उल्लेख मिलता है, वहीं संगीत एवं नृत्य जैसे ललित कलाओं के भी प्रचुर उल्लेख उपलब्ध हैं। जैनसूत्रों में संगीत को ७२ कलाओं में स्थान प्राप्त है।[२३५] समाज में जनता के मनोरंजन के अन्य साधनों के साथ ही गायन, वादन एवं नृत्य का भी आयोजन होता था।[२३६] जैन आगमों में तीर्थंकर के जन्मदिन, जिनत्व की प्राप्ति, पुत्र जन्मोत्सव आदि पर संगीत के आयोजन का उल्लेख मिलता है।[२३७] ज्ञातव्य है कि नीलांजना के नृत्य के कारण ही ऋषभनाथ को वैराग्य हुआ था। हरिवंशपुराण में किन्नर, गन्धर्व, तुम्बरु, नारद तथा विश्वावसु को संगीत के देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।[२३८] जैनपुराणों में संगीत के तीन प्रमुख पक्ष गायन, वादन तथा नृत्य के अनेक उल्लेख हैं।

गायन :

संगीत के प्रमुख तीन पक्षों में गायन का प्रथम स्थान है। जैन सूत्रों में गायन के चार तत्त्व-उत्क्षिप्त, पादात्त, मंदक तथा रोचितावसान वर्णित हैं।[२३९] गीत में इन तत्त्वों का होना अनिवार्य है। हरिवंशपुराण में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद इन सात

तथा ८४ प्रकार के तानों का उल्लेख हैं।[२४०] आदिपुराण में जन्ममहोत्सव व राज्याभिषेक आदि अवसरों पर वार स्त्रियों व किन्नरी देवियों द्वारा मंगलगान गाने के उल्लेख हैं।[२४१] इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि गायन में स्त्रियों का एक विशेष वर्ग ही निपुण होता था।

वाद्य संगीत :

संगीत में वाद्य संगीत और विभिन्न वाद्ययन्त्रों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वाद्यसंगीत में नृत्य व गीत की भाँति किसी अन्य साधन की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। जैन ग्रन्थों में वाद्यों को चार प्रमुख वर्गों तत, वितत, घन तथा सुषिर में विभक्त किया गया है।[२४२] जैनेतर ग्रन्थों में भी वाद्य के तत्, अवनद्ध, घन तथा सुषिर इन्हीं चार भेदों का उल्लेख हुआ है।

(क) तत्वाद्य :

तार से बजने वाले वाद्य (वीणा आदि) तत् कहलाते हैं। हरिवंश-पुराण के अनुसार तत् नामक वादित्र कर्णेन्द्रिय को तृप्त करने वाला होने से प्राणियों के लिये अधिक प्रीति उपजाने वाला तथा गन्धर्व शरीर के साथ सम्बद्ध होने से गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध है।[२४३] गान्धर्व की उत्पत्ति में वीणा, वंश और गान ये तीन कारण हैं तथा स्वरगत, ताल-गत और पदगत के भेद से वह तीन प्रकार का माना गया है।[२४४] जैन-पुराणों से प्राप्त प्रामग्री के आधार पर तत वाद्य के अन्तर्गत निम्न-लिखित वाद्य आते हैं—

(१) **तुणव** : आदिपुराण में अन्य वाद्यों के साथ अनेक अवसरों पर तुणव के वादन का उल्लेख हुआ है।[२४५] इसे सितार के रूप में प्रयुक्त किया जाता था।

(२) **वीणा** : आदिपुराण में वीणा के स्वर को श्रेष्ठ माना गया है। इसके तारों को हाथ की अंगुलियों से बजाये जाने का उल्लेख है।[२४६] वीणा वादन के साथ गायन का भी उल्लेख हुआ है। पाण्डवपुराण में घोषा, सुघोषा, महाघोषा एवं घोषवती वीणाओं का उल्लेख है। जैनपुराणों में वीणा से सम्बन्धित निम्नलिखित वाद्यों का उल्लेख हुआ है।

(क) **अलाबु** : आदिपुराण में अलाबु का उल्लेख मिलता है।[२४७] आधुनिक वीणाओं के समान उस समय भी सम्भवतः वीणा के लिये अलाबु (लौकी का तुम्बा) प्रयुक्त होता था।[२४८] अलाबु सारंगी से

मिलता-जुलता तथा उसका अत्यधिक विकसित रूप है। इसका प्रयोग संगीत के लिए लिए किया जाता था।[२४९]

(ख) **तंत्री** तंत्री वाद्य का उल्लेख हरिवंशपुराण तथा पद्मपुराण में मिलता है।[२५०] यह एक विशेष प्रकार की वीणा थी जिसमें तारों की संख्या के अनुसार इसका नामकरण होता था जैसे एक तार की वीणा एकतन्त्री तथा तीन तार की वीणा त्रितंत्री वीणा कहलाती थी। त्रितंत्री वीणा का विकास तंबूरा और सितार के संयुक्त रूप से हुआ।[२५१]

(ग) **सुघोषा** : हरिवंशपुराण में १७ तार की सुघोषा नामक वीणा को दोषमुक्त बताया गया है।[२५२] उत्तरपुराण में भी इसे उत्तम वीणा कहा गया है।[२५३]

(ख) **अवनद्धवाद्य** : जैन पुराणों में चमड़े से मढ़े हुए वाद्य के उदाहरण मृदंग आदि को अवनद्ध नाम से अभिहित किया गया है।[२५४] अवनद्ध वाद्य वितत वाद्य का ही बोधक है। इस प्रकार के वाद्यों की संख्या एक सौ से भी अधिक थी।[२५५] जैन पुराणों में निम्नलिखित अवनद्ध वाद्यों का वर्णन प्राप्य है।

(१) **आनक** [२५६] : इसकी ध्वनि-गम्भीर होती थी तथा इसको तुलना आधुनिक नगाड़े या नौबत से की जा सकती है।

(२) **छल्लरी**[२५७] : यह चमड़े से मढ़ा होता था तथा बायें हाथ में अंगूठे से लटका कर दाहिने हाथ के शंकु द्वारा इसका वादन होता था। इसकी तुलना आधुनिक खंजरी, दायस, चंग आदि वाद्यों से की जा सकती है।[२५८]

(३) **ढक्का** : पद्मपुराण में इसका उल्लेख है।[२५९] ढ़वस के सदृश इसका आकार होता था। इसे बायीं बगल में दबाकर दाहिने हाथ से डंडे से बजाते थे। इसे धौंसा नाम से भी सम्बोधित किया गया है।[२६०]

(४) **दुन्दुभि**[२६१] : इसका अर्थ हिन्दी शब्दसागर में नगाड़ा और धौंसा है।[२६२] यह तबले की तरह दो नगों से निर्मित होता था। इसे द्वयशंक्वाकार लकड़ियों से बजाया जाता था। इससे गम्भीर व दूर तक प्रसारित होने वाली ध्वनि निकलती थी। इसका प्रयोग युद्ध और शुभ अवसरों पर होता था। शहनाई के साथ वादित होने पर इसे नौबत कहते हैं।[२६३]

(५) **पटह**[२६४] : हिन्दी शब्द सागर में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुन्दुभि है, किन्तु संगीत-पारिजात के अनुसार पटह का तात्पर्य ढोलक से

है।[२१५] यह डेढ़ हाथ लम्बा भेरि के समान वाद्य था जो पतले या मोटे चमड़े से मढ़ा जाता था तथा लकड़ी अथवा हाथ से बजाया जाता था।

(६) **पणव**[२१६] : यह मृदंग के समान प्राचीन वाद्य है। यह १६ अंगुल लम्बा, भीतर की ओर मध्य भाग दबा, आठ अंगुल विस्तारित तथा दोनों ओर से पाँच अंगुल मुख वाला वाद्य था जिसके काष्ठ की मोटाई आधे अंगूठे के बराबर होती थी। इसका भीतरी भाग चार अंगुल व्यास वाला खोखला होता था। इसके दोनों मुख कोमल चमड़े से मढ़े जाते थे तथा चमड़े को सुतली से कसा जाता था।[२१७] इसे प्राचीन व आधुनिक काल में हुडुक नाम से संबोधित किया गया जबकि मध्यकाल में इसे आवाज नाम दिया गया था।[२१८]

(७) **पुष्कर**[२१९] : आदिपुराण में मृदंग के समान गम्भीर शब्द करने वाले वाद्य के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। आधुनिक पखावज से भी इनकी समता की जा सकती है।

(८) **भेरी**[२२०] : यह वाद्य भी मृदंग के समान, धातुनिर्मित एवं लगभग दो हाथ लम्बा और द्विमुखी होता था। इसके मुख का व्यास एक हाथ का और चमड़े से मढ़ा होता था। कांसे के कड़े में डोरी डालकर यह कसा जाता था। इसे दाहिनी ओर लकड़ी से तथा बायीं ओर हाथ से बजाते थे।[२२१]

(९) **मृदंग**[२२२] : प्राचीनकाल से ही मृदंग वाद्य का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। रामायण एवं कालिदास के ग्रन्थों में तथा भरत के काल में मृदंग का वर्णन उपलब्ध है।[२२३] इसके दोनों ओर के मुख चमड़े से मढ़े जाते थे तथा इसके मध्य का भाग दोनों किनारों की अपेक्षा अधिक उभरा हुआ होता था। आधुनिक युग में संगीत में विभिन्न वाद्ययन्त्रों के मध्य मृदंग का महत्वपूर्ण स्थान है।

(१०) **मुरज**[२२४] : मुरज मृदंग का ही एक अन्य नाम है जिसे गीत के साथ बजाया जाता था।

(ग) **सुषिर-वाद्य** : मुँह से फूँककर ध्वनि निकलने वाले वाद्यों को जैन पुराणों में सुषिर वाद्य के अन्तर्गत रखा गया है। सुषिर वाद्यों का वर्णन निम्नवत् है—

(१) **काहल**[२२५] : इसका निर्माण सोना, चाँदी एवं ताँबा से होता था। यह भीतर से खोखला तथा तीन हाथ लम्बा होता था। धतूरे के फूल के समान इसकी मुखाकृति होती थी। इसके मध्य में दो छिद्र होते थे और फूँकने पर इससे ध्वनि निकलती थी।[२२६]

(२) **तूर्य**[२७७] : यह लगभग डेढ़ हाथ लम्बा वाद्य था तथा मुख की ओर इसका आकार खिले हुए धतूरे के पुष्प के सदृश्य होता था। इसकी ध्वनि आधुनिक शहनाई के समान थी। दक्षिण भारत के मन्दिरों में उत्सव, विवाह एवं मांगलिक अवसरों पर यह बजाया जाता है।[२७८]

(३) **वंश**[२७९] (बांसुरी) : जैन पुराणों में अनेक स्थलों पर अन्य वाद्यों के साथ इसके बजाये जाने का उल्लेख है। इसमें भी आधुनिक बांसुरी की तरह मुँह से फूंकने पर ध्वनि होती थी।

(४) **वेणु**[२८०] : बाँसुरी के अर्थ में ही इसका भी प्रयोग हुआ है। यह बाँस द्वारा निर्मित होता था।

(५) **शंख**[२८१] : जैन पुराणों में जन्मोत्सव, धार्मिक कृत्यों तथा युद्ध आदि अवसरों पर शंख के बजाये जाने का उल्लेख मिलता है। नेमिनाथ का लांछन भी शंख ही है।

(घ) **घन-वाद्य** : जैन पुराणों में कांसे से निर्मित झांझ-मजीरा आदि को घन वाद्य की श्रेणी में रखा गया है। इनकी उत्पत्ति तालवाद्यों से हुई है।[२८२] महापुराण में घन वाद्यों में निम्नलिखित वाद्यों का वर्णन उपलब्ध है—

(१) **घण्टा**[२८३] : कांसे से निर्मित घण्टे का प्रयोग मन्दिर या देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना में होता था। इसका स्वरूप कतिपय परिवर्तन के बाद भी वर्तमान घण्टे के ही समान था।

(२) **ताल**[२८४] : काँसे द्वारा निर्मित यह वाद्य घन वाद्यों में प्रमुख था जिसका आकार वर्तमान मंजीरे से बड़ा होता था। इसके मध्य में डोरी लगी होती थी तथा यह दोनों हाथ से बजाया जाता था।

(३) **झांझ**[२८५] : जैन पुराणों में अन्य वाद्ययन्त्रों के साथ झांझ के भी बजाये जाने का उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त वाद्ययन्त्रों का शिल्पांकन एलोरा, कुंभारिया, खजुराहो, देवगढ़, देलवाड़ा के लोक जीवन या सामान्य गायन-वादन से सम्बन्धित दृश्यों में देखा जा सकता है।

नृत्य :

प्राचीनकाल से ही समाज के सभी वर्गों में नृत्य के प्रति अभिरुचि मिलती है। विभिन्न भावों पर आधारित ताल और लय के अनुरूप अंगों के संचालन की प्रक्रिया को ही नृत्य कहा जा सकता है। उत्सव,

जन्म, हर्ष, काम, त्याग, विलास, विवाद तथा परीक्षा आदि अवसरों पर नृत्य करने का उल्लेख है।[२८६] जैन पुराणों में नृत्य कला की विशेषताओ एवं उसके विभिन्न स्वरूपों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध हैं।[२८७] आदिपुराण में नृत्य के समय विभिन्न वेश धारण करने और कटाक्ष, कपोलों, पैरों, हाथों, मुख, नेत्रों, अंगराज, नाभि, कटिप्रदेश तथा मेखलाओं द्वारा भाव का प्रदर्शन करने का उल्लेख हुआ है। नृत्य में रस, भाव, अनुभाव एवं चेष्टाओं का होना परम आवश्यक है।[२८८] आदिपुराण में नृत्य की विभिन्न मुद्राओं के सन्दर्भ में मन्द-मन्द मुस्कान से देखते हुए भौंहों के संचालन, स्तन कम्पन, मन्थर गति, स्थूल नितम्ब के विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शन, भुजाओं के संचालन, कटि हिलाने, शरीर के नाभि आदि अवयवों के प्रदर्शन, पृथ्वी तल छोड़ कर नृत्य करने, नृत्य की विभिन्न मुद्राओं के शीघ्रता से परिवर्तन, नृत्य द्वारा केश-पाश प्रदर्शन, स्पन्दन, गायन के साथ, कटाक्ष एवं हावभाव के साथ, पुष्प एवं स्वर्ण के घटों को सिर पर रखकर, नेत्रों द्वारा विभिन्न रूप धारण करके, एक भुजा पर नर्तकी तथा दूसरे पर नर्तक को नृत्य कराते हुए स्वयं नृत्य करने और इन्द्र के ताण्डव नृत्य के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।[२८९] नृत्य के साथ वीणा, पुष्कर, बांसुरी, झांझ, नगाड़े, दुन्दुभि, झल्लरी, काहल, ताल, मृदंग, पणव, दर्दुर तथा विपंची आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है।[२९०] एलोरा की जैन गुफा सं० ३० में शिव के नटेश मूर्तियों के समान कुछ नृत्यरत मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। एक उदाहरण में दो पुरुष आकृतियों को शिव आकृति के समान एक पैर उठाकर अत्यन्त गतिशील रूप में नृत्यरत दिखाया गया है।

जैन महापुराण में नृत्य के निम्नलिखित प्रकार एवं स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। ये नृत्य मुख्यतः विभिन्न अप्सराओं (नीलांजना) एवं इन्द्र द्वारा किये गये। जैन पुराणों में शिव के स्थान पर इन्द्र द्वारा विभिन्न नृत्यों का किया जाना ध्यातव्य है। साथ ही कई नृत्य लोक शैली के नृत्य भी प्रतीत होते हैं।

(१) **आनन्द नृत्य**[२९१] : इन्द्र द्वारा आनन्द नृत्य करने तथा श्रेष्ठ गन्धर्वों द्वारा विभिन्न प्रकार के वाद्य (झांझ एवं बांसुरी आदि) बजाये जाने का उल्लेख आदिपुराण में हुआ है। इस नृत्य में अनेक नर्तकियाँ भी भाग लेती थीं तथा यह नृत्य शृंगार रस से परिपूर्ण और सरस होता था। समाज में इस नृत्य का विशेष प्रचलन था।

(२) **अलातचक्र नृत्य**[२९२] : इस नृत्य की विशेषता यह थी कि इसमें तेजी के साथ फिरकी लेते हुए नृत्य करते थे तथा विभिन्न मुद्राओं के द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग का संचालन करते थे।

(३) **इन्द्रजाल नृत्य**[२९३] : जिस नृत्य में क्षण में व्याप्त, क्षण में लघु, क्षण में प्रकट, क्षण में अदृश्य, क्षण में दूर, क्षण में निकट, कभी आकाश में तो कभी पृथ्वी पर आना प्रदर्शित होता है उसे इन्द्रजाल नृत्य के नाम से अभिहित किया गया है। इसमें नर्तक के साथ नर्तकी भी भाग लेती थी।

(४) **कटाक्ष नृत्य**[२९४] : इस नृत्य में नर्तकियाँ पुरुष की भुजाओं पर अपने कटाक्षों का विक्षेपण करती हुई नृत्य करती थीं। इसी प्रकार एक अन्य नृत्य में जो 'सूची नृत्य' कहलाता था नर्तकी पुरुष की अंगुलियों पर नृत्य करती थी।

(५) **चक्र नृत्य**[२९५] : इस नृत्य में नर्तक, नर्तकियों के साथ चक्र की भाँति तेजी से चक्कर लगाते हुए नृत्य करता था।

(६) **ताण्डव नृत्य**[२९६] : महापुराण के अनुसार पाद, कटि, कण्ठ तथा हाथ को तालों, कलाओं, वर्णों तथा लयों पर संचालित करना ही ताण्डव नृत्य है। आदिपुराण में इन्द्र द्वारा इस नृत्य को किये जाने का उल्लेख हुआ है जबकि ब्राह्मण परम्परा में शिव द्वारा इस नृत्य को करने का सन्दर्भ प्राप्त होता है।

(७) **निष्क्रमण नृत्य**[२९७] : इसमें नर्तकी विभिन्न रूप में निष्क्रमण दिखलाती हुई नृत्य करती थी।

(८) **पुतली नृत्य**[२९८] : इस नृत्य में नर्तक की भुजाओं पर नर्तकियाँ इस प्रकार नृत्य करतीं थीं मानो किसी यन्त्र की पट्टी पर पुतलियाँ यन्त्रवत नृत्व कर रहीं हों।

(९) **बहुरूपिणी नृत्य**[२९९] : इस नृत्य में नृत्यरत नर्तकियों के गले में पड़े हुए मोतियों के हार पर उनके ही प्रतिबिम्ब इस प्रकार प्रतीत होते थे जैसे इन्द्र की बहुरूपिणी विद्या ही नृत्य कर रही है।

(१०) **बांस नृत्य**[३००] : इस नृत्य में नर्तकी, नर्तक की अँगुलियों के अग्रभाग पर अपनी नाभि रखकर इस प्रकार फिरकी लगाती हुई नृत्य करती थी जैसे किसी बाँस के ऊपर नृत्य किया जा रहा हो।

(११) **लास्य नृत्य**[३०१] : सुकुमार प्रयोगों से परिपूर्ण होने के कारण यह नृत्य लास्य नृत्य कहलाता था। श्रावण माह में दोला क्रीड़ा के समय कामिनियों द्वारा यह नृत्य किया जाता था।[३०२]

(१२) **सामूहिक नृत्य**[३०३] : इस नृत्य में अनेक व्यक्ति संयुक्त रूप से एक ही भाव, अनुभाव, रस एवं चेष्टाओं के साथ नृत्य करते थे। यह नृत्य सामूहिक रूप से घेरा बनाकर किया जाता था।

(१३) **सूची नृत्य**[३०४] : इस नृत्य में नर्तकी, नर्तक के हाथों की अंगुलियों पर नृत्य करती थी।

(१४) **नीलांजना नृत्य** : आदिपुराण में नीलांजना के नृत्य को देखकर तीर्थंकर ऋषभदेव को वैराग्य उत्पन्न होने का उल्लेख है।[३०५]

(१५) **मयूर नृत्य**[३०६] : आदिपुराण में मयूर का रूप धर कर नृत्य करने का उल्लेख है जो आधुनिक काल की भाँति उस समय भी मयूर नृत्य के प्रचलन की ओर संकेत करता है।

जैन पुराणों में उल्लिखित संगीत व नृत्य के मूर्त उदाहरण हमें विभिन्न जैन मन्दिरों व गुफाओं की मूर्तिकला और चित्रकला में भी देखने को मिलते हैं। एलोरा (गुफा सं० ३१) में नृत्यरत अप्सराओं के चित्र इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।[३०७] इसी प्रकार विमलवसही के (माउण्ट आबू, १२वीं शती ई०) सभामण्डप के वितान पर विभिन्न नृत्यांगनाओं के साथ चतुर्भुजी अम्बिका एवं कुबेर दिक्पाल के अंकन में नृत्य की विभिन्न मुद्राएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं।[३०८]

दैनिक उपयोग के पात्र आदि :

महापुराण में मिट्टी, स्वर्ण, चाँदी, ताम्र आदि के विभिन्न बर्तनों का उल्लेख मिलता है जिनका पाकशाला तथा अन्य कार्यों के लिये प्रयोग किया जाता था। महापुराण में वर्णित है कि अन्तिम कुलकर नाभिराज ने स्वयं सर्वप्रथम मिट्टी के अनेक प्रकार के पात्र बनाकर दिये थे। उन्होंने पात्र बनाने का उपदेश भी दिया था।[३०९] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में मिट्टी के ही बर्तनों का प्रयोग किया गया और क्रमशः बाद में विभिन्न धातुओं का प्रयोग विभिन्न पात्रों के निमित्त हुआ। जैन पुराणों से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर उस समय निम्नलिखित पात्रों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है—पिठर[३१०] (बटलोई या मटका), स्थाली[३११] (थाली), चाषक[३१२] (कटोरा), सूर्प[३१३] (अनाज से कूड़ा साफ करने का पात्र), कलश[३१४] (जल भरने का घड़ा), भृंगोर[३१५] (झारी या सागर), उष्ट्रिका[३१६] (कड़ाहा या कड़ाही), पार्थिवघट[३१७] (मिट्टी का घड़ा), करक[३१८] (करवा), स्वर्ण कुम्भ[३१९], शुक्ति आकृतिपात्र[३२०] (सीप के आकार के पात्र), कुण्ड[३२१] (पत्थर का

कठौता), स्थाली[३२२] (हण्डे-भोजन बनाने के विशालपात्र) तथा कर्करिका[३२३] (जल रखने का झारी जैसा पात्र)। आदिपुराण में चालिन[३२४] (आटा चालने की चलनी) का भी उल्लेख हुआ है। विवाह तथा अन्य कार्यों में प्रयुक्त होने वाले सुवर्ण के पाट एवं चौकी का भी उल्लेख महापुराण में है।[३२५] देलवाड़ा और कुंभारिया के जैन मन्दिरों में तीर्थंकरों के अभिषेक एवं नेमिनाथ के विवाह के प्रसंग में विभिन्न प्रकार के घटों का अकन हुआ है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महापुराण में केवल तीर्थंकरों एवं उनके यक्ष-यक्षियों के विवरण ही नहीं वरन् तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित विविध पक्षों का भी विस्तार से निरूपण हुआ है। कदाचित् जीवन का कोई ऐसा पक्ष रहा हो जिसका महापुराण में उल्लेख न हुआ हो।

पाद-टिप्पणी

१. कमल गिरि, भारतीय शृंगार, वाराणसी १९८७, पृ० ४।
२. शाङ्खायन गृह्यसूत्र ४,१५; अथर्ववेद १९.४४.१।
३. उत्तरपुराण ६२.२९।
४. उत्तरपुराण ६८.२२५।
५. उत्तरपुराण ६३.४६२, ४५८।
६. भोगभूमि ऐसा काल था जिसमें मनुष्यों के मनोवांछित वस्त्राभूषणों की पूर्ति कुछ विशेष वृक्षों द्वारा होती थी।
७. आदिपुराण ९.१४-४२।
८. सी० शिवराममूर्ति, स्कल्पचर इन्स्पायर्ड बाई कालिदास, मद्रास; यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, पृ० ७१।
९. उत्तरपुराण ६१.१२४; ६३.४१५। आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, अजन्ता एलोरा ऐण्ड औरंगाबाद केव्स, बम्बई १९६२, चि० सं० १३८।
१०. इन्द्रमणि के दो भेद बताये गये हैं। एक महाइन्द्रमणि जो हल्के और गहरे नीले रंग की होती थी, दूसरी इन्द्रनीलमणि जो हल्के नीले रंग की होती थी।
११. हरिवंशपुराण २.७, ८, ९, १०, ५४; ७.७२, ७३; उत्तरपुराण ६८.६७६; आदिपुराण ३५.४२।
१२. आदिपुराण १४.१४; ७.२३१; १३.१५४, १३८, १३६।

१३. आदिपुराण १२.४४; ३५.२३४ ।
१४. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० १५२ ।
१५. आदिपुराण, ३.७८, ९१, १३०; ५.४; ९.४१; १०.१२६; ११.१३३ ।
१६. आदिपुराण १६.२३४ ।
१७. आदिपुराण ३३.१५३ ।
१८. यू० पी० शाह, पू०, नि०, चित्र सं० ८९, १५५, १६२; मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, चित्र सं० ५३, ५४ ।
१९. उत्तरपुराण ६८.६५०; आदिपुराण ११.१३३ ।
२०. आदिपुराण ३.७८ ।
२१. यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० १२५, १५० ।
२२. आदिपुराण १.४४; ४.९४; १४.८; पद्मपुराण ३६.७; हरिवंशपुराण ११.१३; ३८.४२ ।
२३. आदिपुराण २९.१६७ ।
२४. पद्मपुराण ७१.७; ११.३२७; आदिपुराण ९.१८९; रघुवंश (कालिदास), सं० एच० डी० वेलाकर, बम्बई १९४८, १३.५९ ।
२५. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना १९६४, पृ० २१९ ।
२६. पद्मपुराण ८.७० ।
२७. आदिपुराण १४.७ ।
२८. आदिपुराण ३.७८ ।
२९. आदिपुराण १६.२३३ ।
३०. बृहत्संहिता ४८.५ ।
३१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २५६ ।
३२. आदिपुराण ३.७८; ११.१३३; १४.११—१४; १५.१८९; १६.३३, ३८, ४१; ३७.१५७; ४३.३४७; पद्मपुराण ११८.४७; हरिवंशपुराण ७.८९ ।
३३. आदिपुराण १५.१८९; १६.३३ ।
३४. आदिपुराण ३.२४७ ।
३५. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, चित्र सं० ४९ ।
३६. आदिपुराण ३.७८, १०२; ४.१७७; १६.१३३; ९.१९०; ३३.१२४ ।
३६. समराइच्चकहा २, पृ० १०० ।
३८. यशस्तिलक पृ० ३६६ ।
३९. पद्मपुराण ३.३; ७१.६ ।
४०. कुमारसम्भव ७.३८ ।

४१. आदिपुराण ७.१२९-३२ ।
४२. वासुदेवशरण अग्रवाल, पू० नि०, पृ० १५४ ।
४३. आदिपुराण १८.२०३-२०५; ३५.३२-३५ ।
४४. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २०६-२०८ ।
४५. वही, पृ० २५८ ।
४६. आदिपुराण २६.१२६; ३३.२४७ ।
४७. आदिपुराण १६.४७ ।
४८. आदिपुराण १६.५२ ।
४९. आदिपुराण १६.५२ ।
५०. आदिपुराण १६.५३ ।
५१. आदिपुराण १६.५४ ।
५२. आदिपुराण १६.५४ ।
५३. आदिपुराण १६.५०-५१ ।
५४. रघुवंश ६.१४; मेघदूत ५० ।
५५. आदिपुराण १६.४९ ।
५६. आदिपुराण १६.४९ ।
५६. आदिपुराण ३.७, ७८, १५६; ५.६, १३६; १६.५८७; उत्तरपुराण ६३.४३४; पद्मपुराण ३.२७७; ७१.२, हरिवंशपुराण ७.८७; ८,१८२ ।
५७. आदिपुराण १५.८१-८३ ।
५८. आदिपुराण १६.३८ ।
५९, अर्थशास्त्र (वाचस्पति गैरोला अनुवाद), वाराणसी १९७७, पृ० १५२-५३; अर्थशास्त्र (शामाशास्त्री अनुवाद) मैसूर १९५१, पृ० ७६-७८ ।
६०. आदिपुराण १६.५६ ।
६१. आदिपुराण १६.५७ ।
६२. आदिपुराण १९.५८; हरिवंशपुराण ७.८९ ।
६३. आदिपुराण १६.५८ ।
६४. आदिपुराण १६.५९ ।
६५. आदिपुराण १६.५९ ।
६६. आदिपुराण १६,५९ ।
६७. आदिपुराण १६.६० ।
६८. आदिपुराण १६.६१ ।
६९. आदिपुराण १६.६१ ।
७०. आदिपुराण १६,६१, ६५-६६ ।

७१. आदिपुराण १६.६२-६४।

७२. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी १९६८, पृ० २१६।

७३. आदिपुराण ६.८।

७४. आदिपुराण १५.१९३; हरिवंशपुराण ४७.३८।

७५. पद्मपुराण ३,२७७; ८८.६१।

७६. पद्मपुराण ३३.१८३; आदिपुराण २९,१६७।

७७. हरिवंशपुराण ११.१३।

७८. आदिपुराण १५,१९२-१९४।

७९, आदिपुराण १४.११।

८०. पद्मपुराण १००.२५।

८१, आदिपुराण १५.८१; पद्मपुराण ३,१९१; एलोरा की गुफा सं० ३२ की अंबिका आकृति में भी मुक्ताहार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, पू० नि०, चित्र सं० १४०।

८२, आदिपुराण ५.६।

८३. आदिपुराण ९.१५०।

८४. देवीप्रसाद मिश्रा, पू० नि०, पृ० १६०

८५. हरिवंशपुराण ८.१८९-९१; १०वीं-१२वीं शती ई० की यक्षी मूर्तियों में गले के विभिन्न आभूषणों के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

८६. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २६१।

८७. आदिपुराण ५.२५७; ९.४१; १४.१२; १५.१९९; हरिवंशपुराण ११.१४।

८८, गोकुलचन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर १९६७ पृ० १४७।

८९. रघुवंश ६.१४, ५३; १६.६०।

९०. आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, पू० नि०, चित्र सं० १४०।

९१. आदिपुराण ३.१५७; ९.४१; १५.१९९; उत्तरपुराण ६८.६५२; हरिवंशपुराण ७.८९; पद्मपुराण ३.२, १९०; ८.४१५; ११. ३२८; ८५.१०७; ८८.३१; रघुवंश ७.५०।

९२. रघुवंश ७.५०; इन भुजबन्धों के उदाहरण १०वीं व ११वीं शती ई० की क्रमशः एलोरा और सतना की यक्षी की मूर्तियों में मिलते हैं।

९३. हरिवंशपुराण ८.१८०।

९४. हरिवंशपुराण ८.१८६; ११.११; पद्मपुराण ३.३; आदिपुराण ७.२३५; १४.१२; १५.२३६; उत्तरपुराण ६८.६५२।

९५. आदिराण ३७,१८५ ।

९६. भगवतीसूत्र ९.३३.३; १०वीं-११वीं शती ई० के देवगढ़ मन्दिर ११ और १२ की अंबिका व चक्रेश्वरी यक्षी की आकृतियों के करों में कटक के स्पष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं । कर्नाटक से प्राप्त लगभग ११वीं शती ई० की चतुर्भुजा चक्रेश्वरी मूर्ति के करों में वर्तमान चूड़ी के समान आभूषण है ।

९७. वहीं ।

९८. रघुवंश ६.१८; अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.१, २ ।

९९. हरिवंशपुराण ८.१८६; ४५.११; आदिपुराण ७.२३५; ४७.२१९; उत्तरपुराण ५९.१६७; ६८.३६७; पद्मपुराण ३.१९५ ।

१००. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, चित्र सं० ५४; यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० १२५ ।

१०१. पद्मपुराण ३३.१३१ ।

१०२. पद्मपुराण ७६.६५; आदिपुराण ३.१५९; ११.४४; १२.३०, ३८; १४.११-१४; १४; १९.१२९; उत्तरपुराण ६३.४३७ ।

१०३. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २१ ।

१०४. भगवतीसूत्र ९.३३.३ ।

१०५. रघुवंश ९.३७; १९.२५; कुमारसम्भव ८.८३ ।

१०६. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, चित्र सं० २०, ३७, ५३, ५४; आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, पू० नि०, चित्र सं० १४० ।

१०७. ऋतुसंहार ३.२६; ६.७ ।

१०८. पद्मपुराण ३.१९४; ८.७२; आदिपुराण ७.१२९; १२.२९; (११वीं शती ई० की पतियानदाई (सतना, म० प्र०) की अंबिका मूर्ति में कांची का स्पष्ट उदाहरण द्रष्टव्य है) ।

१०९. आदिपुराण १५.२०३ ।

११०. रघुवंश १९.४१; ऋतुसंहार ३.२०; मेघदूत (पूर्व) ३९ ।

१११. आदिपुराण १३.६९; १६.१६,१९; हरिवंशपुराण ७.८९; ११.१५ ।

११२. भगवतीसूत्र ९.३३.३; आदिपुराण १६.१३७ ।

११३. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० २६५ ।

११४. मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, चित्र सं० ५१, ५३, ५४ ।

११५. आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, पू० नि०, चित्र सं० १४० ।

११६. यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० ११६ ।

११७. आदिपुराण १४.१४ ।

११८. मोतीचन्द्र, पू० नि०, भूमिका, पृ० २० ।

११९. भगवतीसूत्र १५.३, ४; १६.६.५; १५.१.१.५४१; पउमचरिय ३.१४३ ।
१२०. पउमचरिय ३.१४३; २७.३३; भगवतीसूत्र ११.९.४१७; कालिदास ने भी साधुओं द्वारा वृक्षों की छाल से निर्मित वस्त्र पहनने का उल्लेख किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.१४; १९, ३० ।
१२१. पउमचरिय ८.२७३; भगवतीसूत्र ९.३३.३; ११.११.३२ ।
१२२. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० १४७ ।
१२३. आदिपुराण ५.२७६ ।
१२४. आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, पू० नि०, चित्र सं० १४१-१४२; यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० २९, ३१ ।
१२५. आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, पू० नि०, चित्र सं० १३९ ।
१२६. यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० २२, ३५ ।
१२७. वहीं, चित्र सं० ९०, ११९, १४७ ।
१२८. मेघदूत ३० ।
१२९. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० १४३ ।
१३०. वहीं ।
१३१. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य ४.३६-६१ ।
१३२. समराइच्चकहा १, पृ० ७४; आचारांगसूत्र २, ५, १, ३ ।
१३३. मोतीचन्द्र, पू० नि०, पृ० ५५ ।
१३४. पद्मपुराण ३.१९८; आदिपुराण १०.१८१; ११.१३३; १२.३०; १५.२३ ।
१३५. मोतीचन्द्र, पू० नि०, पृ० ५५ ।
१३६. आदिपुराण ९.५३ ।
१३७. आदिपुराण ८.८; १२.१७६; ३७.९६ ।
१३८. ऋतुसंहार ६.५ ।
१३९. यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० १४७ ।
१४०. आदिपुराण ७.१४२ ।
१४१. आदिपुराण १६.२३४ ।
१४२. आदिपुराण ११.४४; पद्मपुराण ३ १२२ ।
१४३. आदिपुराण १२.१७३ ।
१४४. वासुदेवशरण अग्रवाल, पू० नि०, पृ० ७६ ।
१४५. मोतीचन्द्र, पू० नि०, पृ० ९ ।
१४६. आदिपुराण ९.४८; ३०.१०३; हरिवंशपुराण ७.८७; ११.१२१ ।
१४७. अंगविज्जा २८, पृ० १६० ।

१४८. बृहत्कल्पसूत्र ४.३६.६२ ।
१४९. आदिपुराण ९.४८; अंगविज्जा २८, पृ० १६० ।
१५०. हेमचन्द्र का व्याकरण ३.४.४१ ।
१३१. अमरकोश २.६.११७-११८ ।
१५२. आदिपुराण १०.१७८ ।
१५३. अंगविज्जा २८, पृ० १६० ।
१५४. कमल गिरि, पू० नि, पृ० १३१ ।
१५५. आदिपुराण १.१४; हरिवंशपुराण ९.११५ ।
१५६. हेमचन्द्र का व्याकरण ३.३.३ ।
१५७. आदिपुराण ९.४८ ।
१५८. आदिपुराण ४७.७६; हरिवंशपुराण ११.१२१ ।
१५९. अंगविज्जा २८, पृ० १६०-१६१ ।
१६०. हरिवंशपुराण ११.१२१; आदिपुराण ३.१८८; ७.१४२; ९;५३ ।
१६१. अंगविज्जा ३१, पृ० १६३-६४ ।
१६२. अंगविज्जा २८, पृ० १६० ।
१६३. आदिपुराण १३.७० ।
१६४. अमरकोश २.६.११७ ।
१६५. आदिपुराण १.७, २८.३८; पद्मपुराण ३.२९६; हरिवंशपुराण ९.११५ ।
१६६. पउमचरिय ३.१४३; २७.३३; भगवतीसूत्र ११.९.४१७; कालिदास ने भी साधुओं द्वारा वृक्षों की छाल से निर्मित वस्त्र पहनने का उल्लेख किया है । अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.१४, १९, ३० ।
१६७. मोतीचन्द्र, पू० नि०, पृ० ३१ ।
१६८. आदिपुराण ८.१६१; २७.२४; ३७.१५३ ।
१६९. वासुदेवशरण अग्रवाल, पू० नि०, ७५ ।
१७०. भगवतीसूत्र १५.१.५४१ ।
१७१. पद्मपुराण ७.१७१, हरिवंशपुराण ७.८७; ११.१२१; आदिपुराण ६.६६; ९.२४; ११.२७; ३०.१०३ ।
१७२. आचारांगसूत्र २.५.१३ ।
१७३. आदिपुराण ३.१८८ ।
१७४. आदिपुराण ४३.२११ ।
१७५. हरिवंशपुराण ११.१२१ ।
१७६. रघुवंश ७.२९ ।
१७७. आदिपुराण ३९.२८ ।

१७८. आदिपुराण ३९.१९३ ।
१७९. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य ४.३९.२४; भगवतीसूत्र ९.३३.३ ।
१८०. द्रष्टव्य, कमल गिरि, पू० नि०, पृ० १४८ ।
१८१. पद्मपुराण १६.२४०; ८.४२४; २७.३१; ७.१७२; २७.६७; ३.२९६; हरिवंशपुराण ४१.३३ ।
१८२. सी० शिवराममूर्ति, 'दि चार्म ऑव फेमिनिन कॉयफर', द्रष्टव्य वीणा पुरोहित, इण्डियन हेयर स्टाइल, बम्बई १९६२ ।
१८३. आदिपुराण ३७.११८ ।
१८४. मेघदूत (उत्तर) २; ऋतुसंहार ६.३३; कुमारसंभव ७.१४ ।
१८५. आदिपुराण १२.५३; १५.९०; ४३.२४७ ।
१८६. बृहत्संहिता ७७.५; कुमारसम्भव ७.१४; मेघदूत (पूर्व) ३६; ऋतुसंहार ४.५; ५.१२ ।
१८७. आदिपुराण २७.१२० ।
१८८. आदिपुराण १२.२२१ ।
१८९. रघुवंश ४.५४; ८.५३ ।
१९०. वासुदेवशरण अग्रवाल, कला और संस्कृति, इलाहाबाद १९५८, पृ० २८६ ।
१९१. आदिपुराण ६.८० ।
१९२. वासुदेवशरण अग्रवाल 'टेराकोटा फिगरिन्स ऑफ अहिच्छत्रा, डिस्ट्रिक्ट बरेली, यू० पी०', एन्शियन्ट इण्डिया, सं० ४, पृ० १३२, फलक ४५ ।
१९३. अमरकोश २.६.९७ ।
१९४. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन', कला और संस्कृति, पृ० २५१ ।
१९५. आदिपुराण १२.४१; ३७.१०८; २८.३१, ३९ ।
१९६. हरिवंशपुराण ४३.१२; आदिपुराण ३५.३२-३६; ३७.११८ ।
१९७. यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० १०४ ।
१९८. आदिपुराण २८.३१ ।
१९९. रघुवंश १४.१२; मेघदूत (पूर्व) १८ ।
२००. रघुवंश १७.२३ ।
२०१. यू० पी० शाह, पू० नि०, चित्र सं० १४७, १५४ ।
२०२. आदिपुराण ३५.३४ ।
२०३. कमल गिरि, पू० नि०, पृ० ६ ।
२०४. पउमचरिय ६९.६ ।

२०५. भगवतीसूत्र ९.३३.३ ।
२०६. कादम्बरी (बाणभट्टकृत), अनु० जगन्नाथ पाठक, वाराणसी १९७२, पृ० २७६ ।
२०७. आदिपुराण २०.२० ।
२०८. आदिपुराण ७.२३०; १४.६; ४३.२४७ ।
२०९. आदिपुराण ७.२३०; कादम्बरी, पृ० २१, २८४; हर्षचरित, पृ० १२७ ।
२१०. आदिपुराण १४.९; २७.१२०; ४३.२४७ ।
२११. कुमारसम्भव ७.५९ ।
२१२. आदिपुराण ४३.२४७ ।
२१३. आदिपुराण ७.१३४; ४३.२४८ ।
२१४. रघुवंश १७.२४; मालविकाग्निमित्रम् ३.५ ।
२१५. आदिपुराण ४३.२४८ ।
२१६. वहीं ।
२१७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७.२३; कुमारसम्भव ५.३४ ।
२१८. आदिपुराण ७.१३३, १४५ ।
२१९. आदिपुराण १३.१७८ ।
२२०. आदिपुराण ७.२३०; ९.७, ११; १२.१७४; हरिवंशपुराण ३८.५४ ।
२२१. पउमचरिय ३.१०५; ८.२७; ३१.४६; ११७.२६ ।
२२२. कुमारसम्भव ७.१५; ऋतुसंहार २.२२ ।
२२३. आदिपुराण ९.७,११ ।
२२४. आदिपुराण १४.४ ।
२२५. आदिपुराण १२.१७४ ।
२२६. रघुवंश १२.२७; १७.२४ ।
२२७. उत्तरपुराण ६३.२८९ ।
२२८. आदिपुराण १४.८८ ।
२२९. पउमचरिय २.११; ८.२६८; १४.९२ ।
२३०. रघुवंश ४.५५; १३.६०; १९.२५ ।
२३१. आदिपुराण १४.८८ ।
२३२. आदिपुराण ८,१४८; १६.२३४; १७.१६७; हरिवंशपुराण ३१.३ ।
२३३. आदिपुराण ५.२८८; ११.८ ।
२३४. आदिपुराण ८.१४८; १५.८८
२३५. ज्ञातधर्मकथासूत्र पृ० ६८ ।
२३६. आचारांगसूत्र २.११.१-८ ।

२३७. कल्पसूत्र, पृ० २५३, २५४, २९५।
२३८. हरिवंशपुराण ८.१५८।
२३९. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृ० ४१३।
२४०. हरिवंशपुराण १९.१५३-५४, १६९, १७१।
२४१. आदिपुराण १३.१७४; १६.१९७।
१४२. आचारांगसूत्र २.१५.५-१५; भगवतीसूत्र ५.४.६३६; हरिवंशपुराण ८.१५९; यहाँ पर वितत अवनद्ध वाद्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।
२४३. हरिवंशपुराण १९.१४३-१४४।
२४४. हरिवंशपुराण १९.१४५।
२४५. आदिपुराण १५.१४९; २३.६२।
२४६. आदिपुराण १२.२३९; १२.१९९-२०४।
२४७. आदिपुराण १२.२०३।
२४८. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० ६२।
२४९. वहीं, पृ० १८२।
२५०. हरिवंशपुराण ८.४४; पद्मपुराण २४.२०।
२५१. लालमणि मिश्र, भारतीय संगीत वाद्य, नई दिल्ली १९७३, पृ० ५७।
२५२. हरिवंशपुराण १९.१३७।
२५३. उत्तरपुराण ७५.३२७-३२८।
२५४. पद्मपुराण २४.२०; हरिवंशपुराण १९.१४३।
२५४. पद्मपुराण २.२०; हरिवंशपुराण १९.१४३।
२५५. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० ६५।
२५६. आदिपुराण १३.७; हरिवंशपुराण ११.१२०।
२५७. पद्मपुराण ६.३७९; हरिवंशपुराण ४.६; ५९.७६; आदिपुराण १५.१४७।
२५८. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० २९६।
२५९. पद्मपुराण ८०.५५।
२६०. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० ६९।
२६१. पद्मपुराण ८०.५४; हरिवंशपुराण ८.१४१; आदिपुराण १३.१७७; १५.१४७; २३.६२।
२६२. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० २९७।
२६३. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० ७६-७८।
२६४. हरिवंशपुराण ८.१५७; आदिपुराण १५.१४७; २३.६३।
२६५. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० २९७।

२६६. हरिवंशपुराण २२.१२; आदिपुराण १२.२०७; २३.६२ ।
२६७. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० २९७ ।
२६८. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० ७८-७९ ।
२६९. आदिपुराण ३.१७४; १४.११५ ।
२७०. पद्मपुराण ४४.७२; ५८.२७; हरिवंशपुराण ८.१४१; आदिपुराण १३.१३ ।
२७१. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० ८६ ।
२७२. हरिवंशपुराण ४.६; ८.१५७; २२.१२; आदिपुराण १२.२०५; १३.१७७; १७.१४३ ।
२७३. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० २९८ ।
२७४. आदिपुराण १२.२०७; ५४.१९२ ।
२७५. हरिवंशपुराण ५९.१६; आदिपुराण १५.१४७; १७.११३; २३.६२ ।
२७६. देवीप्रसाद मिश्र, पू० ति०, पृ० २९९ ।
२७७. हरिवंशपुराण ५९.१६; आदिपुराण १२.२०७; १५.४७; उत्तरपुराण ६८.५४९ ।
२७८. लालमणि मिश्र, पू० नि०, पृ० १००-१०१ ।
२७९. हरिवंशपुराण १०.१०२; आदिपुराण १२.२०३; १४.११६ ।
२८०. पद्मपुराण ६.३७९; हरिवंशपुराण ५९.१६; आदिपुराण १२.२०० ।
२८१. हरिवंशपुराण ८.१४१; आदिपुराण १२.२०८; १३.१३; १५.१४७; उत्तरपुराण ६८.६३१ ।
२८२. हरिवंशपुराण १९.१४३ ।
२८३. आदिपुराण १३.१३; १४.१५८ ।
२८४. आदिपुराण १५.१४७ ।
२८५. हरिवंशपुराण ५.३६५ ।
२८६. शिवशेखर मिश्र, मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी १९६६; पृ० ४३१ ।
२८७. पद्मपुराण ३९.५३-५६; हरिवंशपुराण २२-१५ ।
२८८. आदिपुराण १४.१४५-१४९ ।
२८९. आदिपुराण १२.१८९-१९७; १४.११६; १४.१३२; १४.१५३; १४.१९३ ।
२९०. आदिपुराण १४.११६; हरिवंशपुराण २२.११-२१ ।
२९१. आदिपुराण १४.१५७-१५८; हरिवंशपुराण ५३.३० ।
२९२. आदिपुराण १४.९२८; १४.१४३ ।

१९३. आदिपुराण १४.१३०-१३९ ।
१९४. आदिपुराण १४.१४४ ।
१९५. आदिपुराण १४.१३६ ।
१९६. हरिवंशपुराण ८.२३३; वृत्तानुगन्धिगद्यम, पृ० ४९१; आदिपुराण १४. १३३; उत्तरपुराण ५०.३४ ।
१९७. आदिपुराण ९४.९३४ ।
१९८. आदिपुराण १४.१५० ।
१९९. आदिपुराण १४.१४१ ।
२०० आदिपुराण १४.१४३ ।
२०१. आदिपुराण १४.१३३, १५५ ।
२०२. देवीप्रसाद मिश्र, पू० नि०, पृ० ३०५ ।
२०३. आदिपुराण १४.१४८-१४९ ।
२०४. हरिवंशपुराण २१.४४; आदिपुराण १४.१४२ ।
२०५. कंकालीटीला, मथुरा (ल० पहली शती ई०) से प्राप्त ऋषभनाथ के जीवन दृश्य में नीलांजना का नृत्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। साथ ही कुंभारिया के जैन मन्दिरों में ऋषभनाथ के जीवन दृश्यों के शिल्पांकन में भी नीलांजना का नृत्य दिखाया गया है।
मारुतिनन्दन तिवारी, पू० नि०, चित्र सं० १२ ।
२०६. आदिपुराण १४.१९३ ।
२०७. आर० एस० गुप्ते एवं बी० डी० महाजन, अजन्ता, एलोरा एण्ड औरंगाबाद केव्स, बम्बई १९६२; चित्र सं० १३६ ।
२०८. यू० पी० शाह, जैन रूपमण्डन, चित्र सं० १५४, १६१ ।
२०९. आदिपुराण ३.२९४ ।
२१०. पद्मपुराण ३३.१८०; आदिपुराण ५.७२ ।
२११. पद्मपुराण १२०.२१; ५३.१३४; आदिपुराण ३.२०४; ९.४७; हरिवंशपुराण ७.८६ ।
२१२. आदिपुराण ९.४७; हरिवंशपुराण ७.८६ ।
२१३. पद्मपुराण ३३.१८० ।
२१४. आदिपुराण १३.११६ ।
२१५. पद्मपुराण ९.४७; आदिपुराण ९.४७ ।
२१६. आदिपुराण १०.४४ ।
२१७. आदिपुराण ३५.१२६ ।

३१८ आदिपुराण ९.४७ ।
३१९. आदिपुराण ४३.२१० ।
३२०. आदिपुराण ९.४७ ।
३२१. आदिपुराण २६.४६ ।
३२२. आदिपुराण ३७.६७ ।
३२३. हरिवंशपुराण १५.११ ।
३२४. आदिपुराण १.१३९ ।
३२५. आदिपुराण ४३.२६१; उत्तरपुराण ७१.१५१ ।

●

नवम अध्याय

उपसंहार

पुराणों की रचना ब्राह्मण एवं जैन दोनों ही धर्मों में प्रचुर संख्या में की गयी। ये पुराण वस्तुतः भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं जिनमें विभिन्न कथाओं के माध्यम से धार्मिक जीवन के विविध पक्षों के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलापरक विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा मिलती है। श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे ग्रन्थों को चरित या चरित्र तथा दिगम्बर परम्परा में पुराण कहा गया है। लगभग पाँचवीं शती ई० से १०वीं शती ई० के मध्य जिन प्रारम्भिक जैन पुराणों की रचना की गयी उनमें विमलसूरिकृत पउमचरिय, रविषेणकृत पद्मपुराण, जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, जिनसेन एवं गुणभद्रकृत संस्कृत महापुराण तथा पुष्पदन्तकृत अपभ्रंश महापुराण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन पुराणों में महापुराण सर्वाधिक लोकप्रिय था जो आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो खण्डों में विभक्त है। आदिपुराण की रचना जिनसेन ने लगभग नवीं शती ई० के मध्य और उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र ने नवीं शती ई० के अंत या १०वीं शती ई० के प्रारम्भ में की थी। महापुराण में जैन देवकुल के २४ तीर्थंकरों तथा १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण सहित कुल तिरसठ शलाकापुरुषों (श्रेष्ठजनों) के जीवनचरित का विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ है। कलापरक अध्ययन की दृष्टि से आदिपुराण एवं उत्तरपुराण अर्थात् महापुराण (दिगम्बर परम्परा) की सामग्री का विशेष महत्त्व है क्योंकि उनका रचनाकाल (९वीं-१०वीं शती ई०) तीर्थंकरों सहित अन्य शलाकापुरुषों तथा जैन देवों के स्वरूप या लक्षण निर्धारण का काल था। इन ग्रन्थों की रचना के बाद ही श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में विभिन्न शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें जैन आराध्यदेवों के प्रतिमालक्षण का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया।

धार्मिक समन्वय की भावात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से ऋषभनाथ तीर्थंकर के १००८ नामों से स्तवन के सन्दर्भ में शिव, ब्रह्मा, विष्णु एवं बुद्धादि देवों के अनेक नामों का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन नामों

में स्वयंभू, शंभु, शंकर, सद्योजात, जगन्नाथ, लक्ष्मीपति, त्रिनेत्र, जित-मन्मथ, त्रिपुरारि, त्रिलोचन, धाता, ब्रह्मा, शिव, ईशान, हिरण्यगर्भ, विश्वमूर्ति, भूतनाथ, विधाता, मृत्युञ्जय, पितामह, महेश्वर, महादेव, कामारि एवं चतुरानन मुख्य हैं। अन्य नामों में इन्द्र (महेन्द्र, सहस्राक्ष), सूर्य (आदित्य), कुबेर, वामन एवं राम, कृष्ण, इन्द्राणी एवं विन्ध्य-वासिनी देवी उल्लेखनीय हैं। साथ ही बौद्ध देवकुल से सम्बन्धित बुद्ध, सिद्धार्थ, स्वयंबुद्ध तथा अक्षोभ्य जैसे नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। भगीरथ और गंगा तथा शिव के स्थान पर इन्द्र के ताण्डव नृत्य के सन्दर्भ भी ब्राह्मण परम्परा के अनुकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार सोलह संस्कारों तथा वर्णों की चर्चा भी सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

महापुराण की रचना राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष–प्रथम एवं कृष्ण–द्वितीय के शासनकाल और क्षेत्र में हुई, अतः उसकी कलापरक सामग्री का राष्ट्रकूट कला केन्द्र एलोरा की जैन गुफाओं (सं० ३०-३४) की मूर्तियों की शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। ज्ञातव्य है कि महापुराण एवं एलोरा की जैन गुफायें समकालीन (९वीं-१०वीं शती ई०) और दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध हैं जिससे महापुराण की कलापरक सामग्री के एलोरा की जैन गुफाओं की मूर्तियों से तुलना का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। एलोरा की बाहुबली मूर्तियों में उनके शरीर से लिपटी माधवी एवं सर्प, वृश्चिक, छिपकिली तथा मृग जैसे जीव-जन्तुओं का शरीर पर या समीप ही विचरण करते हुए और पार्श्वनाथ की मूर्तियों में शंबर के विस्तृत उपसर्गों के अंकन स्पष्टतः महापुराण के उल्लेखों से निर्दिष्ट रहे हैं।

महापुराण में ६३ शलाकापुरुषों के अन्तर्गत् २४ तीर्थंकरों की सूची में—ऋषभनाथ (या आदिनाथ), अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), शीतलनाथ, श्रेयांशनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमि-नाथ (या अरिष्टनेमि), पार्श्वनाथ एवं महावीर (या वर्धमान); १२ चक्रवर्तियों में—भरत, सगर (या सागर), मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभौम (या सुभूम) पद्म, हरिषेण, जयसेन तथा ब्रह्मदत्त; ९ बलभद्रों में—विजय (या अचल), अचल (या विजय), धर्म (या भद्र), सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण (या आनन्द), नन्दिमित्र

(या नन्दन), राम (या पद्म) एवं पद्म (या बलराम); ९ नारायणों में—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुष सिंह, पुण्डरीक (या पुरुषपुण्डरीक), दत्त, लक्ष्मण व कृष्ण तथा ९ प्रतिनारायणों में—अश्वग्रीव, तारक, मधु (या मेरक), मधुसूदन (निशुम्भ), मधुक्रीड (या मधुकैटभ), निशुम्भ (या बलि), बलीन्द्र (या प्रहलाद), रावण एवं जरासन्ध के नामोल्लेख मिलते हैं।

पूर्णविकसित जैन देवकुल में ६२ शलाकापुरुषों के अतिरिक्त २४ तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी युगल, विद्यादेवियाँ, अष्टदिक्पाल, नवग्रह, लक्ष्मी, सरस्वती, नैगमेषी, इन्द्र, ब्रह्मशान्ति एवं कपर्दी यक्ष और गणेश जैसे देवी-देवता सम्मिलित थे। ल० १२वीं शती ई० तक जैन देवकुल के देवताओं के विस्तृत लक्षण भी नियत किये जा चुके थे और तदनुरूप देवगढ़, खजुराहो, मथुरा, बिलहरी, खण्डगिरि, उड़ीसा, राजगिर, एलोरा, हुम्मच, हलेबिड, अंसिकेरी, श्रवणबेलगोल जैसे दिगम्बर एवं ओसियां, अकोटा, देलवाड़ा, कुम्भारिया, तारंगा जैसे श्वेताम्बर स्थलों पर विभिन्न देव स्वरूपों का निरूपण हुआ। साहित्य और शिल्प के आधार पर २४ तीर्थंकरों के बाद यक्षी, विद्यादेवी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि के रूप में देवियों को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली जो शक्ति और तांत्रिक पूजन से प्रभावित प्रतीत होता है।

जैन देवकुल के अध्ययन की दृष्टि से महापुराण की सामग्री की कुछ निजी विशेषताएँ रही हैं जो किन्हीं अर्थों में नवीं-१०वीं शती ई० में जैन देवकुल के विकास के अनुरूप हैं। दिगम्बर परम्परा में २४ तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी युगलों का स्वतन्त्र निरूपण १२वीं शती ई० में हुआ जो प्रतिष्ठासारसंग्रह में वर्णित है। सम्भवतः इसी कारण जैन महापुराण में २४ यक्ष-यक्षी युगलों का अनुल्लेख है। ६३ शलाकापुरुषों में २४ तीर्थंकरों—राम, बलराम, कृष्ण, भरत, बाहुबली आदि के सन्दर्भ एलोरा, देवगढ़, खजुराहो तथा अन्य दिगम्बर स्थलों पर उनकी मूर्त अभिव्यक्ति के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त महापुराण में विभिन्न प्रसंगों में इन्द्र, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, वामनदेव, लक्ष्मी, सरस्वती, सूर्य, गंगा व सिन्धु देवी, कुबेर, दिक्कुमारी, भवनवासी, कल्पवासी, ज्योतिष्क तथा व्यन्तर देवों और लौकान्तिक देवों एवं लोकपूजन से सम्बन्धित श्री, ह्री, धृति, बुद्धि और कीर्ति आदि देवियों के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं जो जैन देवकुल की व्यापक और समन्वयात्मक अवधारणा को व्यक्त करते हैं।

महापुराण में २४ तीर्थंकरों में ऋषभनाथ को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया जिनके बाद पार्श्वनाथ और तत्पश्चात् नेमिनाथ और महावीर का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। अन्य तीर्थंकरों की चर्चा संक्षेप में की गयी है। तीर्थंकरों के सन्दर्भ में मुख्यतः पंचकल्याणकों (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण) एवं ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और महावीर के सन्दर्भ में उनके जीवन की कुछ अन्य विशिष्ट घटनाओं का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। ऋषभनाथ के प्रसंग में भरत और बाहुबली के युद्ध, बाहुबली की कठिन साधना और कैवल्य प्राप्ति तथा कालान्तर में भरत चक्रवर्ती के संसार त्यागने, नेमिनाथ के सन्दर्भ में कृष्ण की आयुधशाला में नेमि के शौर्य प्रदर्शन तथा पिंजड़े में बन्द विभिन्न पशुओं की भोज के निमित्त की जाने वाली हत्या की सूचना के फलस्वरूप नेमिनाथ के अविवाहित रूप में संसार त्यागने एवं पार्श्वनाथ की तपस्या के समय पूर्वजन्म के बैरी कमठ (शंबर) द्वारा उपस्थित उपसर्गों और महावीर की तपश्चर्या के समय संगमदेव, शूलपाणि यक्ष आदि के उपसर्गों से सम्बन्धित उल्लेख कलापरक अध्ययन की दृष्टि से विशेषतः महत्वपूर्ण हैं।

उत्तर भारत में ऋषभनाथ को सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ बनीं। ऋषभनाथ के बाद क्रमशः पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ की मूर्तियाँ बनीं। किन्तु दक्षिण भारत में पार्श्वनाथ को सर्वाधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं। दक्षिण भारत में पार्श्वनाथ की तुलना में ऋषभनाथ की मूर्तियाँ नगण्य हैं। ऋषभनाथ से सम्बन्धित स्वतन्त्र आदिपुराण की रचना की पृष्ठभूमि में एलोरा में ऋषभनाथ की केवल पाँच मूर्तियों का मिलना सर्वथा आश्चर्यजनक है। दूसरी ओर पार्श्वनाथ की एलोरा में ३० से अधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं जो पार्श्व की विशेष प्रतिष्ठा की सूचक हैं।

एलोरा में पार्श्वनाथ के बाद महावीर की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं जिनके कुल १२ उदाहरण मिले हैं। पार्श्वनाथ, महावीर और ऋषभनाथ के अतिरिक्त अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ और नेमिनाथ की भी एक से तीन मूर्तियां देखी जा सकती हैं। कुंभारिया और देलवाड़ा के श्वेताम्बर जैन मन्दिरों (११वीं-१३वीं शती ई०) में भरत और बाहुबली के युद्ध एवं बाहुबली की कठिन तपश्चर्या, नेमिनाथ के कृष्ण की आयुधशाला में शौर्य प्रदर्शन एवं विवाह के पूर्व दीक्षा ग्रहण करने तथा पार्श्वनाथ

एवं महावीर के विभिन्न उपसर्गों से सम्बन्धित अंकन विस्तार से उत्कीर्ण हैं। दूसरी ओर दिगम्बर स्थलों पर तीर्थंकरों के जीवन दृश्यों का विस्तृत अंकन नहीं हुआ है। एलोरा की तीर्थंकर मूर्तियों में केवल पार्श्वनाथ के साथ शंबर द्वारा उपस्थित किये गए विभिन्न उपसर्गों का ही विस्तृत अंकन मिलता है। महावीर के साथ पारम्परिक यक्ष-यक्षी मातंग व सिद्धायिका के स्थान पर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी कुबेर (या सर्वानुभूति) और अम्बिका निरूपित हैं जो स्पष्टतः पश्चिम-भारत के श्वेताम्बर मूर्ति परम्परा का प्रभाव है जहाँ लगभग सभी तीर्थंकरों के साथ यक्ष-यक्षी के रूप में कुबेर और अम्बिका ही आमूर्तित हैं।

उत्तरपुराण में नेमिनाथ के साथ सर्पफणों के छत्र वाले हलधर बलराम और चक्र, शंख तथा गदाधारी वासुदेव कृष्ण का उल्लेख हुआ है। तदनुरूप मथुरा व देवगढ़ की दिगम्बर परम्परा की कुछ नेमिनाथ मूर्तियों में दोनों पार्श्वों में बलराम व कृष्ण की आकृतियाँ उकेरी हैं। एलोरा एवं नवीं-१०वीं शती ई० की दिगम्बर परम्परा की अन्यत्र की तीर्थंकर मूर्तियों में महापुराण के उल्लेख के अनुरूप सिंहासन, प्रभामण्डल, त्रिछत्र, चैत्य-वृक्ष (या अशोक वृक्ष), देवदुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामरधारी सेवक जैसे अष्ट-प्रातिहार्यों को दिखाया गया है। आदिपुराण में तीर्थंकर मूर्तियों में दिखाये जाने वाले अष्ट-प्रातिहार्यों का सर्वाधिक विस्तार में उल्लेख हुआ है।[१] इस सन्दर्भ में एलोरा की पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियों में किसी भी प्रातिहार्य का न दिखाया जाना न केवल शिल्पी की सूझ वरन उत्तरपुराण के विवरणों के सर्वथा अनुरूप है। पार्श्वनाथ की ध्यानस्थ मूर्तियों में प्रातिहार्यों का अंकन किया गया है क्योंकि ध्यानस्थ मूर्तियाँ उनके तीर्थंकर पद प्राप्त करने के उपरान्त की स्थिति को अभिव्यक्त करती हैं। दूसरी ओर एलोरा की कायोत्सर्ग मूर्तियों में पार्श्वनाथ को तपस्या में तरह-तरह के उपसर्गों का प्रसंग दिखाया गया है। शंबर के ये उपसर्ग स्पष्टतः कैवल्य प्राप्ति के पूर्व के पार्श्वनाथ के अंकन हैं। इसी कारण उपसर्ग से सम्बन्धित पार्श्वनाथ की मूर्तियों में अष्ट-प्रातिहार्यों को नहीं दिखाया गया है। इस सन्दर्भ में एक और उल्लेखनीय बात एलोरा की जैन गुफाओं में पार्श्वनाथ की शंबर के उपसर्गों को शिल्पांकित करने वाली कायोत्सर्ग मूर्तियों के एक नियत स्थान पर उत्कीर्णन से सम्बन्धित है। पार्श्वनाथ की सभी उपसर्ग मूर्तियाँ कठिन तपश्चर्या में लीन बाहुबली की मूर्ति के सामने उत्कीर्ण हैं। स्मरणीय है कि पार्श्व जहाँ शंबर के विभिन्न उपसर्गों को शांतभाव

से विचलित हुए बिना सहते रहे वहीं बाहुबली भी साधना में इस सीमा तक तल्लीन हुए कि शरीर से लिपटी माधवी और सर्प, वृश्चिक् जैसे जंतु से सर्वथा अप्रभावित और ध्यानमग्न रहे। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि राष्ट्रकूट शिल्पी ने पार्श्वनाथ की उपसर्ग और बाहुबली की साधनारत मूर्तियों के आमने-सामने उत्कीर्णन की परम्परा को मूलतः पूर्ववर्ती चालुक्य कला से प्राप्त किया था जिसके उदाहरण बादामी की गुफा सं० ४ और अयहोल की जैन गुफा में देखे जा सकते हैं। यह बात राष्ट्रकूट कला पर चालुक्य कला के प्रभाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

जैन स्थलों पर अन्य शलाकापुरुषों में से केवल भरत चक्रवर्ती, राम, बलराम एवं कृष्ण ही रूपायित हुए हैं। आदिपुराण में भरत चक्रवर्ती के चौदह रत्नों—चक्र, दण्ड, खड्ग, छत्र, चर्म, मणि, काकिणी (कौड़ी), अश्व, गज, सेनापति, गृहपति, शिल्पी और स्त्री तथा ९ निधियों—नैयसर्प, पाण्डुक, पिंगल, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणव, तथा शंख का उल्लेख भरत के शिल्पांकन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[२] यद्यपि एलोरा में भरत या किसी अन्य चकवर्ती और बलराम, कृष्ण एवं राम की मूर्ति के कोई उदाहरण नहीं मिलते किन्तु देवगढ़, खजुराहो और देलवाड़ा स्थित विमलवसही व लूणवसही से इनकी मूर्तियाँ मिली हैं। देवगढ़ के मंदिर सं० २ और १२ (चहारदिवारी) को १०वीं–११वीं शती ई० की मूर्तियों में भरत चक्रवर्ती की कायोत्सर्ग में खड़ी आकृति के समीप आदिपुराण में वर्णित १४ रत्नों में से कुछ मुख्य रत्नों एवं ९ घटों के रूप में ९ निधियों को उत्कीर्ण किया गया है। आदिपुराण में भरत के संसार त्यागने, दीक्षा ग्रहण करने और कठिन साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है जिसके आधार पर ही देवगढ़ में भरत की कायोत्सर्ग में निर्वस्त्र खड़ी मूर्ति उत्कीर्ण हुई। उत्तरपुराण में राम, बलराम और कृष्ण के उल्लेख का महत्त्व खजुराहो एवं देवगढ़ जैसे स्थलों पर हनुमान सहित राम-सीता (पार्श्वनाथ मंदिर, खजुराहो), बलराम-रेवती व यमलार्जुन (पार्श्वनाथ मंदिर, खजुराहो) एवं नेमिनाथ की मूर्तियों में बलराम और कृष्ण के अंकन (देवगढ़, मथुरा) में देखा जा सकता है।

यह सर्वथा आश्चर्यजनक है कि महापुराण में यक्ष-यक्षी का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। केवल महापुराण ही नहीं वरन् दिगम्बर परम्परा के अन्य पुराणों में भी यक्ष-यक्षी का अनुल्लेख ध्यातव्य है। दूसरी ओर

श्वेताम्बर परम्परा के ६३ शलाकापुरुषों से सम्बन्धित चरितग्रन्थों में यक्ष-यक्षी युगलों के प्रतिमानिरूपण से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं जिनमें हेमचन्द्रकृत-त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र सर्वप्रमुख है। ल० आठवीं शती ई० के पूर्ववर्ती दिगम्बर ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभकृत) में २४ तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी युगलों की सूची का मिलना इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। तिलोयपण्णत्ति की सूची तथा मथुरा, राजगिर, एलोरा, खजुराहो एवं देवगढ़ जैसे नवीं–१०वीं शती ई० के दिगम्बर पुरास्थलों पर यक्षियों की स्वतंत्र एवं जिन-संयुक्त मूर्तियों के उत्कीर्णन की परंपरा के बाद भी महापुराण में यक्ष-यक्षी का कोई उल्लेख न किया जाना सम्भवतः महापुराण के कर्त्ता जिनसेन एवं गुणभद्र जैसे आचार्यों के व्यक्तिगत दृष्टि को अभिव्यक्त करता है। यह सर्वथा निर्विवाद है कि वीतरागी जिनों की उपासना से किसी भौतिक समृद्धि की प्राप्ति संभव नहीं थी जबकि सामान्य उपासक वर्ग ऐसी भौतिक उपलब्धियों का आकांक्षी होता है। सामान्य उपासक वर्गों की अपेक्षा को पूर्ण करने के उद्देश्य से ही प्रत्येक जिन के साथ एक यक्ष और एक यक्षी को शासन-देवता के रूप में सम्बद्ध किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन महापुराण के कर्त्ता इस प्रकार के मध्यममार्गी तुष्टीकरण की नीति के समर्थक नहीं थे। अतः जैन महापुराण में यक्ष-यक्षी का नाम अनुल्लेख रचनाकारों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का सूचक माना जा सकता है।

एलोरा की जैन गुफाओं में जैन देवकुल की तीन प्रमुख यक्षियों चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती तथा कुबेर यक्ष की स्वतंत्र एवं जिन-संयुक्त मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। चक्रेश्वरी की चार, आठ और बारह हाथों वाली कुल चार मूर्तियाँ गुफा सं० ३० और ३२ में उकेरी हैं। इनमें परम्परानुरूप गरुडवाहना चक्रेश्वरी के दो या अधिक हाथों में चक्र तथा शेष में शंख, पद्म, गदा और वज्र जैसे आयुध हैं। सर्वाधिक मूर्तियाँ अंबिका की बनीं जिनमें अंबिका सर्वदा द्विभुजा एवं दिगम्बर परम्परा के अनुरूप सिंहवाहना तथा एक हाथ में आम्रलुम्बि व दूसरे में पुत्र के साथ निरूपित हैं। पार्श्वनाथ की पद्मावती यक्षी की केवल एक स्वतंत्र मूर्ति मिली है जो गुफा सं० ३२ में है। कुक्कुट-सर्प वाहन वाली अष्टभुजा यक्षी के अवशिष्ट करों में पद्म, मूसल, खड्ग, खेटक व धनुष स्पष्ट हैं। अंबिका के समान ही एलोरा में कुबेर या सर्वानुभूति की भी सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं जिनमें श्वेताम्बर स्थलों की भाँति गजारूढ़ यक्ष को द्विभुज एवं पात्र (या फल) एवं धन के थैले से युक्त दिखाया गया है।

पउमचरिय एवं हरिवंशपुराण जैसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों के समान ही उत्तरपुराण में भी विद्यादेवियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। उत्तरपुराण में कई अलग-अलग प्रसंगों में लगभग ५० विद्यादेवियों का नामोल्लेख हुआ है जिनमें अधिकांश राम, लक्ष्मण, रावण, सुग्रीव व हनुमान द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त हैं। ल० १०वीं शती ई० (संहितासार एवं शोभनस्तुति) में अनेक विद्याओं में से १६ प्रमुख महाविद्याओं को लेकर एक सूची नियत हुई जिसमें उत्तरपुराण में उल्लिखित रोहिणी, प्रज्ञप्ति गरुडवाहिनी (अप्रतिचक्रा), सिंहवाहिनी (महामानसी), महाज्वाला, गौरी, मनोवेगा जैसी महाविद्याओं को सम्मिलित किया गया। दिगम्बर स्थलों पर खजुराहो के आदिनाथ जैन मंदिर के एकमात्र अपवाद के अतिरिक्त महाविद्याओं की मूर्तियाँ नहीं बनीं जबकि गुजरात व राजस्थान के श्वेताम्बर स्थलों पर इन महाविद्याओं का अंकन सर्वाधिक लोकप्रिय था जिसके सामूहिक अंकन के कम से कम चार उदाहरण क्रमशः कुंभारिया के शांतिनाथ मंदिर एवं देलवाड़ा स्थित विमलवसही (दो उदाहरण रंगमण्डप एवं देवकुलिका वितान) और लूणवसही (रंगमण्डप) से मिले हैं। एलोरा में महाविद्या की कोई मूर्ति नही मिलो है।

पूर्वपरम्परा में वर्णित देवताओं के चार वर्गों—भवनवासी, व्यन्तर या वाणमन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक का महापुराण में भी उल्लेख हुआ है। देवताओं के चतुर्वर्ग की सूची से स्पष्ट है कि लोकपूजन से सम्बन्धित यक्ष, नाग तथा गन्धर्व-किन्नर जैसे अर्धदेवों को भी जैन देवकुल में सम्मानजनक स्थान दिया गया। साथ ही खजुराहो, देवगढ़, कुंभारिया, देलवाड़ा और एलोरा जैसे स्थलों पर यक्षों, नागों, गंधर्वों, किन्नरों आदि का बहुतायत से अंकन हुआ है। महापुराण में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि तथा लक्ष्मी जैसी ब्राह्मण एवं लोकपरम्परा की देवियों को प्रमुख व्यन्तर देवियों के अन्तर्गत रखा गया है और इन्हें जिन माताओं की विभिन्न प्रकार से सेवा करने वाली बताया गया है।

पूर्व ग्रन्थों की भाँति महापुराण में भी इन्द्र का जिनों के प्रधान सेवक के रूप में उल्लेख हुआ है जो जिनों के पंचकल्याणकों एवं समवसरण की रचना के समय स्वयं उपस्थित होते हैं। ज्ञातव्य है कि जिनों के समवसरण में इन्द्र ही शासनदेवता के रूप में उनके यक्ष और यक्षी की नियुक्ति करते हैं। इन्द्र को देवाधिपति, सहस्राक्ष, गजारूढ़ एवं वज्रधारी निरूपित किया गया है।[3] आदिपुराण में नामोल्लेख किये बिना ३२ इन्द्रों का उल्लेख हुआ है।[4] आदि पुराण में ऋषभदेव के जन्म के अवसर पर इन्द्र

द्वारा विभिन्न प्रकार के नृत्य एवं नाटक करने का उल्लेख एलोरा की गुफा सं० ३० की इन्द्र की दशभुजी नृत्यरत मूर्ति के सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है। तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक एवं अन्य अवसरों पर इन्द्र की उपस्थिति कुंभारिया एवं देलवाड़ा के मूर्त उदाहरणों में अनेकशः देखी जा सकती है। साथ ही सभी जैन मंदिरों पर ब्राह्मण मंदिरों की भाँति गजवाहन वाले इन्द्र को दिक्पाल रूप में वज्र एवं अंकुश सहित निरूपित किया गया है।

महापुराण में नारद, कामदेव, वामन, लक्ष्मी, सरस्वती, दिक्कुमारियों एवं नागदेवों के भी उल्लेख हैं। एलोरा की जैन गुफाओं में लक्ष्मी और पार्श्वनाथ की मूर्तियों में नागराज धरणेन्द्र के शिल्पांकन के अतिरिक्त इक्षुधनु और पुष्पशर से युक्त कामदेव की भी एक मूर्ति मिली है।

आदिपुराण में ऋषभनाथ के पुत्रों—भरत एवं बाहुबली के युद्ध और बाहुबली की कठिन तपश्चर्या का भी उल्लेख हुआ है जो एलोरा के जैन गुफाओं की बाहुबली मूर्तियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एलोरा में पार्श्वनाथ के बाद सर्वाधिक स्वतंत्र मूर्तियाँ (ल० २०) बाहुबली की ही बनीं जिनमें आदिपुराण के विवरण के अनुरूप बाहुबली को कायोत्सर्ग में तपश्चर्या में तल्लीन और शरीर से लिपटी लता-वल्लरियों एवं समीप ही निश्चिन्त भाव से विचरण करते सर्प एवं मृग आदि वन्य जीव जन्तुओं की आकृतियों सहित दिखाया गया है जो बाहुबली की गहन साधना का सूचक है। आदिपुराण में समवसरण की परिकल्पना के समान ही गज एवं सिंह तथा मयूर-सर्प जैसे परस्पर शत्रुभाव वाले वन्य जीव-जन्तु को बाहुबली के समीप निश्चिन्त भाव से स्थित बताया गया है। सिंहनी द्वारा महिष के शिशु को अपने शिशु के समान स्तनपान कराने का उल्लेख भी ध्यातव्य है।[५] आदिपुराण में बाहुबली के पार्श्वों में उनकी बहनों ब्राह्मी एवं सुन्दरी के स्थान पर दो विद्याधरियों का उल्लेख हुआ है जिन्होंने साधनारत बाहुबली के शरीर से लिपटी माधवी को हटाया था।[६] आदिपुराण के उपर्युक्त वर्णन की पृष्ठभूमि में ही एलोरा की बाहुबली मूर्तियों में दोनों पार्श्वों में दो विद्याधरियों को बाहुबली के शरीर से लिपटी लता-वल्लरियों को हटाते हुए दरशाया गया है। आदिपुराण की इस परम्परा का पालन देवगढ़, खजुराहो, बिलहरी तथा कई अन्य दिगम्बर स्थलों की १०वीं से १२वीं शती ई० की बाहुबली मूर्तियों में भी हुआ है।

सातवें अध्याय में महापुराण में वर्णित स्थापत्यगत सामग्री का संक्षेप में उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत जिन मंदिरों, समवसरण, राजप्रासाद एवं सामान्य भवनों की चर्चा की गयी है। आदिपुराण में जैन मंदिर के लिए सिद्धायतन या चैत्यालय शब्द प्रयुक्त हुआ है और एक स्थल पर चैत्यवृक्ष के समीप जैन मंदिर के स्थित होने का भी सन्दर्भ आया है। ऊँचे मणिमय शिखरों से युक्त जिनेन्द्रदेव (आदिनाथ) के चैत्यालय में अनेक स्तम्भों एवं शिखरों तथा समीपवर्ती सरोवरों का सन्दर्भ नवीं-१०वीं शती ई० के जैन मंदिरों की अवधारणा के अनुरूप है।[७] अनेक शिखरों का संकेत संभवतः अंगशिखरों से संबंधित है। आदिपुराण में जैन मंदिरों को नृत्य व संगीत की प्रस्तुति का स्थल भी बताया गया है जो तत्कालीन मंदिरों में रंगमण्डप या सभामण्डप की अवधारणा को व्यक्त करता है।[८]

महापुराण में जिन समवसरण का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। समवसरण वह देवनिर्मित सभा है जहाँ केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक जिन अपना प्रथम धर्मोपदेश देते हैं और समस्त देव, मानव एवं पशु यानी चराचर जगत आपसी कटुता भूलकर जिनोपदेश का श्रवण करते हैं।[९] तीन प्राचीरों तथा प्रत्येक प्राचीर में चार प्रवेशद्वारों वाले भव्य समवसरण में सबमें ऊपर जिन (पूर्वाभिमुख) विराजमान होते हैं। अनेक गोपुर द्वारों, तोरणों तथा उनपर १०८ मंगलद्रव्यों (कलश, दर्पण आदि) एवं नवनिधियों से युक्त समवसरण अत्यन्त अलंकृत भवन होते थे। वीथिका, महावीथिका, कोट, धूलिशाल, नाट्यशाला, ध्वजभूमि, चैत्यवृक्ष, स्तूप, श्रीमण्डप, गन्धकुटी, अलंकृत गोपुर द्वारों एवं तोरणों से युक्त समवसरण सभा न केवल धार्मिक महत्त्व का वरन् जैन स्थापत्य का भी एक उत्कृष्ट एवं अभिनव उदाहरण है जिसमें बौद्ध स्थापत्य से सम्बन्धित शब्दों की प्रधानता ज्ञातव्य है। समवसरणों के मूर्त उदाहरण मुख्यतः श्वेताम्बर स्थलों से ही मिले हैं। ११वीं से १३वीं शती ई० के मध्य के ये उदाहरण कुंभारिया (महावीर एवं शांतिनाथ मंदिर), विमलवसही, लूणवसही एवं कैम्बे से मिले हैं। राजप्रासाद एवं सामान्य भवनों के सन्दर्भ में उनके विभिन्न प्रचलित स्वरूपों एवं विभाजन, विशेषतः भवनों के प्रमुख अंगों के रूप में द्वार, स्तम्भ, गवाक्ष, मण्डप, स्नानागार, नृत्यशाला, भण्डारगृह (आदिपुराण ३७.१४९-१५२) के उल्लेख महत्त्वपूर्ण और उनके उपयोगितावादी दृष्टि को उजागर करते हैं। आदिपुराण तथा अन्य प्रमुख श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में

ऋषभनाथ द्वारा दी गयी विभिन्न शिक्षाओं के सन्दर्भ में शिल्पकला की शिक्षा का उल्लेख जैनधर्म में शिल्प की प्रतिष्ठा का सूचक है।

महापुराण में सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों यथा शृंगार, नृत्य, गायन-वादन, वस्त्र एवं दैनिक उपयोग की सामग्रियों का विस्तृत उल्लेख भौतिकजीवन के प्रति सार्थक अनुराग और ज्ञान दोनों को प्रकट करता है। उत्तरपुराण में कुलवती नारियों द्वारा अलंकरण धारण करने का उल्लेख है जबकि विधवा स्त्रियाँ इनका परित्याग कर देती थीं। आभूषणों से सज्जित होने के लिए 'अलंकरणगृह' एवं 'श्रीगृह' का उल्लेख आया है। पूर्ववर्ती ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति की भाँति महापुराण में भी भोगभूमि काल में भूषणांग तथा मालांग जाति के ऐसे वृक्षों का उल्लेख हुआ है जो क्रमशः नूपुर, बाजूबन्ध, रुचिक, अंगद मेखला, हार व मुकुट तथा विविध ऋतुओं के पुष्पों से बनी मालाएँ एवं कर्णफूल आदि प्रदान करते थे।[१०] आदिपुराण की यह अवधारणा स्पष्टतः भारतीय परम्परा की पूर्ववर्ती कल्पवृक्ष की परिकल्पना तथा शुंग-कुषाणकालीन (साँची, मथुरा) ऐसे कल्पवृक्षों के शिल्पांकन से प्रभावित है जिनमें विविध प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों को कल्पवृक्ष से लटकते हुए दिखाया गया है।

महापुराण में शिरोभूषण, कर्णभूषण, कण्ठाभूषण, हार, कराभूषण, कटिआभूषण, पादाभूषण, प्रसाधन एवं केशसज्जा आदि के विविध प्रकारों का उल्लेख मिलता है जिसमें पूर्ववर्ती परम्परा में वर्णित आभूषणों एवं प्रसाधन सामग्रियों की अनेकशः चर्चा ९वीं-१०वीं शती ई० में पूर्ववर्ती आभूषणों एवं प्रसाधन सामग्रियों की लोकप्रियता का संकेत देता है। इस दृष्टि से आदिपुराण में वर्णित हार के ११ भेदों का कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पूर्व उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। आदिपुराण में विशेष अवसरों पर विशेष प्रकार की वेशभूषा का सन्दर्भ न केवल वस्त्र के महत्त्व वरन् इस सम्बन्ध में उनके सुरुचिपूर्ण समझ का भी सूचक है। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर यद्यपि निर्वस्त्र होते हैं किन्तु विभिन्न देव मानव आकृतियों को वस्त्रों से सज्जित बताया गया हैं। एलोरा की पार्श्वनाथ बाहुबली मूर्तियों में क्रमशः पद्मावती एवं विद्याधरियों के निरूपण में वस्त्राभूषणों एवं केशसज्जा का वैविध्य ध्यातव्य है। साथ ही अंबिका यक्षी, आलिंगनबद्ध स्त्री-पुरुष युगलों एवं चामरधारी सेवकों के अंकन में भी वस्त्राभूषण विविधतापूर्ण और चित्ताकर्षक हैं।

महापुराण में नृत्य से सम्बन्धित उल्लेख विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। आदिपुराण में नृत्य के समय विभिन्न वेश धारण करने और कटाक्ष, कपोलों, पैरों, हाथों, मुख, नेत्रों, अंगराज, नाभि, कटिप्रदेश तथा मेखलाओं द्वारा भाव का प्रदर्शन करने का उल्लेख हुआ है। नृत्य में रस, भाव, अनुभाव एवं चेष्टाओं का होना परम आवश्यक है। आदिपुराण में नृत्य की विभिन्न मुद्राओं के सन्दर्भ में मन्द-मन्द मुस्कान से देखते हुए भौहों के संचालन, स्तन कम्पन, मन्थर गति, स्थूल नितम्ब के विभिन्न मुद्राओं में प्रदर्शन, भुजाओं के संचालन, कटि हिलाने, शरीर के नाभि आदि अवयवों के प्रदर्शन, पृथ्वी तल छोड़ कर नृत्य करने, नृत्य की विभिन्न मुद्राओं के शीघ्रता से परिवर्तन, नृत्य द्वारा केश-पाश प्रदर्शन, स्पन्दन, गायन के साथ, कटाक्ष एवं हाव-भाव के साथ, पुष्प एवं स्वर्ण के घटों को सिर व पैर पर रखकर, नेत्रों द्वारा, विभिन्न रूप धारण करके एवं एक भुजा पर नर्तकी तथा दूसरे पर नर्तक को नृत्य कराते हुए स्वयं नृत्य करने के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। नृत्य के साथ वीणा, पुष्कर, बाँसुरी, झाँझ, नगाड़े, दुन्दुभि, झल्लरी, काहल, ताल, मृदंग, पणव, दर्दुर तथा विपंची आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। एलोरा की जैन गुफा सं० ३० में शिव की नटेश मूर्तियों के समान कुछ नृत्यरत मूर्तियाँ भी बनीं है। एक उदाहरण में दो पुरुष आकृतियों को शिव आकृति के समान एक पैर उठाकर अत्यन्त गतिशील रूप में नृत्यरत दिखाया गया है। ये नृत्य मुख्यतः विभिन्न अप्सराओं (नीलांजना) एवं इन्द्र द्वारा किये गये थे। जैन पुराणों में शिव के स्थान पर इन्द्र द्वारा विभिन्न नृत्यों का किया जाना ध्यातव्य है। कई नृत्य लोक शैली के नृत्य प्रतीत होते हैं।

पाद-टिप्पणी

१. आदिपुराण २३.२५-७३; उत्तरपुराण ५४.२३१; ५९.४४-४७।
२. आदिपुराण ३७.७३-७४, ८३-८४।
३. आदिपुराण १२.६९-७६, ८५; १३.४७; १४.२०; २२.१८-२२।
४. आदिपुराण २३.१६३।
५. आदिपुराण ३६.१६४-७६।
६. आदिपुराण ३६.१८३।

७. आदिपुराण ६.१८०-८८; ५.१८५; ७.२७१-७५; उत्तरपुराण ७५.४०३, ४०७-४०८ ।
८. आदिपुराण ४.७७; १६.१९७; २२.९३-१४६ ।
९. आदिपुराण ३३.७३ ।
१०. आदिपुराण ९.४१-४२ ।

●

परिशिष्ट

जैन महापुराण पोथीचित्र

प्रस्तुत पुस्तक में जैन महापुराण के पोथीचित्रों का संक्षिप्त अध्ययन भी अपेक्षित है। इन पोथीचित्रों का विभिन्न पौराणिक विषयों के चित्रण के साथ ही तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन एवं चित्र शैली के अध्ययन की दृष्टि से भी महत्त्व रहा है। चित्रकला के विकास में जैन शैली का कुछ निजत्व रहा है जिसे पश्चिम भारतीय या अपभ्रंश शैली कहा गया है। हमें मुख्य रूप से कल्पसूत्र, कालकाचार्यकथा, महापुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, उत्तराध्ययनसूत्र, नेमिनाथचरित्र, कथारत्न-सागर जैसे महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों की सचित्र प्रतियाँ विभिन्न क्षेत्रों से मिली हैं जिनका अध्ययन रामकृष्ण दास[1], मोतीचन्द्र[2], डब्ल्यू० एन० ब्राउन[3], सरयू दोशी[4], डगलस बैरेट[5] प्रभृति विद्वानों ने किया है। महापुराण के अतिरिक्त अन्य सभी जैन पोथीचित्र श्वेताम्बर परम्परा से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के महापुराण के पोथी-चित्रों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जैन महापुराण के पोथीचित्र का विस्तृत अध्ययन मुख्यतः सरयू दोषी द्वारा किया गया है जिनमें केवल आदिपुराण से सम्बन्धित विषय ही चित्रित हैं।[6] आदिपुराण और महापुराण के पोथीचित्र १४४० ई०, १४५०–७५ ई० तथा १५४० ई० के हैं। इन पोथीचित्रों में सर्वाधिक महत्त्वपुर्ण दिल्ली के समीपवर्ती पालेम का १५४० ई० का महापुराण शीर्षक पोथीचित्र है जो हुमायूँ पर शेरशाह के विजयवर्ष (१५४० ई०) में बना और वर्तमान में जयपुर के बड़े दीवानजी दिगम्बर मन्दिर में सुरक्षित है। १६वीं शती ई० की चित्रशैली के अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही आदिपुराण के विभिन्न कथा प्रसंगों के विस्तृत चित्रांकन और तत्कालीन सामान्य जन-जीवन एवं काव्यात्मक अलंकारों आदि के अंकन की दृष्टि से भी यह विशेष महत्त्वपूर्ण है। चौर-पंचाशिका शैली में बने महापुराण के चित्रों को सामान्यतया विद्वानों ने दिल्ली-ग्वालियर क्षेत्र में बना स्वीकार किया है जिसमें चित्रकला की पश्चिम-भारतीय अथवा अपभ्रंश शैली देखी जा सकती है।

महापुराण के चित्रों में सर्वप्रथम महावीर के शिष्य गौतम गणधर के समीप श्रेणिक के आने और उनसे महापुराण की कथा सुनाने का आग्रह करने का चित्रांकन हुआ है। इन चित्रों में ऋषभनाथ के माता-पिता नाभिराज एवं मरुदेवी को वार्तालाप की मुद्रा में, शय्या पर लेटी हुयी मरुदेवी तथा ऋषभ जन्म के पूर्व मरुदेवी द्वारा देखे गये १६ मांगलिक स्वप्नों का अंकन भी हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि मांगलिक स्वप्नों के क्रम को चित्रों में परिवर्तित कर दिया गया है और चतुर्भुजा लक्ष्मी के गजों द्वारा अभिषिक्त होने का अंकन नहीं किया गया है। पद्मासीन देवी के दो हाथों में पद्म व दो में कलश हैं। नागेन्द्र भवन को नागद्वय की उपस्थिति द्वारा दर्शाया गया है।

अगले चित्रों में मरुदेवी को नाभिराज से स्वप्नों का फल पूछते, ऋषभजन्म, इन्द्र के इन्द्राणी सहित पृथ्वी पर ऋषभ के जन्मकल्याणक हेतु आगमन, सुमेरुपर्वत पर ऋषभ के जन्मकल्याणक, दीक्षा के पूर्व ऋषभ द्वारा केश लुंचन एवं इन्द्र द्वारा उसका संचय (केश लुंचन के समय ऋषभ निर्वस्त्र), ऋषभ की कायोत्सर्ग में तपश्चर्या, कैवल्य प्राप्ति के बाद ऋषभ के धर्मोपदेश आदि का चित्रांकन महत्त्वपूर्ण है।

ऋषभ के जीवन से सम्बन्धित चित्रों के पश्चात् भरत के प्रसंग को ही सर्वाधिक विस्तार के साथ चित्रित किया गया है। इसमें कई अलग-अलग चित्रों में भरत के दिग्विजय को विस्तारपूर्वक दिखाया गया है जिनमें विभिन्न शासकों के साथ ही उनके अनुजों को भी भरत की अधीनता स्वीकार करते दरशाया गया है। तत्पश्चात् दीक्षा के अनन्तर भरत को मुनिवेष में दिखाया गया है। एक चित्र में भरत के समक्ष चक्ररत्न के प्रकट होने तथा भरत और बाहुबली के बीच जल एवं मल्ल-युद्ध का सुन्दर अंकन हुआ है। परली (सवाचश्म) आँखों वाली इन आकृतियों में बाहुबली कृष्ण वर्ण हैं जिन्हें एक चित्र में भरत को दोनों हाथों से सिर के ऊपर उठाये और भूमि पर पटकने की मुद्रा में दिखाया गया है। इस दृश्य में अपनी आसन्न पराजय से भयभीत भरत द्वारा चलाये गये चक्र को बाहुबली की ओर आते हुए भी उत्कीर्ण किया गया है। इन चित्रों में कुछ अन्य उपकथा प्रसंगों को भी चित्रित किया गया है। ये चित्र १६वीं शती ई० में आदिपुराण की विशेष लोकप्रियता तथा उसके कुछ विशिष्ट कथा प्रसंगों (भरत-बाहुबली) के महत्त्व को प्रकट करते है। स्मरणीय है कि आदिपुराण में भी पंचकल्याणकों के बाद भरत और बाहुबली के कथा प्रसंग का ही सर्वाधिक विस्तारपूर्वक वर्णन

हुआ है। साथ ही ११वीं-१२वीं शती ई० के देलवाड़ा स्थित विमल-वसही एवं कुंभारिया स्थित शांतिनाथ एवं महावीर मंदिरों के वितानों पर इन दृश्यों के विस्तृत शिल्पांकन की पूर्व परम्परा भी देखी जा सकती है।

पाद-टिप्पणी

१. राय कृष्णदास, भारत की चित्रकला, इलाहाबाद १९७४।
२. मोतीचन्द्र, जैन मिनीयेचर पेन्टिग्स फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया, अहमदाबाद १९४९।
३. डब्ल्यू० एन० ब्राउन, ए डिस्क्रिप्टिव ऐण्ड इलस्ट्रेटेड कैटलॉग ऑफ मिनीयेचर पेन्टिग्स ऑफ दि जैन कल्पसूत्र, वाशिंगटन १९३४।
४. सरयू दोशी, दि आइकोनोग्रिक ऐण्ड दि नैरेटिव इन जैन पेन्टिंग (मोनोग्राफ), मार्ग, खण्ड ३६, अंक ३।
५. डगलस बैरट एवं बसील ग्रे, इण्डियन पेन्टिंग, न्यूयार्क १९१८।
६. सरयू दोषी, पू० नि०, पृ० ५५–७२।

●

सन्दर्भ-सूची

(क) मूल ग्रन्थ

अंगविज्जा—सं० मुनिपुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद् १, बनारस १९५७।

अपराजितपृच्छा—(भुवनदेवकृत), सं० पोपटभाई अंबाशंकर सांकड, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, खण्ड ११५, बड़ौदा १९५०।

अभिधानचिन्तामणि—(हेमचंद्रकृत), सं० हरगोविन्द दास बेचरदास तथा मुनि जिनविजय, भावनगर, भाग १, १९१४; भाग २, १९१९।

आचारदिनकर—(वर्धमानसूरिकृत), भाग २, बंबई १९२३।

आदिपुराण—(जिनसेनकृत), सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थ संख्या ८, वाराणसी १९६३।

उत्तरपुराण—(गुणभद्रकृत), सं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९५४।

कल्पसूत्र—(भद्रबाहुकृत), अनु० एच० जैकोबी, सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, खण्ड २२, भाग १ (आक्सफोर्ड १८८४), दिल्ली १९७३ (पु० मु०); सं० देवेन्द्र मुनि शास्त्री, शिवान १९६८।

कुमारपालचरित—(जयसिंहसूरिकृत), निर्णय सागर प्रेस, बंबई १९२६

चतुर्विंशतिका—(बप्पभट्टिसूरिकृत), अनु० एच० आर० कापडिया, बंबई १९२६।

जैनस्तोत्रसन्दोह—सं० अमरविजय मुनि, खण्ड १, अहमदाबाद १९३२।

तिलोयपण्णत्ति—(यतिवृषभकृत), सं० आदिनाथ उपाध्ये तथा हीरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला १, शोलापुर १९४३।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—(हेमचन्द्रकृत), अनु० हेलेन एम० जानसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, खण्ड १ (१९३१), खण्ड २ (१९३६), खण्ड ३ (१९४९), खण्ड ४ (१९५४), खण्ड ५ (१९६२), खण्ड ६ (१९६२)।

देवतामूर्तिप्रकरण तथा रूपमण्डन—(सूत्रधार मण्डनकृत), संस्कृत ग्रन्थमाला, १२, कलकत्ता १९८६।

नायाधम्मकहाओ—सं० एन० बी० वैद्य, पूना १९४०।

निर्वाणकलिका—(पादलिप्तसूरिकृत), सं० मोहनलाल भगवानदास, मुनि श्रीमोहनलालजी जैन ग्रन्थमाला ५, बंबई १९२६।

पउमचरिय—(विमलसूरिकृत), भाग १, सं० एच० जैकोबी, अनु० शांतिलाल एम० वोरा, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी सिरीज ६, वाराणसी १९६२

पद्मपुराण—(रविषेणकृत), भाग १, सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रंथांक २०, वाराणसी १९५८ ।

पद्मानन्दमहाकाव्य या चतुर्विंशति जिनचरित्र—(अमरचन्द्रसूरिकृत), पाण्डुलिपि, लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृत विद्या मंदिर, अहमदाबाद ।

पार्श्वनाथचरित्र—(भवदेवसूरिकृत), सं० हरगोविन्ददास तथा बेचर दास, वाराणसी १९११ ।

प्रतिष्ठातिलकम्—(नेमिचंद्रकृत), शोलापुर ।

प्रतिष्ठासारसंग्रह—(वसुनन्दिकृत), पाण्डुलिपि, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर, अहमदाबाद (मारुतिनन्दन तिवारी के जैन प्रतिमाविज्ञान से उद्धृत) ।

प्रतिष्ठासारोद्धार—(आशाधरकृत), सं० मनोहरलाल शास्त्री, बंबई १९१७ (वि० सं० १९७४)

प्रबन्धचिन्तामणि—(मेरुतुंगकृत), भाग १, सं० जिनविजय मुनि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला १, शान्तिनिकेतन (बंगाल), १९३३ ।

प्रभावकचरित—(प्रभाचंद्रकृत), सं० जिनविजय मुनि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला १३, कलकत्ता १९४० ।

प्रवचनसारोद्धार—(नेमिचंद्रसूरिकृत), सिद्धसेनसूरि की टीका सहित, अनु० हीरालाल हंसराज, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संख्या ५८, बंबई १९२८ ।

बृहत्संहिता—(वराहमिहिरकृत), सरस्वती प्रेस, कलकत्ता १८८०, एपेण्डिक्स, डी० एच० आई०, कलकत्ता १९५६ (द्वितीय संस्करण), सं० ए० झा, वाराणसी १९५९ ।

भगवतीसूत्र—(गणधर सुधर्मस्वामीकृत), सं० घेवरचंद भाटिया, शैलाना १९६६ ।

मंत्राधिराजकल्प—(सागरचन्दसूरि कृत), पाण्डुलिपि, लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर, अहमदाबाद (मारुतिनन्दन तिवारी के जैन प्रतिमाविज्ञान से उद्धृत) ।

मल्लिनाथ चरित्र—(विनयचंद्रसूरिकृत), सं० हरगोविन्ददास तथा बेचरदास; यशोविजय जैन ग्रन्थमाला २९, वाराणसी ।

महापुराण—(पुष्पदंतकृत), सं० पी० एल० वैद्य, मानिकचंद दिगंबर जैन ग्रन्थमाला ४२, बंबई १९४१ ।

महाभारत—क्रिटिकल एडीशन, पूना, प्रतापचन्द्र राव (सं०), कलकत्ता गीता प्रेस, गोरखपुर।

मानसार—पी० के० आचार्य, आर्किटेक्चर ऑव मानसार, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रामायण—(वाल्मीकिकृत), नारायण स्वामी (सं०), लन्दन १९५२-५५; वासुदेवाचार्य (सं० १९०२), गीताप्रेस, गोरखपुर १९६०।

रूपमण्डन—(सूत्रधार मण्डनकृत), सं० बलराम श्रावास्तव, वाराणसी वि० सं० २०२१।

वसुदेवहिण्डी—(संघदासकृत), खण्ड १, सं० मुनि श्रीपुण्यविजय, आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला ८०, भावनगर १९३०।

वास्तुविद्या—(विश्वकर्माकृत), दीपार्णव (सं० प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा, पालिताणा, १९६०) का २२वां अध्याय।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—अंग्रेजी अनु० प्रियबाला शाह, बड़ौदा १९६१; स्टेला क्रैमरिश, कलकत्ता १९२८।

समराइच्चकहा—(हरिभद्रसूरिकृत), सं० एच० जैकोबी, कलकत्ता १९२६।

समवायांगसूत्र—अनु० घासीलाल जी, राजकोट १९६२; सं० कन्हैयालाल, दिल्ली १९६६।

स्तुतिचतुर्विंशतिका या शोभन स्तुति—(शोभनसूरिकृत), सं० एच० आर० कापडिया, बम्बई १९२७।

स्थानांगसूत्र—सं० घासीलाल जी, राजकोट १९६४।

हरिवंशपुराण—(जिनसेनकृत), सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रंथांक २७, वाराणसी १९६२।

(ख) सहायक ग्रन्थ एवं लेख-सूची।

अग्रवाल, वी० एस०—(१) भारतीय कला, वाराणसी १९६६।
(२) स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, वाराणसी १९६५।

अवस्थी, रामाश्रय—खजुराहो की देव प्रतिमायें, आगरा १९६०।

आचार्य प्रसन्नकुमार—ए डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, इलाहाबाद १९२७

उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, वाराणसी १९७०।

उपेन्द्र मोहन—देवता मूर्ति प्रकरण ऐण्ड रूपमण्डन, कलकत्ता १९३६, पृ० ७०-१८७, ४४७।

ऋषभचन्द्र, के०—(१) 'जैन पुराण साहित्य', महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वाल्यूम, बम्बई १९६८, पृ० ७१-८०।
(२) 'जैन धर्म का प्रसार', महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वाल्यूम, बम्बई १९६८, पृ० ८-२४।

कजेन्स, एच०—दि आर्किटेक्चरल एण्टिक्विटीज ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, लन्दन १९२६।

कुमारस्वामी, ए० के०—(१) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, लन्दन १९२७।

(२) इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन आर्ट, दिल्ली १९६९।

कुरेशी, मुहम्मद हमीद—'लिस्ट ऑव ऐंश्येण्ट मान्यूमेण्ट्स इन दि प्राविन्स ऑव बिहार ऐण्ड उड़ीसा', आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, न्यू इम्पीरियल सिरीज, खण्ड ५१, कलकत्ता १९३१।

क्रैमरिश, स्टेला—(१) इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता १९३३।

(२) हिन्दू टेम्पुल्स, अंक १-२, कलकत्ता १९४६।

कृष्णदेव—(१) 'दि टेम्पुल ऑव खजुराहो इन सेन्ट्रल इण्डिया', ऐंश्येण्ट इण्डिया, अंक १५, १९५९, पृ० ४३-६५।

(२) 'टेम्पुल्स ऑव नार्थ इण्डिया, दिल्ली १९६३।

(३) 'भालादेवी टेम्पुल ऐट ग्यारसपुर', महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम, बम्बई १९६८, पृ० २६०-२६९।

गर्ग, विजय—ए कम्परेटिव स्टडी ऑव उत्तरपुराण ऑव गुणभद्र ऐण्ड रामचरित-मानस ऑव तुलसी (हिन्दी—पीएच० डी० थीसिस), मेरठ विश्व-विद्यालय १९७३।

गिरि, कमल—भारतीय शृंगार, वाराणसी १९८७।

गुप्ता, एम० जी० तथा शर्मा, बी० एन०—'गन्धावल और जैन मूर्तियाँ', अनेकान्त, खण्ड १९, अंक १-२, अप्रैल-जून १९६६, पृ० १२९-३०।

गुप्ता, पी० एल०—दि पटना म्यूजियम कैटलाग ऑव दि एण्टिक्विटीज, पटना १९६५।

गुप्ते, आर० एस०—आइकनोग्राफी ऑव दि हिन्दूज, बुद्धिस्ट्स ऐण्ड जैन्स, बम्बई १९७२।

गुप्ते, आर० एस० तथा महाजन, बी० डी०—अजन्ता, एलोरा ऐण्ड औरंगाबाद केव्स, बम्बई १९६२।

घोष, अमलानन्द (सम्पादक)—जैन कला एवं स्थापत्य (३ खण्ड), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली १९७५।

चन्दा, आर० पी०—मेडिवल इण्डियन स्कल्पचर इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन १९३६।

चौधरी, गुलाब चन्द्र—(१) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, वाराणसी १९७३।

(२) पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया फ्रॉम जैन सोर्सेज, अमृतसर १९६३।

जेनास, ई० तथा अबूय्य, जे०—खजुराहो, हेग १९६० ।

जैन, कामता प्रसाद—'शासनदेवी अम्बिका और उनकी मान्यता का रहस्य', जैन एण्टिक्वेरी, खण्ड-२०, अंक १, जून १९५४, पृ० २८-४१ ।

जैन, के० सी०—जैनिजम इन राजस्थान, शोलापुर १९६३ ।

जैन, गोकुलचन्द्र—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर १९६७ ।

जैन, ज्योतिप्रसाद—(१) 'देवगढ़ और उसका कला वैभव', जैन एण्टिक्वेरी, खण्ड—२१, अंक १, जून १९५५, पृ० ११—१२ ।

(२) 'दि जैन सोर्सेज ऑव दि हिस्ट्री ऑव ऐंश्येण्ट इण्डिया (१०० बी० सी०—ए० डी० ९००)', दिल्ली १९६४ ।

(३) 'जेनिसिस ऑव जैन लिट्रेचर ऐण्ड दि सरस्वती मूवमेण्ट', संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक ९, जून १९७२, पृ० ३०-३३ ।

जैन, नीरज—(१) 'पतियानदाई मन्दिर की मूर्ति और चौबीस जिन शासन देवियां', अनेकान्त, वर्ष १६, अंक ३, अगस्त १९६३, पृ० ९९-१०३ ।

(२) 'अतिशय क्षेत्र अहार', अनेकान्त, वर्ष १८, अंक ४, अक्टूबर १९६५, पृ० १७७-७९ ।

जैन, प्रेमचन्द—कल्चरल स्टडी ऑव जैन हरिवंशपुराण (हिन्दी—पीएच० डी० थीसिस), सागर विश्वविद्यालय १९७८ ।

जैन, बालचन्द्र—(१) 'महाकौशल का जैन पुरातत्व', अनेकान्त, वर्ष १७, अंक ३, अगस्त १९६६, पृ० २०४-१३ ।

(२) जैन प्रतिमाविज्ञान, जबलपुर १९७४ ।

जैन, भागचन्द्र—देवगढ़ की जैन कला, नई दिल्ली १९७४ ।

जैन, रुक्मिणी—ए कल्चरल स्टडी ऑव हरिवंशपुराण (हिन्दी—पीएच० डी० थीसिस), रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर १९७३ ।

जैन, हीरालाल—(१) जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, सं० माणिकचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला २८, बम्बई १९२८ ।

(२) 'जैनिज्म', दि स्ट्रगल फार एम्पायर, सं० आर० सी० मजूमदार तथा ए० डी० पुसालकर, बम्बई १९६० (पुनर्मुद्रित), पृ० ४२७-३५ ।

(३) भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल १९६२ ।

जैनी, जे० एल०—'सम नोट्स ऑन दि दिगम्बर जैन आइकनोग्राफी', इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड ३२, दिसम्बर १९०४, पृ० ३३०-३३२ ।

जोशी, एन० पी०—(१) प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना १९७७ ।
(२) भारतीय मूर्तिशास्त्र, नागपुर १९७९ ।

झा, शक्तिधर—'हिन्दू डिटीज़ इन दि जैन पुराणाज', डा० शातकारी मुकर्जी फेलिसिटेशन वाल्यूम (सं० बी० पी० सिन्हा आदि), चौखम्भा संस्कृत स्टडीज, खण्ड-६९, वाराणसी १९६९, पृ० ४५८-६५ ।

झा, सिद्धनाथ—ए कल्चरल स्टडी ऑफ आदिपुराण (हिन्दी पीएच० डी० थीसिस), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी १९६५ ।

टॉड, जेम्स—एनल्स ऐण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान, खण्ड-२, लन्दन १९५७ ।

ठाकुर, एस० आर०—कैटलाग ऑव स्कल्पचर्स इन दि आर्कियोलॉजिकल म्यूजियम, ग्वालियर, लश्कर ।

डे, सुधीन—'चौमुख ए सिम्बालिक जैन आर्ट', जैन जर्नल, खण्ड-६, अंक १, जुलाई १९७१, पृ० २७-३० ।

ढाकी, एम० ए०—'सम अर्ली जैन टेम्पुल्स इन वेस्टर्न इण्डिया', महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वाल्यूम, बम्बई १९६८, पृ० २९०-३४७ ।

तिवारी, एम० एन० पी०—(१) जैन प्रतिमाविज्ञान, वाराणसी १९८१ ।
(२) एलिमेण्ट्स ऑफ जैन आइकनोग्राफी, वाराणसी १९८३ ।
(३) खजुराहो का जैन पुरातत्त्व, खजुराहो १९८७
(४) अम्बिका इन जैन आर्ट ऐण्ड लिट्रेचर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली १९८९ ।
(५) 'लाईफ्स ऑव दि जिनज ऐज डिपिक्टेड इन दि कुंभारिया जैन टेम्पुल्स, प्राची प्रभा, बी० एन० मुखर्जी अभिनन्दन ग्रन्थ, नई दिल्ली १९८९ ।
(६) 'इमेजेज ऑव बाहुबली इन एलोरा', एलोरा केव्स-स्कल्पचर्स ऐण्ड आर्किटेक्चर (सं० रतन परिमू), नई दिल्ली १९८८ ।

दीक्षित, एस० के०—ए गाइड टु दि स्टेट म्यूजियम धुबेला (नवगांव), विन्ध्य प्रदेश, नवगांव १९५६ ।

देव, एस०, बी०—हिस्ट्री ऑव जैन मेनिज्म, पूना १९५६

देशपाण्डे, एम० एन०—'कृष्ण लीजेण्ड इन दि जैन कैनानिकल लिट्रेचर', जैन एण्टिक्वेरी, खण्ड-१०, अं० १, जून १९४४, पृ० २५-३१ ।

देसाई, पी० बी०—जैनिज्म इन साउथ इण्डिया ऐण्ड सम जैन एपिग्राफ्स, जीवराज जैन ग्रन्थमाला ६, शोलापुर १९६३।

नाहटा, अगरचन्द—'भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञातव्य', अनेकान्त, वर्ष २०, अंक ५, दिसम्बर १९६७, पृ० २०६-१५।

नाहर, पी० सी०—'जैन इन्स्क्रिप्शन्स', भाग १, जैन विविध साहित्य शास्त्र-माला ८, कलकत्ता १९१८।

परिमू, रतन—(सं०) एलोरा केव्स—स्कल्पचर्स ऐण्ड आर्किटेक्चर, नई दिल्ली १९८८।

पुरी, बी० एन०—दि हिस्ट्री ऑव दि गुर्जर प्रतिहारज, बम्बई १९५७।

पुसालकर, ए० डी०—खण्ड १, दि वैदिक एज, लन्दन १९५०।
खण्ड २, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई १९५१।
खण्ड ३, दि क्लासिकल एज, बम्बई १९५४।
खण्ड ४, दि एज ऑव इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई १९५५।
खण्ड ५, दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, बम्बई १९५७।

प्रमोदचन्द्र—स्टोन स्कल्पचर इन दि इलाहाबाद म्यूजियम, पूना १९७०।

प्रसाद, त्रिवेणी—'जैन प्रतिमाविधान', जैन एण्टीक्वेरी, खण्ड-४, अंक १, जून १९३७, पृ० १६-२३।

प्रसाद, संकठा—'ऐंश्येण्ट जियोग्राफी ऑव इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज ७०० ए० डी०-१२०० ए० डी०' (पीएच० डी० थीसिस), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७३।

प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई १९५६।

बनर्जी, आर० डी०—ईस्टर्न इण्डियन स्कूल ऑव मेडिवल स्कल्पचर, दिल्ली १९३३।

बनर्जी, जे० एन०—दि डेवलपमेण्ट ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, कलकत्ता १९५६।

बनर्जी, प्रियतोष—'ए नोट ऑन दि वर्शिप ऑफ इमेजेज इन जैनिज्म (२०० बी० सी०-२०० ए० डी०)', जर्नल ऑव दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, खण्ड-३६, भाग १-२, १९५०, पृ० ५७-६५।

बर्जेस, जे०—(१) एलोरा केव टेम्पुल्स, आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, खण्ड-५, वाराणसी १९७० (पु० मु०)।
(२) 'दिगम्बर जैन आइकनोग्राफी', इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-३२, १९०३, पृ० ४५९-६४।

बाजपेयी, के० डी०—'मध्य प्रदेश की प्राचीन जैन कला', अनेकान्त, वर्ष १७, अंक ३, अगस्त १९६४, पृ० १२-२९, वर्ष २८, १९७५, पृ० ११५-११६।

बैनर्जीभूषण, जमीला—इण्डियन ज्वेलरी ऑर्नामेन्ट्स ऐण्ड डेकोरेटिव डिज़ाइन्स, बम्बई १९६४ ।

ब्राउन, पर्सी—इण्डियन आर्किटेक्चर बुद्धिस्ट ऐण्ड हिन्दू, बम्बई १९६५ ।

ब्रुन, क्लॉज—(१) 'दि फिगर ऑव दि टू लोअर रिलीफ्स ऑन दि पार्श्वनाथ टेम्पल ऐट खजुराहो', आचार्यश्री विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ (सं० मोतीचन्द्र आदि), बम्बई १९५६, पृ० ७-३५ ।

(२) 'जैन तीर्थंज इन मध्यदेश—दुदही', जैनयुग, वर्ष १, नवम्बर १९५८, पृ० २९-३३ ।

(३) 'जैन तीर्थंज इन मध्यदेश : चांदपुर,' जैनयुग, वर्ष २, अप्रैल १९५९, पृ० ६७-७० ।

(४) दि जिन इमेजेज़ ऑफ देवगढ़, लिडेन १९६९ ।

ब्यूहलर, जी०—ऑन दि इण्डियन सेक्ट ऑव दि जैनज़, लन्दन १९०३ ।

भट्टसाली, नलिनीकान्त—आइकनोग्राफी ऑव बुद्धिस्ट ऐण्ड ब्राह्मनिकल स्कल्पचर्स इन दि ढाका म्यूजियम, ढाका १९२९ ।

भट्टाचार्य, ए० के०—'आइकनोग्राफी ऑव सम माइनर डीटीज इन जैनिज़्म,' इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, खण्ड-२९, अंक ४, दिसम्बर १९५३, पृ० ३३२-३९ ।

भट्टाचार्य, टी० ए०—(१) ए स्टडी ऑन वास्तुविद्या आर कैनन्स ऑफ इण्डियन आर्कीटेक्चर, पटना १९४७ ।

(२) कल्ट ऑफ ब्रह्मा, कलकत्ता १९५७ ।

भट्टाचार्य, बी०—'जैन आइकनोग्राफी', जैनाचार्य श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ (सं० मोहनलाल दलीचन्द देसाई), बम्बई १९३६, पृ० ११४-२१ ।

भट्टाचार्य, बी० सी०—(१) इण्डियन इमेजेज़, कलकत्ता, शिमला १९२१ ।

(२) दि जैन आइकनोग्राफी, दिल्ली, वाराणसी १९७४ (पु० मु०) ।

भट्टाचार्य, बेनायतोष—दि इण्डियन बुद्धिस्ट आइकनोग्राफी, कलकत्ता १९६ . ।

भण्डारकर, डी० आर०—(१) 'जैन आइकनोग्राफी', आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया-एनुअल रिपोर्ट १९०५-६, कलकत्ता १९०८, पृ० १४१-४९ ।

(२) 'दि टेम्पुल्स ऑव ओसियां,' आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, १९०८-९, कलकत्ता १९१२, पृ० १००-१५ ।

मजूमदार, ए० के०—चौलुक्याज ऑव गुजरात, बम्बई १९५६।

मजूमदार, एम० आर०—(१) 'ट्रीटमेण्ट ऑव गौडेस इन जैन ऐण्ड ब्राह्मनिकल पिक्टोरियल आर्ट', जैनयुग, दिसम्बर १९५८, पृ० २२-२९।

(२) कल्चरल हिस्ट्री ऑव गुजरात, बम्बई १९६५।

मालवीय, बद्रीनाथ—श्री विष्णुधर्मोत्तर में मूर्तिकला, प्रयाग १९६०।

मित्रा, देबला—'शासनदेवीज इन दि खण्डगिरि केव्स', जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, खण्ड-१, अंक २, १९५९, पृ० १२७-३३।

मिश्रा, देवी प्रसाद—ए कल्चरल स्टडी ऑव जैन पुराणाज, इलाहाबाद १९८८।

मिश्र, रमानाथ—भारतीय मूर्तिकला, नई दिल्ली १९८१।

मुख्तार, जुगुलकिशोर—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग १, दिल्ली।

मुनिश्री, जयन्तविजय—होली आबू (अनु० यू० पी० शाह), भावनगर १९५४।

मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, वि० सं० २००७।

रामचन्द्रन, टी० एन०—'तिरुपरुत्तिकुणरम ऐण्ड इट्स टेम्पल्स', बुलेटिन ऑफ दि मद्रास, गवर्नमेण्ट म्यूज़ियम, न्यू सिरीज, खण्ड-१, भाग ३, मद्रास १९३४।

रायचौधरी, पी० सी०—जैनीज्म इन बिहार, पटना १९५६।

राव, टी० ए० गोपीनाथ—एलीमेण्ट्स ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी (२ खण्ड), वाराणसी १९७१ (पुनर्मुद्रित)।

रेमण्ड, बी०—हिन्दू मेडिवल स्कल्पचर, पेरिस १९५०।

रोलेण्ड, बेन्जामिन—दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर ऑव इण्डिया (बुद्धिस्ट, हिन्दू, जैन), लन्दन १९५३।

लालवानी, गणेश (सं०)—जैन जर्नल (महावीर जयन्ती स्पेशल नम्बर), खण्ड-३, अंक ४, अप्रैल १९६९।

वोरा, एम० पी० एवं ढाकी, एम० ए०—'दि डेट ऑव अपराजितपृच्छा', जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, अंक १, सं० ४, १९६९-७०।

शर्मा, जे० पी०—जैन यक्षज, मेरठ १९८९,।

शर्मा, दशरथ—राजस्थान थ्रू दि एजेज, खण्ड-१, बीकानेर १९६६।

शर्मा, बी० एन०—जैन प्रतिमाएँ, दिल्ली १९७९।

शर्मा, बृजनारायण—सोशल लाईफ इन नार्दन इण्डिया, दिल्ली १९६६।

शर्मा, मंजु—ए कल्चरल स्टडी ऑव त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ऑव हेमचन्द्र, (पीएच० डी० थीसिस), दिल्ली यूनिवर्सिटी १९८२।

शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन साहित्य का इतिहास, वाराणसी १९६३ ।

शास्त्री, नेमिचन्द्र—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी १९६८ ।

शास्त्री, परमानन्द जैन—'मध्य भारत का जैन पुरातत्व', अनेकान्त, वर्ष १९, अंक १–२, अप्रैल–जून १९६६, पृ० ५४–६९ ।

शाह, यू० पी०—(१) 'आइकनोग्राफी ऑव दि जैन गॉडेस अम्बिका', जर्नल ऑव दि यूनिवर्सिटी ऑव दि बाम्बे, खण्ड–९, १९४०-४१, पृ० १४७–६९ ।

(२) 'गाडेस सरस्वती', जर्नल ऑव दि यूनिवर्सिटी ऑव दि बाम्बे, सितम्बर १९४१, पृ० १९५-२१८ ।

(३) 'आइकनोग्राफी ऑव दि सिक्स्टीन जैन महाविद्याज़', जर्नल ऑव दि सोसायटी ऑव ओरियण्टल आर्ट, खण्ड-१५, १९४७, पृ० ११४-१७७ ।

(४) 'ए यूनिक जैन इमेज ऑव जीवन्तस्वामी', जनरल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खण्ड–१, अंक १, सितम्बर १९५१ (१९५२), पृ० ७२-७९ ।

(५) 'यक्षज वरशिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खण्ड–३, अंक १, सितम्बर १९५३, पृ० ५४-७२ ।

(६) 'बाहुबली : ए यूनीक ब्रोन्ज इन दि म्यूज़ियम', बुलेटिन ऑव दि प्रिंस ऑव वेल्स म्युज़ियम ऑव वेस्टर्न इण्डिया, अंक ४, १९५३-५४, पृ० ३२-३९ ।

(७) 'मोर इमेजेज ऑव जीवन्तस्वामी', जर्नल ऑव दि इण्डियन म्यूजियम, खण्ड–११, १९५५, पृ० ४९-५० ।

(८) स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस १९५५ ।

(९) अकोटा ब्रोन्जेज, बम्बई १९५९ ।

(१०) 'इन्ट्रोडक्शन ऑव शासनदेवताज इन जैन वरशिप', प्रोसीडिंग्स ऐण्ड ट्रांजेक्शन ऑव दि आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, २०वां अधिवेशन, भुवनेश्वर, अक्टूबर १९५९, पूना १९६१, पृ० १४१–५२ ।

(११) 'जैन स्टोरीज इन स्टोन इन दि देलवाड़ा टेम्पुल, माउण्ट आबू', जैनयुग, सितम्बर १९५९, पृ० ३८-४० ।

(१२) 'आइकनोग्राफी ऑव चक्रेश्वरी, दि यक्षी ऑव ऋषभनाथ', जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खण्ड–२०, अंक ३, मार्च १९७१, पृ० २८०–३११ ।

(१३) 'बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकनोग्राफी', संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका, अंक ९, जून १९७२, पृ० १–१४।

(१४) 'यक्षिणी ऑव दि ट्वेन्टी-फोर्थ जिन महावीर', जर्नल ऑफ दि ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खण्ड–२२, अंक १-२, सितम्बर-दिसम्बर १९७२, पृ० ७०–७८।

(१५) 'माइनर जैन डिटीज़', जर्नल ऑव दि ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑव बड़ौदा, खण्ड–३१, अंक ३-४, मार्च-जून १९८२, खण्ड–३२, अंक १-२, सितम्बर-दिसम्बर १९८२, खण्ड–३४, अंक १-२, सितम्बर-दिसम्बर १९८४।

(१६) जैन रूपमण्डन (जैन आइकनोग्राफी), खण्ड–१, दिल्ली १९८७।

शाह, सी० जे०—जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, ८०० बी० सी०–ए० डी० ५२६, लन्दन १९३२।

शिवराममूर्ति, सी०—'जियोग्राफिकल ऐण्ड क्रोनोलाजिकल फैक्टर्स इन इण्डियन आइकनोग्राफी', ऐंश्येण्ट इण्डिया, १९५०, खण्ड–६, पृ० २१-६३।

शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ—(१) प्रतिमा विज्ञान, (भारतीय वास्तुशास्त्र ग्रन्थ ५), लखनऊ, सं० २०१३।

(२) प्रतिमा लक्षणम्, लखनऊ, सं० २०१४।

शुक्ला, डी० एन०—हिन्दू कैनन्स ऑव आइकनोग्राफी ऐण्ड पेण्टिंग, गोरखपुर १९५८।

संकालिया, एच० डी०—(१) 'दि अर्लीएस्ट जैन स्कल्पचर्स इन काठियावाड़', जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, जुलाई १९३८, पृ० ४२६–३०।

(२) 'जैन आइकनोग्राफी', न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, खण्ड–२, १९३९–४०, पृ० ४९७–५२०।

(३) दि आर्कियोलॉजी ऑव गुजरात, बम्बई १९४१।

सरकार, डी० सी०—सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, खण्ड–१, कलकत्ता १९६५।

सहाय, भगवन्त—आइकनोग्राफी ऑव माइनर हिन्दू ऐण्ड बुद्धिस्ट डिटीज, नई दिल्ली १९७५।

सिक्दार, जे० सी०—स्टडीज इन दि भगवतीसूत्र, मुजफ्फरपुर १९६४।

सिंह, अमरेन्द्र—प्राचीन भारत में यक्ष, किन्नर एवं दिक्पाल पूजा, इलाहाबाद १९८९।

सिंह, हरिहर—जैन टेम्पुल्स ऑव वेस्टर्न इण्डिया, वाराणसी १९८२।
सिन्हा, बी० पी०—भारतीय कला को बिहार की देन, पटना १९५०।
सोमपुरा, कान्तिलाल फूलचन्द—(१) दि स्ट्रक्चरल टेम्पुल्स ऑव गुजरात, अहमदाबाद १९६८।
(२) दि आर्किटेक्चरल ट्रीटमेण्ट ऑव दि अजितनाथ टेम्पल ऐट तारंगा, विद्या, खण्ड–१४, अंक २, अगस्त १९७१, पृ० ५०-७७।
सोमपुरा, प्रभाशंकर ओ०—(१) भारतीय शिल्प संहिता, बम्बई १९७५।
(२) दि वास्तुविद्या ऑव विश्वकर्मा, स्टडीज इन इण्डियन टेम्पुल आर्कीटेक्चर, सं० प्रमोदचन्द्र, नई दिल्ली १९७५, पृ० ४७-५६।
स्टिवेन्सन, एस०—दि हार्ट ऑव जैनीज़म, आक्सफोर्ड १९१५।
स्मिथ, वी० ए०—दि जैन स्तूप ऐण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑव मथुरा, वाराणसी १९६९, (पुनर्मुद्रित)
हस्तीमल—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, खण्ड–१, इतिहास समिति प्रकाशन ३, जयपुर १९७१।

●

चित्र-सूची

चित्र संख्या

१. ऋषभनाथ, उरई (जालोन, उ० प्र०), ल० १०वीं-११वीं शती ई०, सम्प्रति राज्य संग्रहालय, लखनऊ (१६.०.१७८) (पृ० ७१)।

२. ऋषभनाथ (गोमुख-चक्रेश्वरी एवं नवग्रहों सहित), खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ल० १०वीं शती ई० सम्प्रति पुरातत्व संग्रहालय, खजुराहो (क्रमांक १६६७) (पृ० ७१)।

३. चन्द्रप्रभ, दुर्जनपुर (विदिशा, म० प्र०), चौथी शती ई०, सम्प्रति विदिशा संग्रहालय (क्रमांक वी० एम० २४६) (पृ० ८१)।

४. चन्द्रप्रभ, कौशाम्बी (इलाहाबाद, उ० प्र०), नवीं शती ई०, सम्प्रति इलाहाबाद संग्रहालय (क्रमांक २९५) (पृ० ८१)।

५. विमलनाथ, सारनाथ (वाराणसी, उ० प्र०), नवीं शती ई०, सम्प्रति सारनाथ संग्रहालय (क्रमांक २३६) (पृ० ८५)।

६. तीर्थंकर, गूढ़मण्डप, पार्श्वनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ११२० ई०।

७. मुनिसुव्रत, पश्चिमी भारत, ११वीं शती ई०, सम्प्रति गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल म्यूज़ियम, जयपुर (पृ० ९२)।

८. नेमिनाथ (बलराम-कृष्ण सहित), मन्दिर २, देवगढ़ (ललितपुर, उ० प्र०), १०वीं शती ई० (पृ० ९६, १४१)।

९. द्वितीर्थी जिनमूर्ति, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई०, सम्प्रति पुरातत्व संग्रहालय, खजुराहो (क्रमांक १६३५)।

१०. जिन चौमुखी, पार्श्वनाथ सहित, मथुरा (उ० प्र०), ल० सातवीं शती ई०, सम्प्रति मथुरा संग्रहालय (क्रमांक बी० ६५) (पृ० ९९)।

११. पार्श्वनाथ, गुफा-४, बादामी (बीजापुर, कर्नाटक), प्रारंभिक सातवीं शती ई० (पृ० ९९, १०२, १५५-५६)।

१२. पार्श्वनाथ, जैन गुफा, अयहोल (बीजापुर, कर्नाटक), ल० ६०० ई० (पृ० ९९, १०२, १५५-५६)।

१३. पार्श्वनाथ (शंबर के उपसर्गों सहित), जैन गुफा सं० ३१, एलोरा

(औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १०१–०२, १५५–५६, १७९)।

१४. पार्श्वनाथ (शंबर के उपसर्गों सहित), जैन गुफा सं० ३२ (इन्द्रसभा), एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १०२, १५५–५६, १७९)।

१५. चित्र संख्या १४ के उपसर्गों का विवरण (पृ० १०२, १५५–५६)।

१६. पार्श्वनाथ (शंबर के उपसर्गों सहित), जैन गुफा सं० ३४, एलोरा, (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १०१–०२, १५६)।

१७. गर्भगृह का प्रवेशद्वार, पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ९५०–७० ई० (पृ० १५५)।

१८. महावीर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ल० ११वीं शती ई०, सम्प्रति पुरातत्व संग्रहालय, खजुराहो (क्रमांक १७३१) (पृ० १०६)।

१९. महावीर (यक्ष-यक्षी सहित), गुफा सं० ४, बादामी, (बीजापुर, कर्नाटक), होयसलकालीन, ल० १२वीं शती ई० (पृ० १०६)।

२०. गर्भगृह प्रवेशद्वार (मांगलिक स्वप्न एवं जैन देवियाँ), आदिनाथ मंदिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई० (पृ० ६३)।

२१. प्रवेशद्वार पर उत्कीर्ण मांगलिक स्वप्न एवं देवियाँ, शांतिनाथ मंदिर परिसर की देवकुलिका, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई० (पृ० ६३)।

२२. २४ तीर्थंकरों के माता-पिता, समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ११वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध (पृ० ६३)।

२३. यक्षी अम्बिका, मेगुटी मंदिर, अयहोल (बीजापुर, कर्नाटक), सातवीं शती ई०, स्थानीय संग्रहालय, अयहोल (पृ० १५४)।

२४. यक्षी अंबिका, दक्षिणी जंघा, पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ल० ९५०–७० ई० (पृ० १५४)।

२५. यक्षी अंबिका, बिहार, ल० १०वीं शती ई०, सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (क्रमांक ६३.९४०) (पृ० १५४)।

२६. जैन सरस्वती, पंचकूट बस्ती, हुम्मच (शिमोगा, कर्नाटक), ल० १०वीं शती ई० (पृ० १७७)।

२७. ब्रह्मशांति यक्ष, रंगमंडप वितान, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोही, राजस्थान), ल० ११५० ई० (पृ० ४९)।

२८. यक्षी अंबिका, तीर्थंकर एवं बाहुबली, जैन गुफा ३२ (इन्द्रसभा), एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), नवीं शती ई० (पृ० १५४)।

२९. जैन युगल (तीर्थंकर के माता-पिता ?), रीवा (म० प्र०), ११वीं शती ई०, धुबेला संग्रहालय (क्रमांक २२) (पृ० ४६)।

३०. भरत चक्रवर्ती, मंदिर-२, देवगढ़ (ललितपुर, उ० प्र०), ल० १०वीं शती ई० (पृ० १२२)।

३१. कृष्ण का कालियमर्दन, देवकुलिका वितान, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोही, राजस्थान), ल० ११५० ई० (पृ० १४१)।

३२. षोडश महाविद्या, रंगमंडप वितान, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोही, राजस्थान), ल० ११५० ई० (पृ० १६१)।

३३. षोडश महाविद्या, शान्तिनाथ मन्दिर, कुम्भारिया (गुजरात), ११वीं शती ई० (पृ० १६१)।

३४. विद्यादेवियाँ (प्रज्ञप्ति, अप्रतिचक्रा, वज्रांकुशा, वज्रशृंखला), समतल वितान, देवकुलिका, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोही, राजस्थान), ल० ११५० ई० (पृ० १६१)।

३५. जैन महाविद्या, पश्चिमी जंघा, आदिनाथ मंदिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई० (पृ० १६४)।

३६. जैन महाविद्या (पुरुषदत्ता एवं अप्रतिचक्रा), उत्तरी जंघा, आदिनाथ मंदिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई० (पृ० १६४)।

३७. ऋषभनाथ के जीवन दृश्य (गोमुख-चक्रेश्वरी सहित), समतल वितान, शांतिनाथ मंदिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई० (पृ० ७२)।

३८. शांतिनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, शांतिनाथ मंदिर, कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई० (पृ० ८९)।

३९. शांतिनाथ एवं नेमिनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, महावीर मंदिर, कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०६२ ई० (पृ० ८९,९६)।

४०. नेमिनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, शांतिनाथ मंदिर, कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई० (पृ० ९६)।

४१. पार्श्वनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, शांतिनाथ मंदिर, कुम्भारिया, (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई० (पृ० १००)।

४२. महावीर के जीवन-दृश्य (उपसर्गों सहित), समतल वितान, महावीर मंदिर, कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०६२ ई० (पृ० १०६)।

४३. महावीर के जीवन-दृश्य (उपसर्गों सहित), समतल वितान, शांतिनाथ मंदिर, कुम्भारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई० (पृ० १०६)।

४४. बाहुबली (गोम्मटेश्वर), गुफा–४, बादामी (बीजापुर, कर्नाटक), प्रारंभिक सातवीं शती ई० (पृ० १८४)।

४५. बाहुबली, जैन गुफा-३२ (इन्द्रसभा), एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १८३-८४)।

४६. बाहुबली, जैन गफा–३२, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १८३-८४)।

४७. बाहुबली, जैन गुफा–३२, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १८३-८४)।

४८. बाहुबली, गुफा–३४, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई० (पृ० १८३)।

४९. गोम्मटेश्वर बाहुबली (५७ फीट), श्रवणबेलगोल (चिकमगलूर, कर्नाटक), ९८३ ई० (पृ० १८०)।

५०. जैन क्षेत्रपाल, मंदिर–१, देवगढ़ (उ० प्र०), ११वीं शती ई० (पृ० ४८)।

●

आभार

चित्र संख्या ८, ३०, ३१, ५० डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी एवं अन्य सभी चित्र अमेरिकन इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज़, वाराणसी के सौजन्य से।

शब्दानुक्रमणिका

अकोटा ७१, १५१, २२४, २५६
अंगविज्जा ३४, ३७, २२५, २२६
अग्नि ४१, ४७, १६८
अजंता २२७
अज्जा ४१
अथर्ववेद १४७
अद्भुत पद्मावती २५
अन्तकृतदशाः ३७
अन्तगडदसाओ ३७, ३८, १४८
अपभ्रंशमहापुराण १
अपराजितपृच्छा ६, १५०
अप्सरा १२, ९८, २११, २४०, २६५
अप्रतिचक्रा ४०
अभिज्ञानशाकुन्तलम् २२१
अमरकोश १९१, २२६, २२९
अम्बिका ७, ३८, ३९, ४८, ६५, ७१, ८९, ९२, ९५, ९६, १००, १०१, १०७, १३१, १४१, १४७, १४९, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १७७, २१२, ३१४, २२१, २२२, २२५, २४०, २५८, २६०, २६४
अमोघवर्ष ४, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५५
अयहोल ४, १४, ४६, १०२, १०६, १७७, १८२, १८४, २५९
अयोध्या ११
अर्धनारीश्वर १७२
अवसर्पिणी १, १२, १७, ३६, ५८, ६०, ६१
अष्टदिक्पाल ६, ७, ४३, ४७, ४९, १७१, २५६
अष्टप्रातिहार्य ३, ५८, ६२, १८०, १८३, १८४, १९८, २५८
अक्षोभ्य ४, १३
आचारदिनकर ४३, ४८, १५०, १७०
आचारांगटीका १८०
आचारांगसूत्र २२५, २२७
आत्मानुशासन २२
आबू ६५, ७८
आवश्यकचूर्णि ४४, १८०
आवश्यकनिर्युक्ति ११, ४४, १८०
आवश्यकभाष्य १८०
इन्द्र ४, ६, ११, १२, १६, २५, ३८, ४१, ४९, ६४, ६६-६९, ७१, ७३, ७६, ७९, ८०, ८२-८४, ८६, ९२, ९४, ९७, ९९, १०३, १०५, १४०, १४७, १४८, १४९, १६७, १६८, १७१, १७४, २५५, २५६, २६१, २६२, २६५
इन्द्राणी ४, १६९, २५५
उत्तरपुराण ४५
उत्तराध्ययनसूत्र ३५, ३७, १४७
उत्सर्पिणी १, १७, ३६
उपसर्ग ३, १७, २२

ऋग्वेद ६६, १४७
ऋतुसंहार २२५
एकनांशा १७८
एलिफेण्टा ७७
एलोरा ३, ४, ५, ७, ९, १४, ४६, ४९, ५०, ६२, ६५, ६९, ७१, ७२, ७५, ७७, ७९, ८१-८७, ८९-९४, ९६, १००, १०१, १०२, १०६, १०७, १२२, १२३, १४०, १५१, १५३, १५४, १५५, १५६, १६१, १६७, १७५, १७६, १७७, १७९, १८३, १८४, २१२, २१८, २२१, २२४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६२, २६४, २६५
ओसियां २७, ४५, ४७, ४८, ४९, ७२, १००, १५१, १७०, १७३, १७६, १७७, १९२, १९३, २५६
औपपातिकसूत्र ६३, १४८
कंकालीटीला १३
कंस १७
कपर्दि यक्ष ६, ४३, ४९, १७२, २५६
कमठ २२
कल्पवासी ५०, १५६
कल्पसूत्र ११, ३४, ३५, ३५–३८, ५९, ६९, ७१, १४९, १७६, १८०
कल्पसूत्रवृत्ति १८०
कहावली ४२, ४३, ४५,
कामदेव १८१, २१२, २६२
कायोत्सर्गमुद्रा १८१, १८२, १८४
काशी ७०, ९६, २२५
कीर्ति ३, १२, १६, ३७, ४१, ५०
कुबेर ४, ४१, ५०, ८९, ९२, ९५, ९६, १००, १०१, १४०, १४८, १५१, १५३, १६७, १६८, १६९, १७३, १७४, १९८, २४०, २५५, २५६, २५८, २६०
कुमारपाल २४
कुमारसंभव २१६, २२१, २२८
कुम्भारिया ७, ८, ९, १४, ३८, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ६३-६५, ७२, ७८, ८३, ८४, ८८, ८९, ९२, ९३, १००, १०१, १०६, १२२, १५६, १६७, १७०, १७३, १७६, १७७, १८२,, १९२, २०१, २२१, २४१, २५६, २५७, २६१, २६३
कुम्हार १९२,
कृष्ण १, ३, ४, ६, ११, २६, ३६, ३७, ४२, ४५, ४६, ४९, ९२-९६, ११९, १२६, १२८, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, २५५, २५६, २५७, २५८
कृष्णचरित १७, ४३
कृष्ण द्वितीय ४, २०, २१, २३, २४ २५५
कोदूकिरिया ४१, १६८
कोणार्क ८१
कौशाम्बी ८१, १२५
क्षेत्रपाल ४३, ४८
खजुराहो ३, ४, ७, ८, १२, १४, २७, ४६, ४७–५०, ६३, ६९,

७१, ७४, ७५, ७७–८१, ९२, ९६, १००, १०६, १५१, १५४, १५५, १५६, १६७, १७०, १७३–१७७, १८०, १८३, १८४, १९२, १९३, २५६, २५९–२६२
खण्डगिरि ४९, २५६
खारवेल २४
गंगा ४, ११, १५, ५०, १६९, १७८, २५५, २५६
गजलक्ष्मी १७६
गन्धर्व ४१, ६९, १६७, १६८, १८२, २६१
गणितसारसंग्रह २३
गणेश ६, ४३, ४८, २५६
गिरनार ४७
गुणशिल ३९
ग्यारसपुर ८, १०१, १०६, १५१
घणेराव ९, ४८,
चउप्पन्नमहापुरिसचरियं १३२, १८०
चक्रवर्ती २, १०, ११,१५, २५, ३६, ४३, २५४, २५५
चक्रेश्वरी ६, ३८, ७१, ७२, १४८, १५१,–१५४, १७७, २१४, २६०
चतुर्विंशतिका ६, ४८, ४९
चतुर्विंशतिजिनचरित ११, ४३, १५०
चतुर्विंशतिस्तव ३५, ४३
चन्द्र ४७
चामुण्डरायपुराण २७, ४२
चित्रकूट १९
चौसठ योगिनी ४३, ४८
चौसा ९१
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ११, १८०
जयधवलाटीका १८, २०, २१, २२
जरासंध १७, २५६
जालोर २७
जिनदत्तचरित्र २२
जिननाथपुर १७७, १९३
जीवाजीवाभिगमसूत्र ६४
ज्योतिष्क देव २५६
ज्वालामालिनीकल्प २४, २५
ज्वालिनी माता २५
तत्त्वार्थसूत्र १४८
तारंगा ९, ४९, १७७, १९२, १९३, २५६
तिलकमञ्जरी २५, २७
तिलोयपण्णत्ति ४२, ४४, ५९, १४९, १५१, २१३, २६०
तिसट्ठि-महापुरिसगुणलंकारु ४२
त्रिलोकप्रज्ञप्ति ११
त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित ४, ५, ६, ९, ११, २४, ३७, ४२, ४३, ४४, ४६, ४७, ४८, ६२, ६९, १३३, १४९, १४३, १७३, १७५, १७७, १७८, १८०, २६०
त्रिशूलगुफा ८१, ८२, ८४, ८५, ८७, ८८, ९०
त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण संग्रह १०
त्रिषष्टिस्मृति ११
दशरथ १६
दशरथ जातक ४२
दिक्कुमारी ५०, २५६, २६२
दिक्पाल २४०
देलवाड़ा ७, ८, ९, २७, ३८, ४५,

४९, १००, १२२, १४१, १५४, १५६, १६७, १७०, १७३, १७६, १७७, १९२, १९३, २४१, २५६, २५७, २५९, २६१, २६२
देवगढ़ ३, ४, ७, १२, १४, ४४, ४६, ५०, ६३, ६९, ७१, ७४, ७५, ७७, ७९, ८०, ८१, ८८, ९६, १००, १०६, १२२, १४१, १५१, १५३, १५४, १५५, १५६, १६७, १७३, १७६, १७७, १८०, १८३, १८४, २१६, २१८, २२२, २५६, २५८, २५९, २६०, २६२
देवतामूर्तिप्रकरण १५०
धरणेन्द्र १३, १४८, १५२
धर्मशर्माभ्युदय २७
धांक १५१
धृति ३, १२, १६, ३७, ४१, ५०,
नरनारायणानन्द २७
नवग्रह ६, ४१, ४३, ४७, ४९, १६८, २५६
नवमुनि गुफा ७४, ७५, ७७
नागदेव ४७, २६२
नाडोल १७०,
नायाधम्मकहाओ ३५, ३७, ४०, ५९, ९१
नारायण २, १०, ११, १५, १६, १७ २५, ३७, १५१, २५४, २५५ २५६
निर्वाणकलिका २, ६, २५, ४३, ४४, ४७, ४८, ६२, १४९,
निशीथचूर्णि १८०
नीलांजना १३, २६५
नैगमेषी ७, ३८, ४२, ४९, १३८, २५६
पउमचरिय १, २, ४, १४, १६, ३४–४२, ४५, ५०, ५९, ६२, ६३, १४८, १४९, १८०, १९०, २३१, २३२, २५४, २६१
पंचकल्याणक १५, ६३, १६९, २५७, २६१
पद्मचरित २७, ४२, ४४
पद्मपुराण १, २, ४, ५, १६, ४२, ४५, १३२, १८०, १९१, १९६, २०३, २१६, २२१, २२५, २३५, २५४
पद्मावती ७, १४८, १५१, १५२, १५३, १५५, १५६, २१४, २१५, २२२, २६०, २६४
पद्मानन्दमहाकाव्य १५०, १५३
पल्लू १७७,
पवाया १४७,
पाटण ४७
पाटलिपुत्र १९२,
पाण्डवचरित ४३
पाण्डवपुराण ४३
पार्वती १६८, १७२
पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति २०
पार्श्वाभ्युदय २१
पासनाहचरिउ ९८
पिण्डनिर्युक्ति १४८
पुराणसारसंग्रह ११, २५६
पुलकेशिन द्वितीय १९२
पूर्णभद्र ३९

पृथ्वीराय २३
९ प्रतिनारायण २, १०, ११, १५, १६, १७, २५, २५६
प्रतिवासुदेव ३६
प्रतिष्ठातिलकम ४३, १५०, १७०
प्रतिष्ठासारसंग्रह २, ६, ४३, ४४, ४७, ४९, ६२, १४९, १५०
प्रतिष्ठासारोद्धार २, ६, २५, ४३, ६२, १७०
प्रबन्धचिन्तामणि ६
प्रभावकचरित ६
प्रवचनसारोद्धार ४४, ५९, १४९
प्रश्नोत्तरमालिका २३
प्रश्नोत्तररत्नमाला २३
प्रज्ञापारमिता १३
बलभद्र २, १०, ११, १६, १७, १५१, २५४, २५५
बलराम ३, ३७, ४२, ४६, ४९, ९२-९४, ११९, १२६, १३७, १४०, १४१, १७५, २५६, २५८, २५९
बहुपुत्रिका ३९, १४८, १४९
बंकापुर १९
बादामी ४, १४, ४६, १०२, १०६, १७७, १८२, १९२, २५८
बारभुजी गुफा ७४, ७५, ७७, ८१-८८, ९०-९२, ९४, १५३
बाहुबली ३, ४, ५, ७, १२, १४, ४३, ४६, ४९, ६८, ७१, १२१, १७४, १७९, १८४, २५६, २५७, २५९, २६२, २६४
बिलहरी ४६, ४९, १८३, २५६, २६२
बुद्धि ३, ११, १२, १६, ३७, ५०
बुलन्दीबाग १९२
बुद्ध ४, १३, ६३, २५५
बृहत्कथाकोष २५
बृहत्कल्पसूत्र भाष्य २२५, २२६, २२७
बृहत्संहिता २२८
ब्रह्म ३, ११, २५, २८, ४९, ५०, ७४, ८३, १४८, १६८, १७४, १७५, २५४, २५५, २५६
ब्रह्मशान्ति यक्ष ६, ७, ४३, ४८, ४९, २५६
ब्रह्मा के विविध नाम १३, १४, ७८
ब्राह्मी १२, १८१, १८२
महावतीसूत्र ९, ३४, ३५, ३७, ३९, ५९, १४८, १७६, २२१, २२७, २३१
भगीरथ ४, १५, २५५
भरत ३, ७, १५, २५ ४३, ४६, ४९, ११९, १२२, १८१, २५५, २५६, २५९
भरत चक्रवर्ती ३६, ४३, १७८, १८०, १८४, २५७, २६२
भरतेश्वराभ्युदकाल ४३
भवनवासी ५०, २६१
भागवत्पुराण ६६, १३९
भैरवपद्मावती कल्प २५
मथुरा ३, ७, १४, ६३, ७१, ९६, १००, १०६, १३८, १३९, १४१, १५१, १५३–२५६, २५८, २६०
मयमत १९०
महापुराण ३७, ४२
महाभारत १, ११, १६, ३६, ४३, ६६, १३९, १४७

महामानसी ४०, २६१
महाविद्या ६, ७, ४०, ४१, ४३, ५०, १५२, १६१
मंत्राधिराजकल्प ४३, १५०
मानसार १९०
मेघदूत २१, २१८, २२४
यक्ष ३९, ४१, ४३, ६५, ७१, ७२, ७६, ७८, ८१-८५, ८७, ८९-९२, ९४-९६, ९८–१००, १०६, १४७, १४९, १५१, १६७, २६१
यक्ष-यक्षी १५०, १८०, १८३, २५६, २५७, २५९–२६१,
यक्षों की सूची ३९, ४४, १४८
यशस्तिलकचम्पू ९, २४, २१६
रघुवंश २१८, २२०, २२
राघवचरित ३७
राजगिर ७, ४९, ७१, ७४, ९२, २५६, २६०
राजघाट २२९
राम १, ४, ६, ११, १६, २६, ३६, ३७, ४०, ४२, ४५, ४६, ९२, ९६, ११९, १२६, १२८, १३२, १३३, १३४, १३७, १७४, १७५, १९१, २५५, २५६, २५९, ७६१
रामकथा ३, १६, ३६, ४२
राम के विविध नाम ३७, ४९
रामायण १, ११, १६, ३६, ४२, १३२–१३३, १४७, २३६
रायपसेणिय ९, ३४
रावण १६, ३६, ४०, ९२, १२८, १३२–१३६, १९१, २५६, २६१
रूपमण्डन ६, १५०
लक्ष्मण १६, २६, ३६, ४०, ४५, ९२, ९३, १२७, १३२–१३७, २५६, २६१
लक्ष्मण के विविध नाम ३७
लक्ष्मी ३, ६, १२, १६, ३७, ४२, ४९, ५०, १६७, १७६, १७७, २५५, २५६, २६१, २६२
लूणवसही ४५, ४६, ६३, ९३, ९६, १२७, १४१, १६१, १९३, २६१, २७३
लोकपाल ४१, १६८, १७०, १७३
लोहानीपुर ६३, १९२
वरुण ४१
वर्धमान पुराण २०, २१
वसुदेवहिण्डी ११, ४०, ४४, ४५, ५९, १३२, १८०
वागार्थसंग्रह १०
वाटग्राम १९
वामन ४, ४९, ५०, २५५, २५६, २६२
वाराणसी ९६
वासुदेव ३६, ३७, ४३, १६८
विजयपहुत्त ४५
विद्याओं की सूची ४०, ४१, २५६
विद्यादेवी ३, ३९, ४०, ४२, ४४, ४५
विद्याधर २५, २६
विद्याधरी ४, १८२, १८४, २१२, २६२
विन्ध्यवासिनी ४, २५५
विमलवसही १४, ४५, ४६, ४९, ६३, ८४–९०, ९२, ९६, १००, १२७, १४१, १७०, १७२,

१७८, १८२, १९३, २०१, २१४, २२२, २३०, २६१, २६३
विविधतीर्थकल्प ६, ४८, ४९
विशेषावश्यक भाष्य ११, १८०
विष्णु ३, ११, १५, ५०, ६६, ७२, ७४, १६८, १७३, १७४, १७५, १७६, २५४, २५५, २५६
विष्णु के विविध नाम १३, १४, १६ ४१, १७५, २५५
विष्णुपुराण ४२,
वैभार पहाड़ी ५०,
वैराग्यशतक २२
व्यन्तरदेव ५०, २५६, २६१
शलाकापुरुष २, ४, ६, १०, १५, ३५, ३६, ४२, ४३, ४९, ९४, ११९, १२७, १५३, १७४, २५४, २५५, २५६, २५९, २६०
शशि ४१
शत्रुंजय पहाड़ी १८२, १९४
शत्रुञ्जयमाहात्म्य ४९
शिव ३, ४, ११, १२, २४, २५, ४१, ५०, ६६, ७२, ७४, १६८, १७१, १७५, २११, २१६, २५४, २५५, २५६, २६३ २६५
शिवके विविध नाम १३, १४, १६, ४१, ६६, १७२, २५५
शूलपाणि यक्ष १०५, १०६
श्रवणबेलगोल १४, १७९, १९३ २५६
श्रवणबेलगोल १४, १७९, १९३, २५६
श्रावस्ती ७५
श्री ३, ११, १२, १६, ३७, ४१, ५०
श्रीमद्भागवत् ६६
श्रुतावतार १७
सनत्कुमारचरित ४३
समराइच्चकहा ९, २५, २१६, २२५
समरांगणसूत्रधार १९०
समवसरण १३, १५, ६२, ६४, १४७ १६९, १७०, १९०, १९७, १९८, २००–२६१, २६२, २६३
समवायांगसूत्र ११, ३४, ३६, ४६ ५९, १८०, १९०,
सरस्वती ३, ६, ७, १८, ३८, ४२ ४९, ५०, १६९, १७७, २५६ २६२
संस्कृत महापुराण १
संहितासार ४५
सहेठ–महेठ ९१
सादड़ी ९
सिद्धार्थ ४, १३
सिंधु ११, १६९, १७८, २५६
सिंधु देवी ५०
सीता १६, १७४
सुग्रीव ४५, २६१
सुन्दरी १२, १८१, १८२
सुभौमचरित ४३,
सूर्य ४, ११, ४७, ५०, १६८, २५५, २५६
सूत्रकृतांगसूत्र ४०
स्तुतिचतुर्विंशतिका ४५,
स्थानांगटीका १८०
स्थानांगसूत्र ३६, ३८, ४०, ४१, १८०

स्वयंबुद्ध ४, १३, १४
हनुमान १६, ४५, १३५, १७४ २५९, २६१
हरिवंशपुराण १, २, ४, ५, ९, १७, १९, २०, ३७, ४३, ४६, ५०, ६२, ६३, ७३, १३९, १४८, १७२, १७३, १७५, १७७ १७८, १८०, १९४, १९६ १९७, २०२, २२७, २३३, २३५, २५४, २६१
हर्षचरित २०३, २१६
हलेबिड १७७, २५६
हस्तिनापुर १३
हिंगलाजगढ़ २३०
हुम्मच १०१, १७७, २५६
ह्री १२, १६, ३७, ४१, ५०
ज्ञातधर्मकथा ११,
ज्ञाताधर्मकथांग ३७

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	४	ग्यारसयुर	ग्यारसपुर
१३	३१	प्रज्ञापारमित	प्रज्ञापारमिता
२६	३	लक्षण	लक्ष्मण
४१	१	झंकरी	शंकरी
४७	२०	निर्मृति	निऋत्ति
४७	०५	चित २३	चित्र २२
४८	०६	चित्र ५१	चित्र ५०
४९	०२	चित २८	चित्र २७
७९	१	पक्षी	यक्षी
१०९		सन्दर्भ	पाद-टिप्पणी
१२२	२३	प्रातिहार्थ	प्रातिहार्य
२३०		पृ० सं० ३३०	२३०
२४१	०७	अकन	अंकन

●

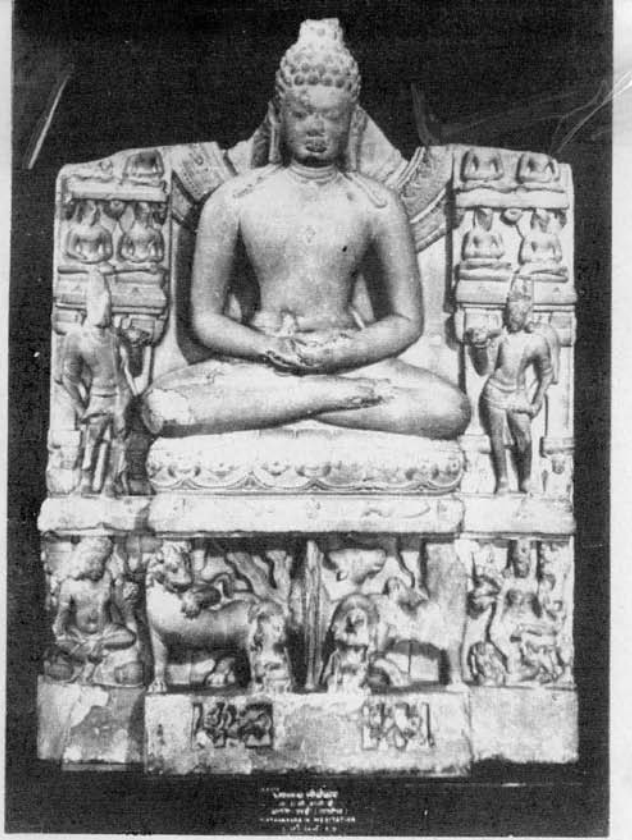

१. ऋषभनाथ, उरई (जालोन, उ० प्र०), ल० १०वीं-११वीं शती ई०

२. ऋषभनाथ (गोमुख-चक्रेश्वरी एवं नवग्रहों सहित), खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ल० १०वीं शती ई०

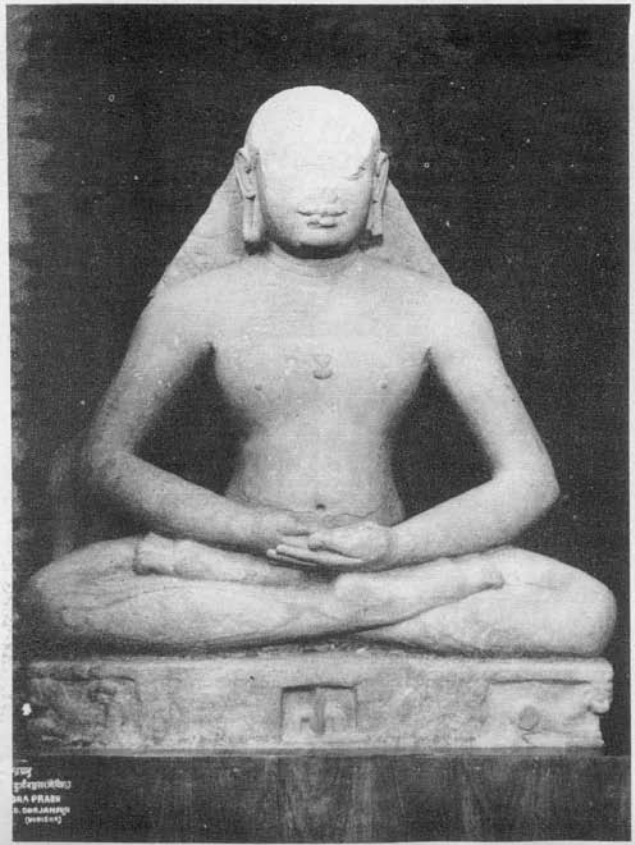

३. चन्द्रप्रभ, दुर्जनपुर (विदिशा, म० प्र०), चौथी शती ई०

४. चन्द्रप्रभ, कौशाम्बी (इलाहाबाद, उ० प्र०), नवीं शती ई०

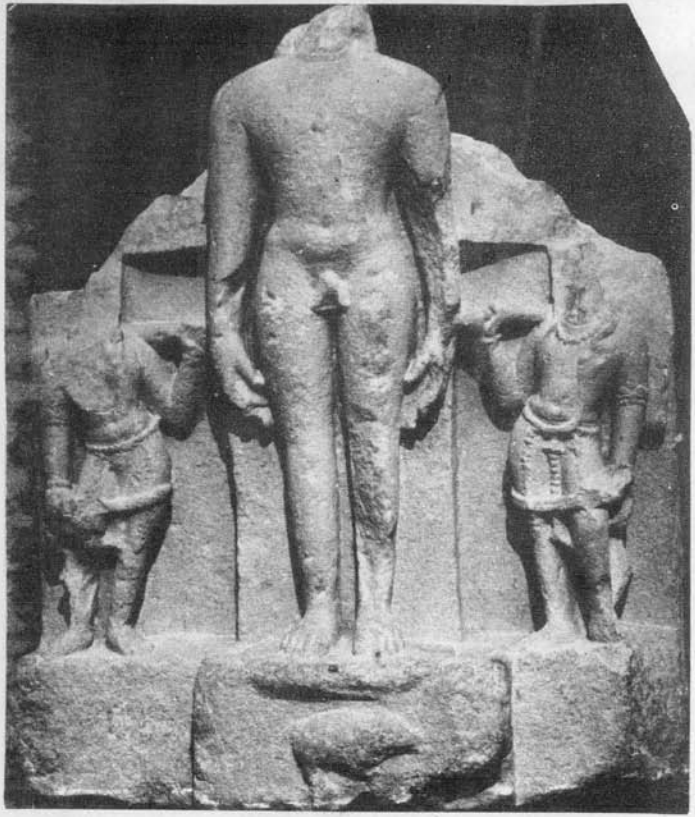

५. विमलनाथ, सारनाथ (वाराणसी, उ० प्र०), नवीं शती ई०

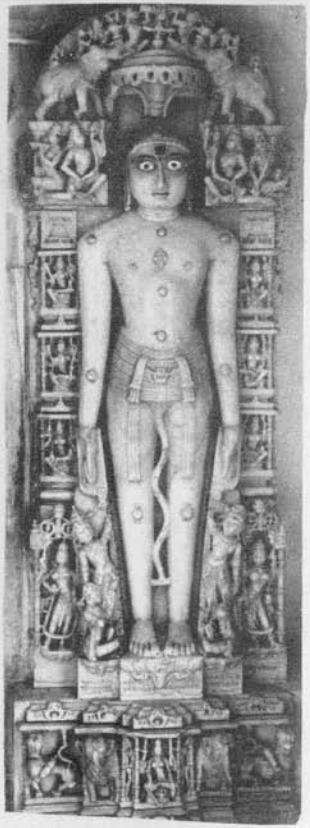

६. तीर्थंकर, गूढ़मण्डप, पार्श्वनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ११२० ई०

७. मुनिसुव्रत, पश्चिमी भारत, ११वीं शती ई०

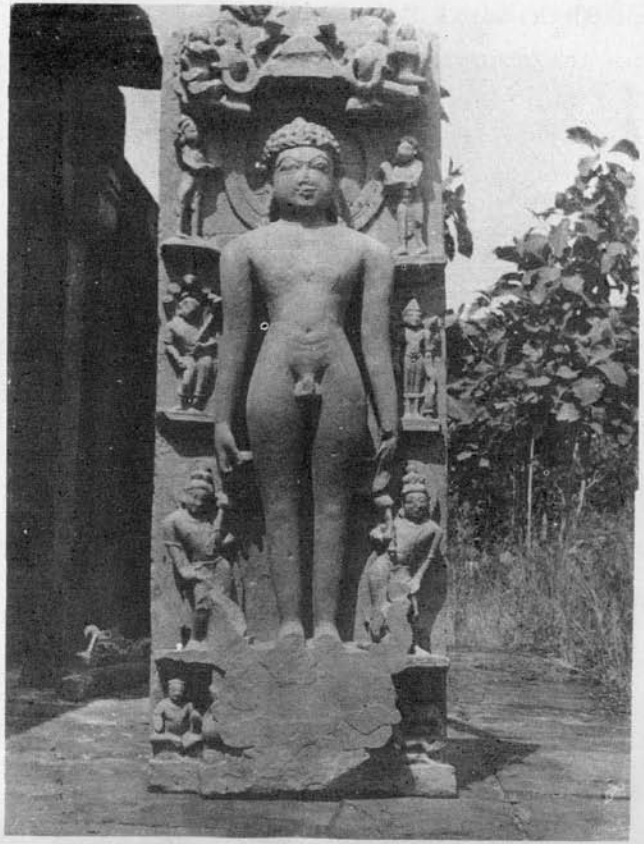

८. नेमिनाथ (बलराम-कृष्ण सहित), मन्दिर-२, देवगढ़ (ललितपुर, यू० पी०), १०वीं शती ई०

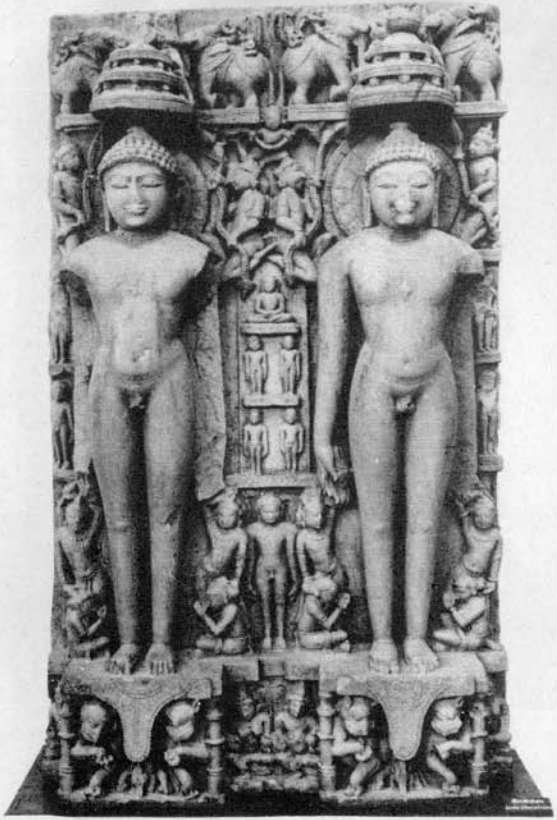

९. द्वितीर्थी जिनमूर्ति, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई०

१०. जिन चौमुखी, पार्श्वनाथ सहित, मथुरा (उ० प्र०), ल० सातवीं शती ई०

११. पार्श्वनाथ, गुफा-४, बादामी (बीजापुर, कर्नाटक), प्रारम्भिक सातवीं शती ई०

१२. पार्श्वनाथ, जैन गुफा, अयहोल (बीजापुर, कर्नाटक), ल० ६०० ई०

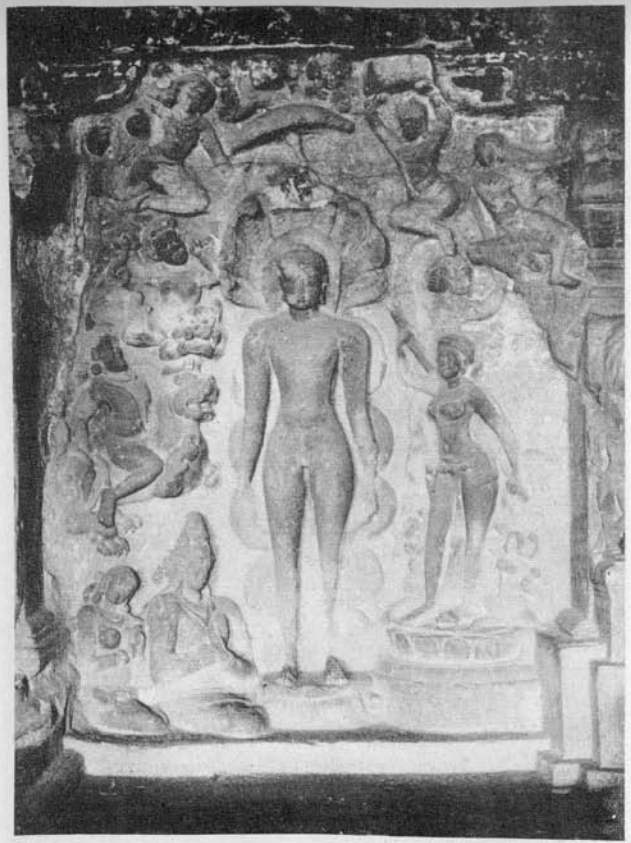

१३. पार्श्वनाथ (शंबर के उपसर्गों सहित), जैन गुफा सं० ३१, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र) ल० नवीं शती ई०

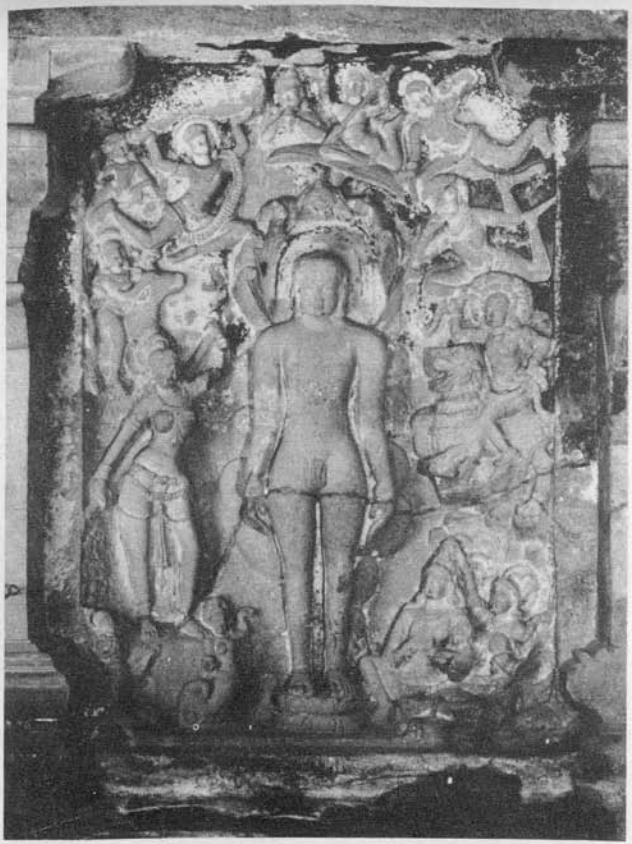

१४. पार्श्वनाथ (शंबर के उपसर्गों सहित), जैन गुफा सं० ३२ (इन्द्रसभा), एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई०

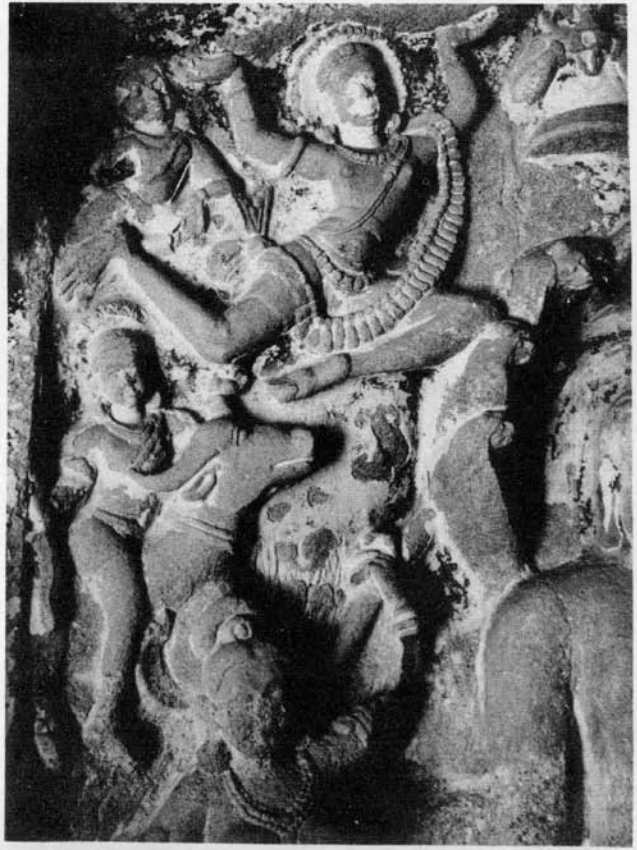

१५. चित्र सं १४ के उपसर्गों का विवरण।

१६. पार्श्वनाथ (शंबर के उपसर्गों सहित), जैन गुफा सं० ३४, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई०

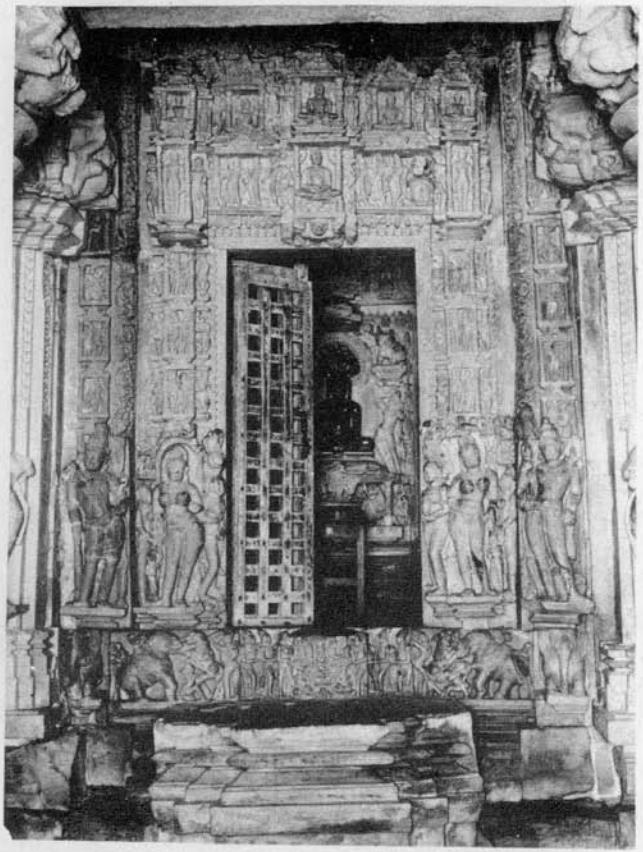

१७. गर्भगृह का प्रवेशद्वार, पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ९५०-७० ई०

१८. महावीर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ल० ११वीं शती ई०

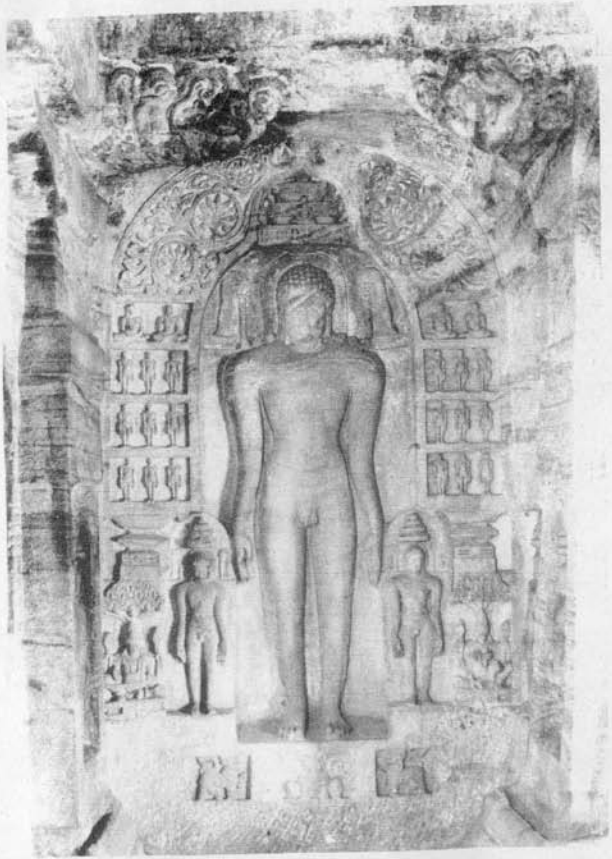

१९. महावीर (यक्ष-यक्षी सहित), गुफा सं० ४, बादामी (बीजापुर, कनाटक), होयसलकालीन ल० १२वीं शती ई०

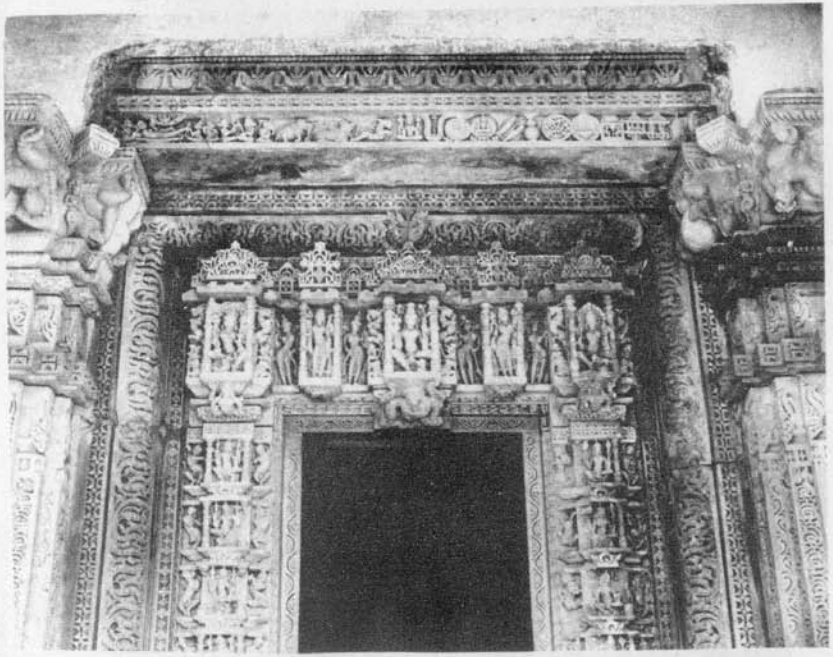

२०. गर्भगृह प्रवेशद्वार (मांगलिक स्वप्न एवं जैन देवियाँ), आदिनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई०

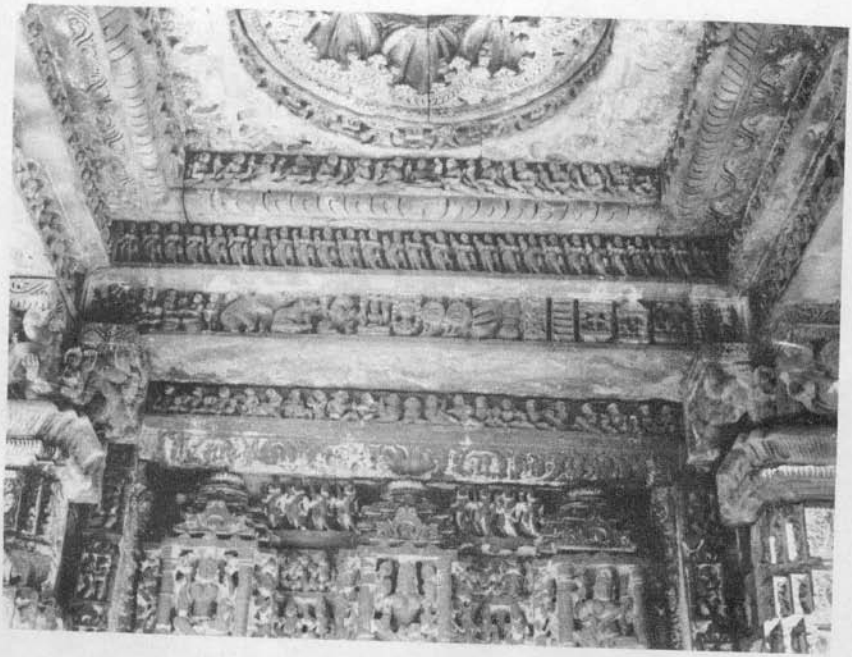

२१. प्रवेशद्वार पर उत्कीर्ण मांगलिक स्वप्न एवं देवियाँ, शांतिनाथ मन्दिर परिसर की देवकुलिका, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई०

२२. २४ तीर्थंकरों के माता-पिता, समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ११वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध

२३. यक्षी अम्बिका, मेगुटी मन्दिर, अयहोल (बीजापुर, कर्नाटक), सातवीं शती ई०

२४. यक्षी अम्बिका, दक्षिणी जंघा, पार्श्वनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०) ल० ९५०-७० ई०

२५. यक्षी अम्बिका, बिहार, ल० १०वीं शती ई०

२६. जैन सरस्वती, पंचकूट बस्ती, हुम्मच (शिमोगा, कर्नाटक), ल० १०वीं शती ई०

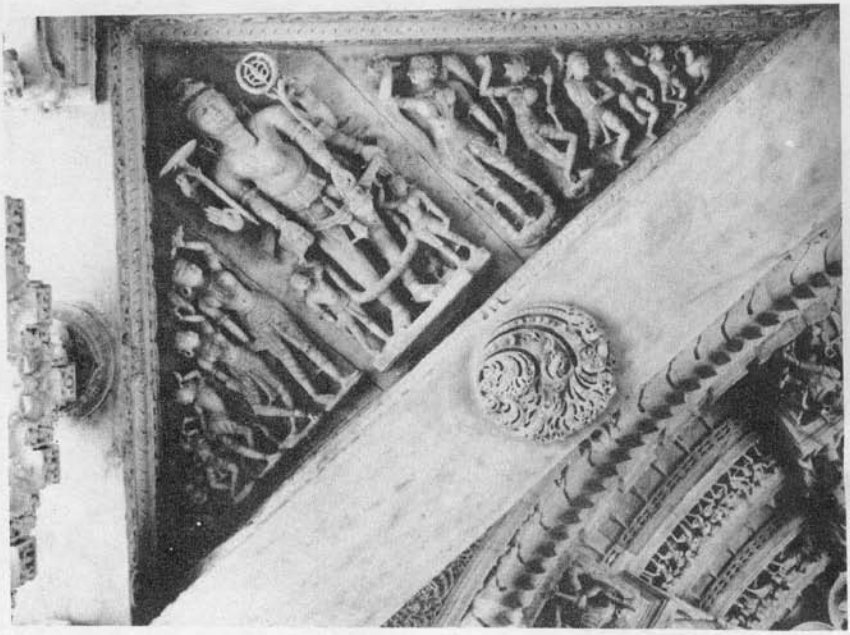

२७. ब्रह्मशान्ति यक्ष, रंगमण्डप वितान, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोही, राजस्थान), ल० ११५० ई०

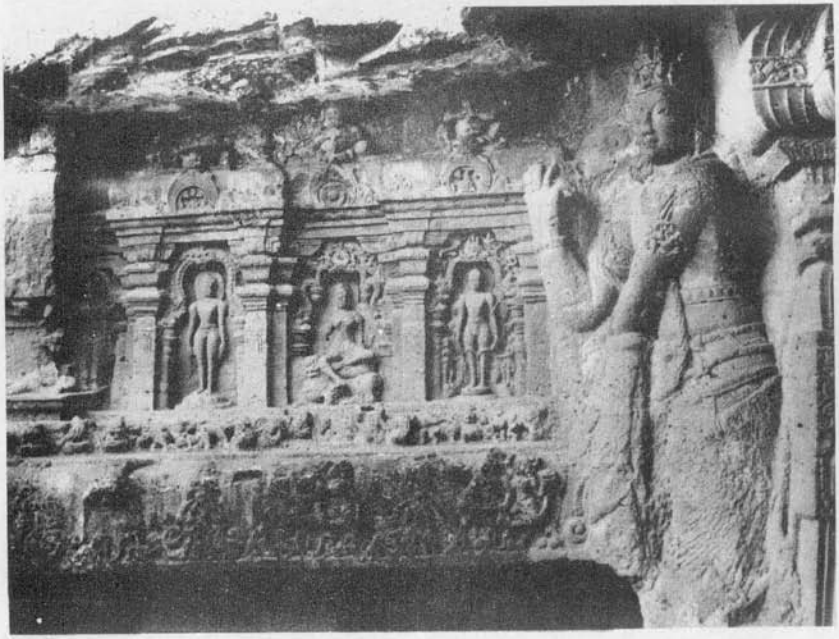

२८. यक्षी अम्बिका, तीर्थंकर एवं बाहुबली, जैन गुफा ३२ (इन्द्रसभा), एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), नवीं शती ई०

२९. जैन युगल (तीर्थंकर के माता-पिता?), रीवा (म० प्र०), ११वीं शती ई०

३०. भरत चक्रवर्ती, मन्दिर-२, देवगढ़ (ललितपुर, उ० प्र०), ल० १०वीं शती ई०

३१. कृष्ण का कालियमर्दन, देवकुलिका वितान, विमलवसही, माऊन्ट आब (सिरोही राजस्थान), ल० ११५० ई०

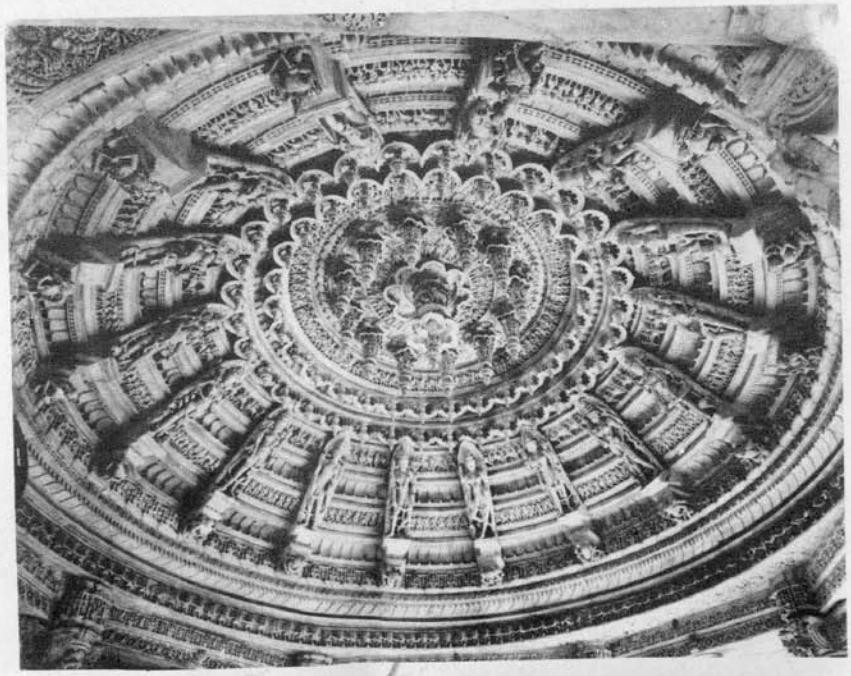

३२. षोडश महाविद्या, रंगमण्डप वितान, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोही, राजस्थान), ल० ११५० ई०

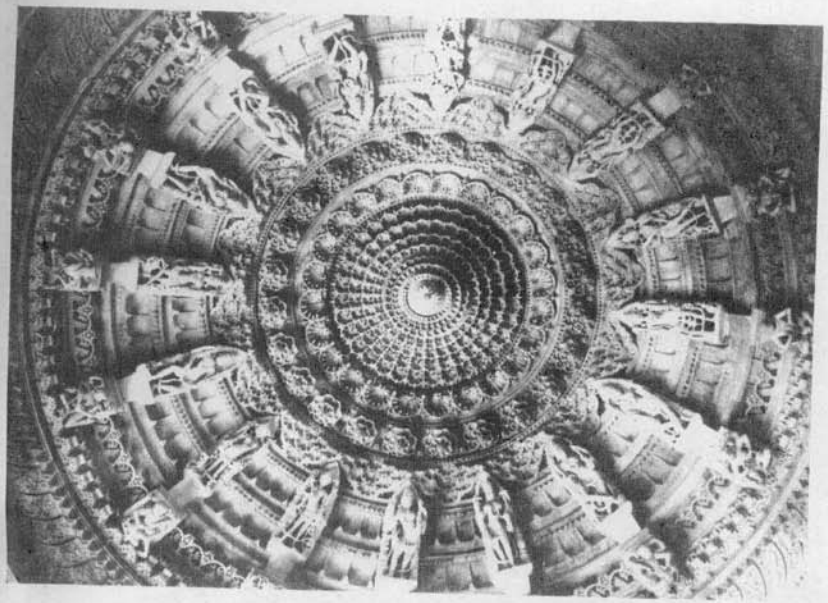

३३. षोडश महाविद्या, शान्तिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (गुजरात), ११ वीं शती ई०

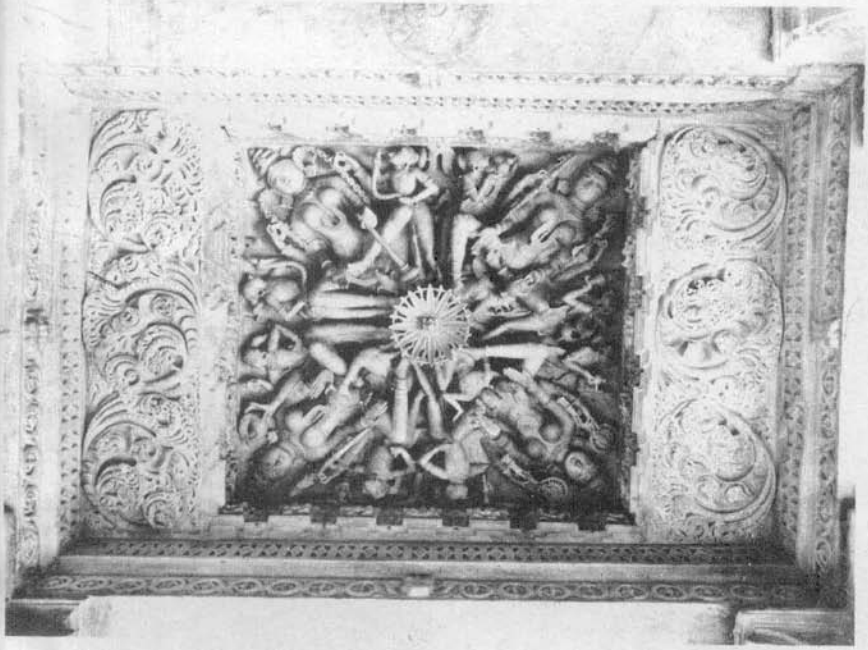

३४. विद्योदवियां (प्रज्ञप्ति, अप्रतिचक्रा, वज्रांकुशा, वज्रशृंखला), समतल वितान, देवकुलिका, विमलवसही, माऊन्ट आबू (सिरोंही, राजस्थान), ल० ११५० ई०

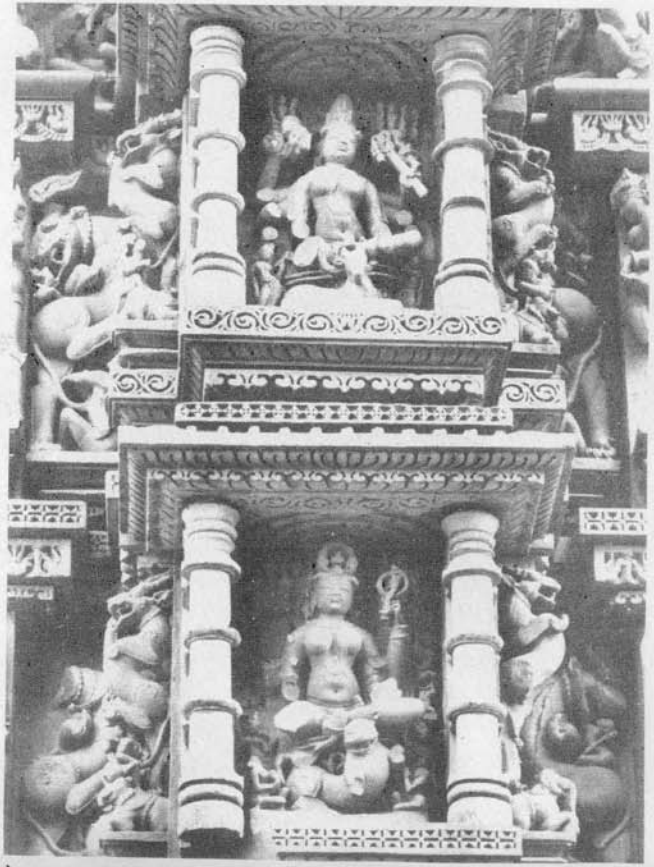

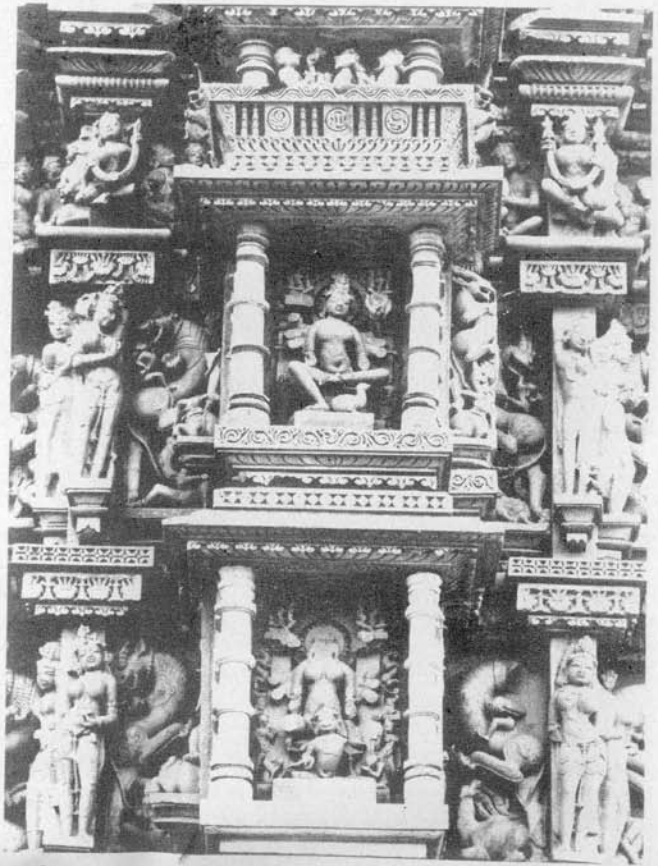

३५. जैन महाविद्या, पश्चिमी जंघा, आदिनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई०

३६. जैन महविद्या (पुरुषदत्ता एवं अप्रतिचक्रा), उत्तरी जंघा, आदिनाथ मन्दिर, खजुराहो (छतरपुर, म० प्र०), ११वीं शती ई०

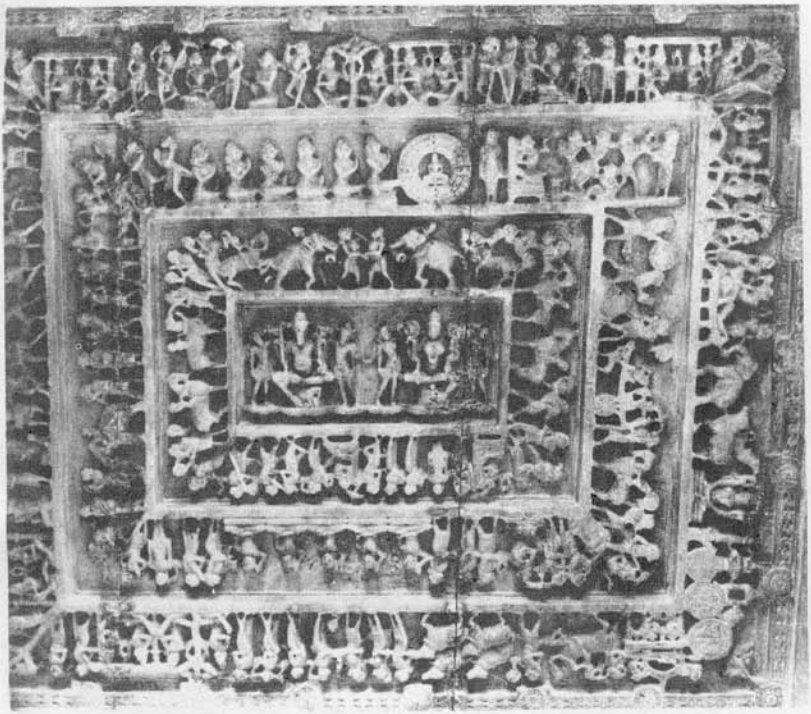

३७. ऋषभनाथ के जीवन-दृश्य (गोमुख-चक्रेश्वरी सहित), समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई०

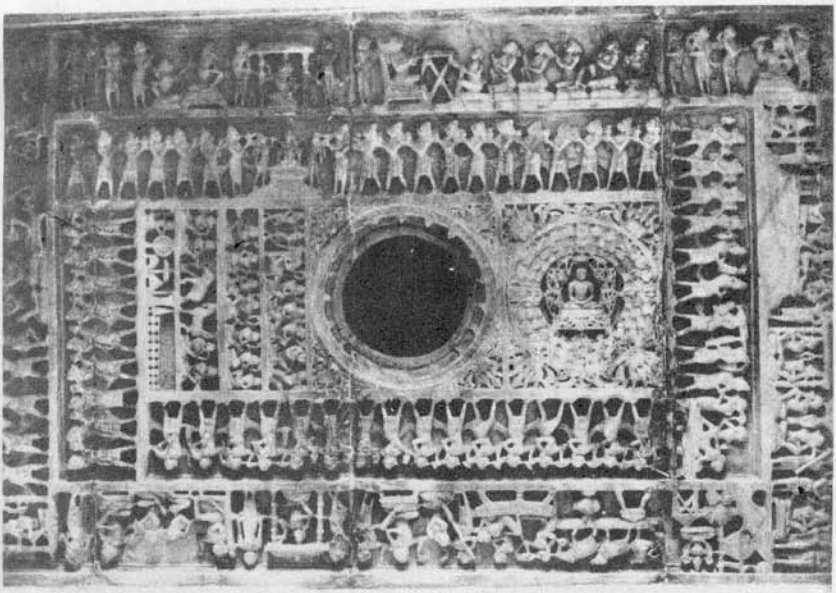

३८. शांतिनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई०

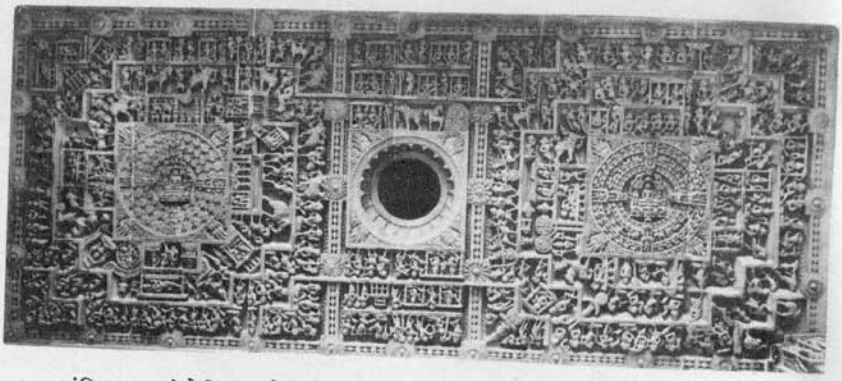

३९. शांतिनाथ एवं नेमिनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, महावीर मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०६२ ई०

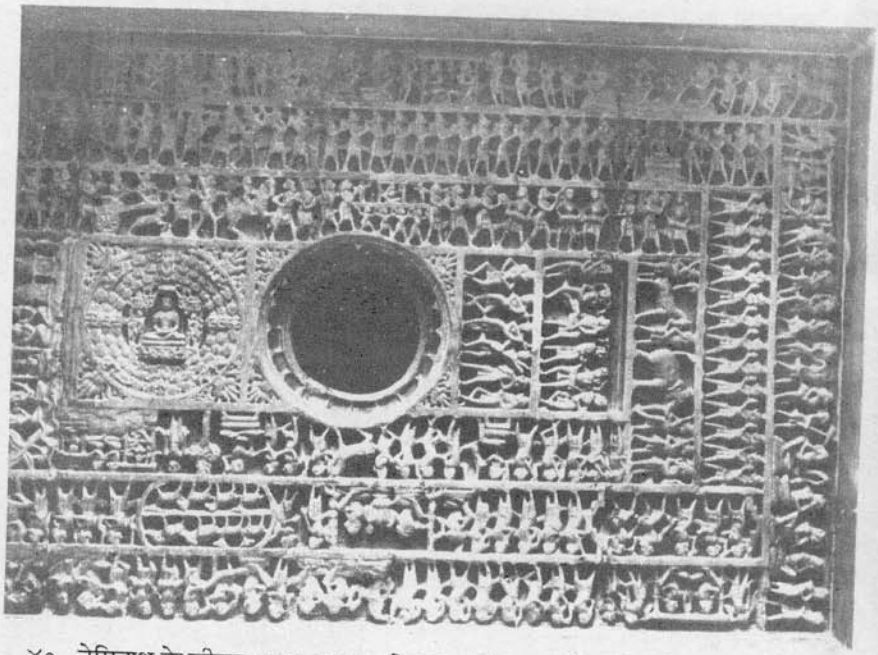

४०. नेमिनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई०.

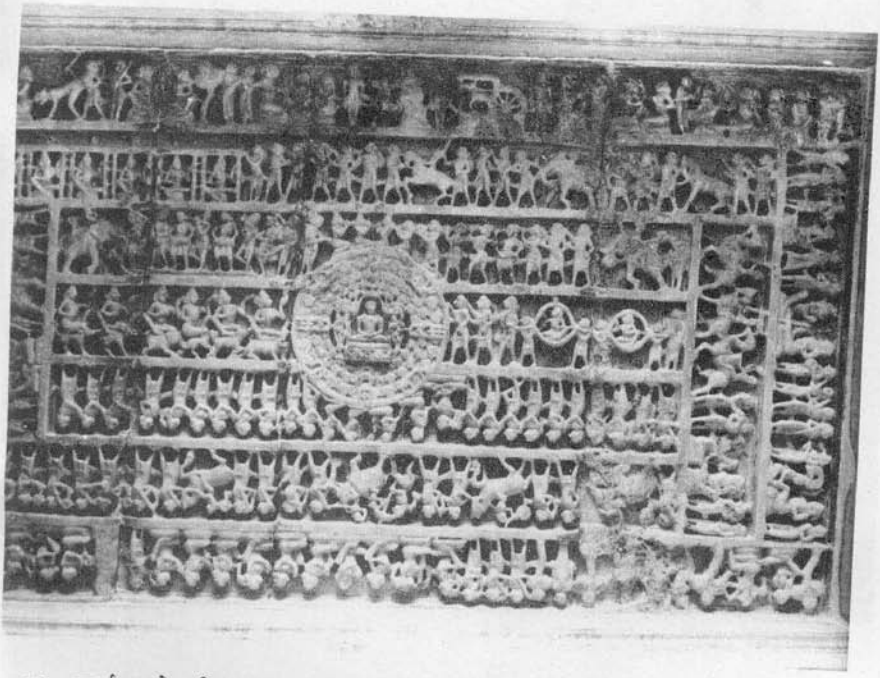

४१. पार्श्वनाथ के जीवन-दृश्य, समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०८४ ई०

४२. महावीर के जीवन-दृश्य (उपसर्गों सहित), समतल वितान, महावीर मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०६२ ई०

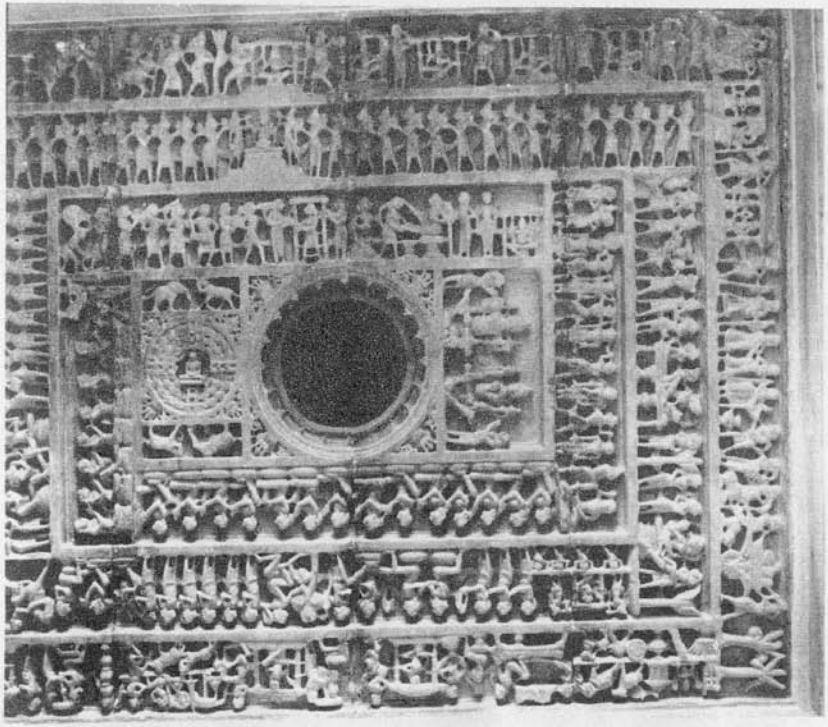

४३. महावीर के जीवन-दृश्य (उपसर्गों सहित), समतल वितान, शांतिनाथ मन्दिर, कुंभारिया (बनासकांठा, गुजरात), ल० १०६२ ई०

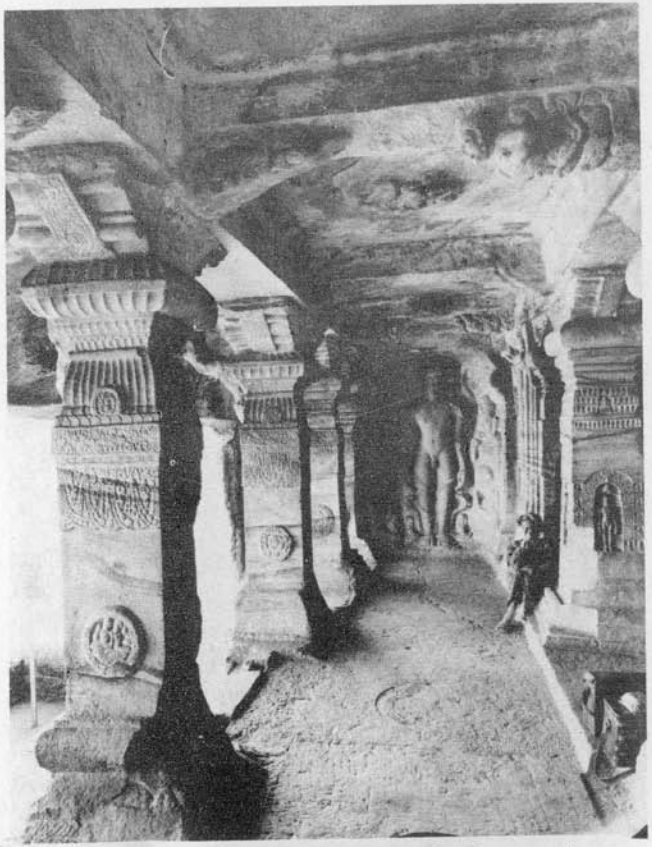

४४. बाहुबली (गोम्मटेश्वर), गुफा-४, बादामी (बीजापुर, कर्नाटक) प्रारम्भिक सातवीं शती ई०

४५. बाहुबली, जैन गुफा-३२ (इन्द्रसभा), एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई०

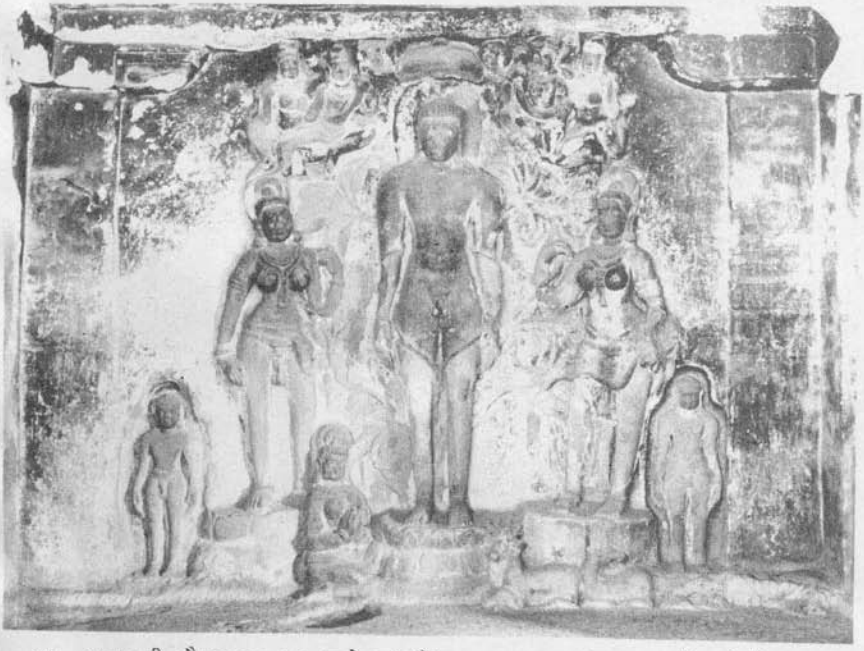

४६. बाहुबली, जैन गुफा-३२, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई०

४७. बाहुबली, गुफा-३४, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई०

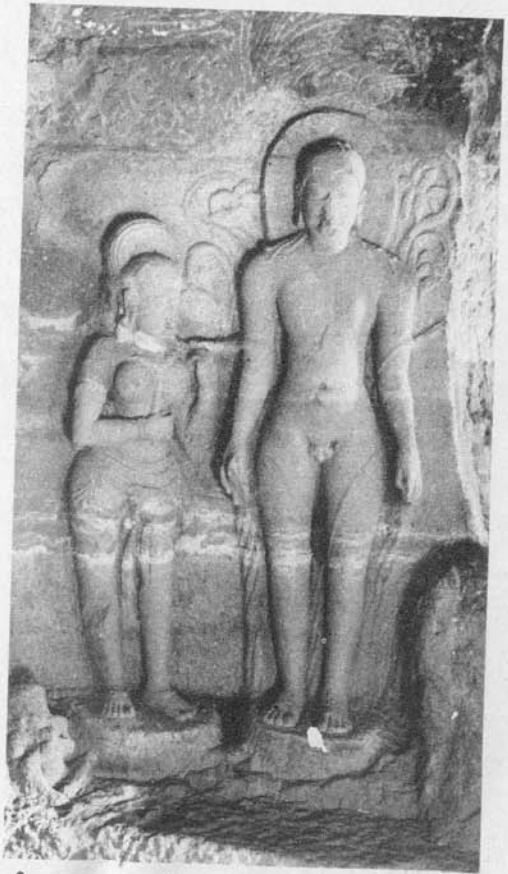

४८. बाहुबली, गुफा-३४, एलोरा (औरंगाबाद, महाराष्ट्र), ल० नवीं शती ई०

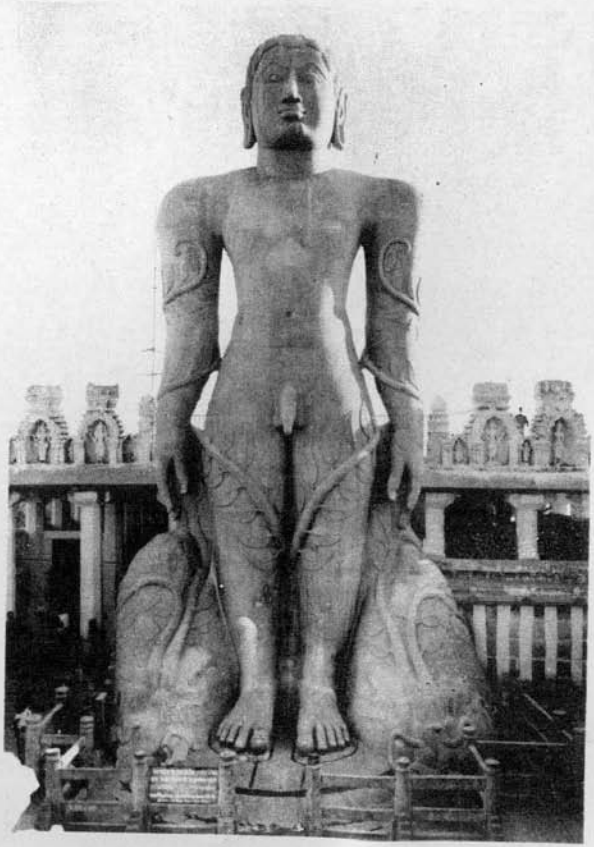

४९. गोम्मटेश्वर बाहुबली (५७ फीट), श्रवणबेलगोल (चिकमगलूर, कर्नाटक), ९८३ ई०

५०. जैन क्षेत्रपाल, मन्दिर-१, देवगढ़ (उ० प्र०), ११वीं शती ई०

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought — Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion — Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 (Complete Set) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana — Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान – डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण – डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित) – पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म – प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश – सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय – डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ – डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म – डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास – डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श – भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती (हिन्दी अनुवाद सहित) – पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन-विद्या भारती भाग १, २ (प्रो० सागरमल जैन के लेखों का संकलन) Rs. 200.00
24. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन – डॉ० फूलचन्द जैन Rs. 80.00
25. स्याद्वाद और सप्तभंगी – डॉ० भिखारी राम यादव Rs.70.00
26. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन – डॉ० शिवप्रसाद Rs. 100.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी - ५